

४३ अहं

विमाणम्-प्रस्तुतिः । प्रस्तुतः २४

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्रीजोरावरमलजी महाराज को पुण्य-स्मृति में आयोजित]

आवश्यकसूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, टिप्पण युक्त]

प्रेरणा □

उपप्रधार्तक शासनसेवी स्व. स्वामी श्री वज्रसालजी महाराज

आद्यसंयोजक तथा प्रधान सम्पादक □

सद० युक्ताधार्य भी मिथीमलजी महाराज 'मधुकर'

अनुवादक—विवेचक—सम्पादक □

सिद्धान्ताचार्य महसती डॉ. सुप्रभा 'सुधा' एम. ए; पीएच. डॉ.

प्रकाशक □

श्री आगम प्रकाशन संस्थिति, अयोधर (राजस्थान)

प्रकाशकीय

श्री जैनागमग्रन्थमाला के २४ वें ग्रन्थ आवश्यकसूत्र का यह द्वितीय संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। आवश्यकसूत्र धर्म-किया से सम्बद्ध है और प्रथम सुमुक्षु साम्राज्य के लिए सदैव उपयोगी एवं आवश्यक है। इस सूत्र का सम्पादन एवं अनुवाद अध्यात्मयोगिनी परमविदुषी महासतीजी श्री उमरावकुंवरजी म. 'अर्चना' की पण्डिता शिष्या हौं, श्री सुप्रभाजी म. 'सुधा' लिहान्ताचार्य, साहित्यरत्न, एम. ए०, पीएच०डी० ने परिश्रमपूर्वक किया है। अतएव हम महासतीजी के इस महत्वपूर्ण योगदान के लिए आभारी हैं।

महासतीजी ने इस ग्रन्थ को सर्वसाधारण के लिए उपयोगी बनाने का पूर्ण रूप से प्रयास किया है। विशिष्ट शब्दों का अर्थ और भावाचार्य देकर अनुवाद को अलंकृत किया है।

साहित्यवाचस्पति विद्वार मुनि श्री देवेन्द्रमुनिजी म. शास्त्री ने प्रस्तुत सूत्र की विशद प्रस्तावना लिख कर इसे अधिक उपयोगी बना दिया है। प्रस्तावना में अपने विस्तार के साथ आवश्यकों के स्वरूप पर प्रकाश ढाला है और विभिन्न धर्मों सम्बन्धी आवश्यककिया की तुलना भी प्रस्तुत की है।

श्री आगम प्रकाशन समिति के माध्यम से आगम ग्रन्थों का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया था। सभी ग्रन्थों के प्रथम संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। जैसे-जैसे ग्रन्थों का प्रकाशन होता गया, वैसे-वैसे पाठकों की संख्या में अनुमान से भी अधिक वृद्धि हुई है अतः प्रथम संस्करण के ग्रन्थों के अनुपलब्ध होते जाने पर भी आगम वस्तीसी के समस्त ग्रन्थों की मांग बढ़ती रही। इसकी पूर्ति के लिए अध्यात्मयोगिनी मालवज्योति साध्वी श्री उमरावकुंवरजी म. 'अर्चना' के निदेशन में द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

निर्णय के अनुसार अप्राप्य होते जा रहे ग्रन्थों को प्रकाशित करने का कार्य चालू है। इसी क्रम में 'आवश्यकसूत्र' का यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

आगमप्रेमी सञ्जन इन आगमों के प्रचार-प्रसार में सहयोग दें, इसी निवेदन के साथ समिति की ओर से हम अपने सभी सहयोगियों का हार्दिक आभार मानते हैं।

रत्नचंद्र मोदी
कार्यवाहक प्रध्यक्ष

सायरमल धोरडिया
महामंत्री

प्रमरचंद्र मोदी
मंत्री

अपनी ओर से.....

[प्रथम संस्करण से]

विराट् किश्व के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं। आचार्यग सूत्र में अमण भगवान् महावीर ने कहा है—

“सत्त्वे पाणा”^१ “सुहसाया दुःखय डिलूला”^२ समस्त प्राणी चाहे वह कीड़ी है या कुंजर, दरिद्रतम मानव है अथवा स्वगारिषिपति इन्द्र, सभी सुख चाहते हैं। दुःख कोई नहीं चाहता। ‘सुखकामानि शूतानि’^३—प्राणिमात्र की कामना है—सुख मिले। लेकिन प्रश्न यह है कि सुख मिले कैसे? वह कोई ऐसा फल तो है नहीं जो किसी बृक्ष पर लटक रहा हो, जिसे तोड़ लिया जाय अथवा कहीं से खरीद लिया जाय। यदि ऐसा होना तो जितने भी धनिक हैं, वे कब के उसे खरीद लेते। किर बेचारे गरीबों को तो सुख नसीब ही नहीं होता। पर ऐसा नहीं है। सुख अपने ही भीतर से प्रकट होता है। आत्मा में ही सुख-दुःख के बीज छिपे हुए हैं। उस सुख को प्राप्त करने के लिए लो किया क्लीनिक है—हरा फिल्म का चिन्हन, मनन करके उसका अमन करना चाहिए। जीवन की वह क्रिया, जिसके अभाव में हम आत्मिक सुखलाभ के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकते, वही आवश्यक कहलाती है। जीवित रहने के लिये जिस प्रकार इवास लेना जरूरी है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में जीवन की पवित्रता के लिए जो क्रिया अथवा साधना जरूरी है, अनिवार्य है उसे ही आगम में ‘आवश्यक’ की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। आवश्यक अर्थात् प्रतिक्रमण आदि आवश्य करणीय कर्त्तव्य।

प्रतिक्रमण का शास्त्रिक अर्थ है—पापों से निवृत्त होना। आत्मा की जो वृत्ति अशुभ हो चुकी है, उस वृत्ति को शुभ स्थिति में लाना प्रतिक्रमण है। अथवा प्रतिक्रमण का अर्थ है—अतीत के जीवन का प्रामाणिकता-पूर्वक सूक्ष्म निरीक्षण। मन की छोटी-बड़ी सभी विकृतियाँ, जो किसी न किसी रूप में पाप की श्रेणी में आती हैं, उनके प्रतिकार के लिए जैन परम्परा में प्रतिक्रमण एक महोशध है। तन की विकृति जैसे रोग है, वैसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मन की विकृतियाँ मन के रोग हैं। इसकी चिकित्सा भी आवश्यक है। तन का रोग अधिक से अधिक एक जन्म तक ही पीड़ा दे सकता है, विन्तु मन का रोग एक बार प्रारम्भ होने के बाद, यदि अवक्ति अराविधान रहा तो हजारों ही नहीं, लाखों जन्मों तक परेशान करता है। भारतीय पौराणिक साहित्य की हजारों जैन, बीड़ एवं दैदिक कथाएँ इसकी साक्षी हैं। अतः प्रतिक्रमण के द्वारा मानसिक विकृतियों का तत्काल परिमार्जन कर लेना परमावश्यक है।

अनुयोगद्वारा में आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम दिये हैं—आवश्यक, आवश्यकरणीय, धूबनिग्रह, विशोधि, अध्यवनष्टकवर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग।^४

१. आचार्यगसूत्र, १।२।३

२. उदान २।३

३. आवश्यक अवस्तकरणिङ्ग, द्रुतनिग्रहो विसोही य।

अवश्यक-शक्तवर्गो, नाओ आराहणा मर्गो ॥

साधु-साध्वी, आवक-आविका के लिए सायंकाल और प्रातःकाल कर्मों की निर्जरा करते के लिए प्रति-अमण परम अनिवार्य है। आवश्यकमूल्य के छह अध्ययन हैं—(१) सामायिक (२) चतुर्विशतिस्तत्व (३) वंदना (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग (६) प्रत्याख्यान।

१. सामायिक

सामायिक की साधना के विषय में भगवान् गौतम स्वामी ने थमण भगवान् महावीर से प्रश्न किया कि—

प्र०—सामाइएण भंते । जीवे कि जणयह ?

उ०—सामाइएण सावज्जजोगविरहं जणयह ॥^१

जीवन को स्पृश करने वाला कितना मार्मिक प्रश्नोत्तर है। जिस आत्मा ने समता के अमृतविन्दु का पान किया है, वह कौन-सा आनन्द प्राप्त करता है? प्रश्न जरा गंभीर लगता है, किन्तु उत्तर में उससे भी अधिक गंभीरता है।

हे गौतम! सामायिक द्वारा आत्मा साक्षयोग की प्रवृत्ति में विरक्त होती है। आत्मा की वृत्ति चिरकाल से अशुभ की तरफ दौड़ रही है। सामायिक की साधना आत्मा को अशुभ वृत्ति से हटाकर शुभ में जोड़तो है और शुभ से शुद्धि को ओर ले जाती है।

जिस प्रकार व्यक्ति पशुओं को जब कीले से बांध देता है, तब उसके भाग जाने का भय नहीं रहता, उसी प्रकार समझाव के साधक अशुभ वृत्ति को सामायिक से बांध देते हैं, फिर विकार की तरफ जाने का भय नहीं रहता है। सामायिक का अर्थ सिर्फ़ शारीरिक क्रिया को रोकना ही नहीं, अपितु अशुभ मानसिक क्रिया को भी रोकना है। सामायिक की मुख्य आधारभूमि मन ही है। जब तक मन में सामायिक नहीं आती, जब तक तन की सामायिक का विशेष महत्व नहीं है। राजषि प्रसन्नचन्द्र का शरीर तो सामायिक में था लेकिन मन किन्हीं और ही विषय भावों से मुक्त था। तन समझाव में था किन्तु मन संहार में प्रवृत्त था। मन की अस्थिरता के योग ने उनको सातवें नरक तक के योग्य बन्धन में बांध लिया, परन्तु जैसे ही तन के साथ मन भी समझाव में प्रवृत्त बना कि सम्पूर्ण कर्मों का अय करके कैवल्य को भी प्राप्त कर लिया।

२. चतुर्विशतिस्तत्व

आवश्यकमूल्य का दूसरा अध्ययन है चतुर्विशतिस्तत्व। आमोचना के क्षेत्र में पहुंचने से पूर्व क्षेत्रशुद्धि होना आवश्यक है। राधक प्रथम समझाव में स्थिर बने, फिर गुणात्मिक महापुरुषों की स्तुति करे। महापुरुषों का गुण-कीर्तन प्रत्येक साधक के लिए प्रेरणा का स्रोत है। मानव-मन जब तक वर्तमान चौबीसी में, जो आध्यात्मिक जीवन के चौबीस सर्वोत्तम कलाकार हो गये हैं, उनका शरण नहीं ले गा तब तक आध्यात्मिक कला सीछ नहीं सकेगा। इस विषय में गणधर गौतम थमण भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं—

प्र०—चतुर्भ्वीसत्यएण भंते । जीवे कि जणयह ?

उ०—चतुर्भ्वीसत्यएण वंसणविसीर्हं जणयह ॥^२

१. उत्तराध्ययन, अ. २९ सूत्र ९

२. उत्तराध्ययनसूत्र अ. २९ सूत्र १०

प्रभो ! चतुर्विंशति-सूत्र का जीवन में क्या स्थान है तथा जीवन में स्तुति-स्तुति का प्रकाश प्राप्त होता है, तब आत्मा कौन-से आध्यात्मिक गुण को प्राप्त करती है ?

हे गौतम ! प्रार्थना का, स्तुति का प्रकाश आत्मा के दर्शन-ज्ञान को विशुद्ध बनाता है। मिथ्यात्व का अधिकार दर्शनगुण की प्रतिभा को नष्ट कर देता है, किन्तु वीतराग की स्तुति मिथ्यात्व से हटाकर साधक को सम्प्रदान की ओर ले जाती है।

३. बन्दना

आद्ययकसूत्र का तीसरा अध्ययन बन्दना है। आलोचना शेष में प्रवेश करते समय गुह्यतिक एवं नम्रता का होना आवश्यक है। शातासूत्र में एक महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तर आया है। जीवन का पारखी सेठ मुदर्शन भूनि यावच्छापुष्ट से प्रश्न करता है कि जैतर्थम् का, जैनदर्शन का मूल क्या है ? — 'कि मूलए धम्मे ?' उस महामहिम अनन्तरार ने क्षमा आदि गुणों को धर्म का मूल न बताकर 'विनय' को ही धर्म का मूल कहा है— 'मुदंसणा ! विनयमूले धम्मे !' विनय जीवनप्राप्ताद की नींव की इंट रूप है। विनय एक वर्णीकरण मंत्र है। विनय से, नम्रता से देवता भी बश में हो जाते हैं तथा शशु, मित्र बन जाता है। इसलिए साधक तीर्थकर की स्तुति के बाद गुरुदेव को बन्दन करते हैं। इस विषय में शिष्य प्रश्न करता है—

प्र०—बन्दणाएँ भृते ! जीवे कि जणयइ ?

उ०—बन्दणाएँ नीवगोदां कस्मै ख्वेइ । उच्चागोदं कस्मं निबन्धइ । सोहमां च च अप्पादिहमं आणाफलं निष्वत्सेइ, बाहुप्रभावे च च जणयइ ॥^१

भगवन् ! बन्दन करते से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?

गौतम ! बन्दना द्वारा आत्मा नीवगोदररूप बंधे हुए कर्म का क्षय करता है और उच्चगोद कर्म की शोधता है तथा ऐसा सौभाग्य प्राप्त करता है कि उसकी आज्ञा निष्फल नहीं जानी है अर्थात् उसकी वाणी में इतना निष्वार आ जाता है कि सभी उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। साथ ही बन्दना से आत्मा को दक्षिण्यभाव अप्त होता है।

४. प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण आद्ययकसूत्र का चतुर्थ अध्ययन है। वर्तों में लगं अतिचारों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण की आवश्यकता है। प्रतिदिन यथासमय यह चिन्तन करना कि आज आत्मा व्रत से अन्त में किनता यथा ? कथाय की उवला कितनी बार प्रज्वलित हुई ? और हुई तो निमित्त क्या वसा ? वह कथाय अनन्तानुबन्धी था कथाय अप्रत्याक्षानी, प्रत्याक्षानी या संज्वलन ? ऋषि के आवेश में जो अवद कहे, वे उचित या अनुचित ? इस प्रकार का सूझा रूप से चिन्तन-मनन करके इसकी शुद्धि करना ही प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण में साधक आपनी भूलों का स्मरण करता है और उसके लिए पश्चात्ताप के अर्भू बहाता है। पाप की कालिमा को नहीं का सैकड़ों मन पानी तहीं धो सकता, किन्तु पश्चात्ताप के अर्भू की दो बूँदें उसे एक मिनट में धो देती हैं। एक विचारक ने कहा है— जो भूल करता है वह मानव है, लेकिन उस भूल पर अहंकार करना राक्षस का काम है। भूल होना स्वाभाविक है, पर भूल पर गौरव अनुभव करना अर्द्धत् भूल की फूल मानकर बैठ जाना सबसे बड़ी भूल है और यही भूल आगे जाकर जीवन में भूल बन जाती है।

१. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २९ सूत्र ११

प्रतिक्रमण क्या है ? आत्मा के साथ इसका क्या सम्बन्ध है ? इस विषय में शिष्य प्रश्न करता है

प्र०—प्रतिक्रमणेण जीवित्वाणि पिहेइ पिहियवय-छिदे पुण जीवे निष्ठास्वे, असाक्षात्कृते बट्टहु

प्रथगमायासु उवजते अपुहुते सुप्पणिहिए निहरइ ॥१

भगवन् ! अतिक्रमण करके आत्मा कौन-से विशिष्ट गुण को प्राप्त करता है ? शिष्य के मन की जिजासा का समाधान करते हुए भगवान् फरमाते हैं—प्रतिक्रमण द्वारा साधक ब्रत के छिद्रों को आच्छादित (बन्द) करता है । द्वारा है तो जल भी जो इच्छान हो जाता है, उसे प्रतिक्रमण के द्वारा दूर करता है । शुद्धताधारी जीव आश्रवों को रोककर, शब्दादि दोष रहित शुद्ध संयम वाला होकर आठ प्रबचनमाताओं में साधान होता है और संयम में तल्लीन रहता हुआ समाधि-पूर्वक अपनी इन्द्रियों को सन्मार्गणामी बनाकर संयम-मार्ग में विचरण करता है ।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पांच प्रकार होते हैं—(१) दैवसिक, (२) रात्रिक, (३) पात्सिक, (४) चातुर्मासिक और (५) सांवत्सरिक ।

१. दैवसिक—दिन के अन्त में किया जाने वाला प्रतिक्रमण दैवसिक है ।

२. रात्रिक—रात्रि के अन्त में किया जाने वाला प्रतिक्रमण अर्थात् रात्रि में लगे हुए दोषों की आलोचना करना ।

३. पात्सिक—पञ्चह दिन के अन्त में पापों की आलोचना करना ।

४. चातुर्मासिक—चार महीने के बाद कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा एवं आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन चार महीने के अन्तर्गत लगे दोषों का प्रतिक्रमण करना ।

५. सांवत्सरिक—आषाढ़ी पूर्णिमा से उत्तराध्यायन से पचासवें दिन वर्ष भर में लगे हुए दोषों की आलोचना करना ।

साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अब्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग, ये पांच दोष माने गए हैं । साधक प्रतिदिन प्रतिक्रमण के समय अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता हुआ यह देखता है कि वह कहीं सम्यक्त्व के प्रशस्त पथ को छोड़कर मिथ्यात्व के कंटीले पथ की तरफ तो नहीं बढ़ रहा है ? ब्रत के वास्तविक स्वरूप को भूलकर अब्रत की ओर तो नहीं जा रहा है ? अप्रसन्नता के शान्त वातीवरण को छोड़कर मन कहीं प्रमाद के तन्तावपूर्ण वातीवरण में तो नहीं फँस रहा है ? अकषाय के सुरभित वाग को छोड़कर क्याय के दुर्गंध से युक्त बाढ़ की ओर तो नहीं गया है ? योगों की प्रवृत्ति शुभ योग को छोड़कर अशुभयोग में तो नहीं लगी ? यदि मैं मिथ्यात्व, अब्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग में गया हूँ, तो मुझे पुनः सम्यक्त्व, ब्रत, अकषायता, अप्रमाद और शुभ योग में प्रवृत्त होना चाहिए ।

प्रतिक्रमण साधकजीवन की एक प्रपूर्व कला है तथा जैन साधना का प्राणतत्त्व है । ऐसी कोई भी शिक्षा नहीं जिसमें प्रमादवश दोष न लग सके । उन दोषों से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिए । प्रतिक्रमण में साधक अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन, निरीक्षण करते हुए इन दोषों से निवृत्त होकर हल्का बनता है ।

१. उत्तराध्यायनसूत्र, अ. २९ सूत्र १२

५. कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग आवश्यकसूत्र का पांचवाँ अध्ययन है तथा र्यारहवाँ तप है। इसका अर्थ है—देह के प्रति समत्व ल्याना। जब तक देह के प्रति समत्वभाव है तब तक साधक जीवन के मैदान में दृढ़तापूर्वक आगे नहीं बढ़ सकता। यतः जैन साधना-पद्धति में कायोत्सर्ग का अद्भुत, भौलिक एवं विलक्षण महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनुयोगद्वार में कायोत्सर्ग को 'दण्चिकित्सा' कहा है। सावधान रहने पर भी प्रमाद आदि के कारण साधना में दोष लग जाते हैं। उन दोष रूपी जर्मों को ठीक करने के लिये कायोत्सर्ग एक मरहम है, जो अतिचार रूपी धर्मों को ठीक कर देता है। संघमी जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिए, प्रायशिचत्त करने के लिये, घपने आपको विशुद्ध बनाने के लिए, आत्मा को माया, मिथ्यात्व और निदान खल्य से मुक्त करने के लिए, पाप कर्मों के निघटन के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

कायोत्सर्ग के विषय में शिष्य प्रश्न करता है—

प्रश्न—काउसमेण भृते ! जीवे कि जणयह ?

उत्तर—काउसमेण तीव्र-एडुप्लनं पायज्ञित्स विसोहेइ, विसुद्धपायज्ञित्स य जीवे निष्पुयहियए ओहरिय भारवहे पसत्थज्ञानोवगए सुहं सुहेण विहरइ ।^१

प्र०—भगवन् ! कायोत्सर्ग से आत्मा क्या फल प्राप्त करता है ?

उ०—कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मा भूतकाल और वर्तमान काल के अतिचारों से विशुद्ध बनता है। अतिचारों से शुद्ध होने के बाद साधक के मन में इतना आनन्द का अनुभव होता है, जितना कि एक मन्दूर के मस्तक पर से बजन हट जाने पर उसे होता है।

६. प्रत्याख्यान

प्रत्याख्यान आवश्यकसूत्र का छठा अध्ययन है। भूतकाल के अतिचारों की आलोचना के बाद साधक प्रायशिचत्त रूप में कायोत्सर्ग करता है और अतीत के दोषों से मुक्त हो जाता है। परन्तु भविष्य के दोषों को रोकने के लिए प्रत्याख्यान करना आवश्यक है। साधक के जीवन में प्रत्याख्यान का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि इस विराट् विश्व में इतने अधिक पदार्थ हैं, जिनकी परिणामना करना भी असंभव है। चाहे कितनी भी लम्बी उम्र क्यों न हो, किर भी एक मनुष्य विश्व की सभी वस्तुओं का उपभोग नहीं कर सकता। लेकिन मानव की इच्छाएं तो आकाश की भाँति अनन्त हैं। एक के बाद दूसरे को भोगने की इच्छा होती है, जिसके कारण मनुष्य के अन्तर्मानस में सदा अतृप्ति एवं अशान्ति बनी रहती है। उस अतृप्ति की आग को बुझाने का एकमात्र उपाय प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान से भविष्य में लगने वाले तत्संबंधी पाप रुक जाते हैं और साधक का जीवन संयम के सुनहरे प्रकाश में जगमगाने लगता है। प्रत्याख्यान से भविष्य में आने वाली भविरति की सभी क्रियाएं रुक जाती हैं और साधक नियमोपनियम का सम्यक् पालन करता है।

प्रत्याख्यान के विषय में कहा गया है—

प्रश्न—पञ्चक्षाणेण भृते ! जीवे कि जणयह ?

उत्तर—पञ्चक्षाणेण आसवदाराहं णिलंभाह, पञ्चक्षाणेण इच्छानिरोहं जणयह । इच्छानिरोह गए य च जीवे सद्बवधेसु विणीयत्थे । सीईभूए विहरइ ॥^२

१. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २९, सूत्र १३

२. उत्तराध्ययन अ. २९, सूत्र. १४

प्र० — भगवन् ! प्रत्याख्यान द्वारा आत्मा किस आत्म-गुण को प्रकट करता है ?

उ० — प्रत्याख्यान द्वारा आत्मा आश्रव के द्वारों को रोक देता है। जब तक आते हुए आश्रवों के द्वारों को नहीं रोकता है, तब तक कर्मों का प्रबाह आत्मा में आता ही रहता है। जब तक किसी वस्तु का प्रत्याख्यान नहीं किया जाता, तब तक तत्संबंधी आसक्ति द्वारा नहीं होती और कर्म-रज आता ही रहता है। प्रत्याख्यान से इच्छाओं का निरोध हो जाता है। क्योंकि इच्छाओं को मर्यादित किये बिना प्रत्याख्यान संभवित नहीं। प्रत्याख्यान का एक बड़ा लाभ यह भी है कि मन की तृष्णा-जन्य स्थिति एवं चंचलता रामात्म हो जाती है और साधक को परम शान्ति का अनुभव होता है।

कुल मिलाकर निष्कर्ष यह है कि पठावश्यक साधक के लिये अवश्यकारणीय क्रिया है। साधक जहाँ थमण हो अधिक आवक, इन क्रियाओं को करता ही है, लेकिन दोनों की अनुभूति में तीव्रना-सन्देता हो सकती है। आवक की अपेक्षा थमण इन क्रियाओं को अधिक तहलीनता से कर सकता है, क्योंकि थमण आरंभ-ममारंभ से सर्वथा विरत होते हैं। यह अवश्य कारणीय क्रिया थमण साधक प्रतिदिन अनिवार्य स्पष्ट रूप से करता है।

यह आवश्यकों का अम बड़े वैज्ञानिक ढंग से निखिल किया गया है। पहला 'भासाधिक' आवश्यक जीवन में समझाव की साधना सिखाता है। 'चतुर्विशतिस्तत्व' द्वारा वह तीर्थोंकर भगवन्तों जैसी वीसराधना अपने अन्दर विकसित करने की भावना करता है। 'वन्दना' के द्वारा वह स्वयं विनष्ट गुण से विमुक्ति होता है। 'प्रतिक्रमण' द्वारा समस्त बाह्य एवं वैभाविक परिणतियों से विरत होकर अन्तर्मुख बनता है, 'कायोत्सर्ग' के द्वारा शरीर की भमता कम की जाती है तथा आत्मभाव में रमण किया जाता है और 'प्रत्याख्यान' में भविष्य के लिए विभिन्न प्रकार के त्याग ग्रहण किए जाते हैं। इस प्रकार साधक पठावश्यक से अपने अध्यात्म-जीवन को जगाता हुआ मुक्ति की राह पर कदम बढ़ाता है।

प्रथम और अन्तिम तोर्थोंकर थमणों के लिये यह अनिवार्य है कि वे नियमतः आवश्यक करें। यदि वे आवश्यक क्रिया नहीं करते हैं तो थमणधर्म से च्यूत हो जाते हैं। यदि दोष लगा है तो भी और दोष नहीं लगा हो तो भी, प्रतिक्रमण अवश्य करना ही चाहिए।^३

थमणसूत्र सम्बन्धी विचारणा

मुमुक्षु प्राणियों की इच्छा पूर्ण करने वाला एक मात्र धर्म ही है और वह विशुद्ध आत्मा में रह सकता है। जिम प्रकार किसान बीज बोने से पहले अपनी जमीन में हल लेता है, खाद डालता है, कंकर-पत्थरों को तथा फालतु घाग-फूस आदि को हटाता है, उसके बाद ही वह खेत में बीज बोता है। उसरे भूमि में बीज बोने से या कंकरीली, पथरीली भूमि में बीज बोने से फसल पौदा नहीं हो सकती। इसी प्रकार हृदय भी एक क्षेत्र है। इसमें धर्मसूत्री बीज बोने से पहले इसकी शुद्धि करनी होती है। कहा भी है—‘धर्मो सुद्धस्म चिह्नै।’ धर्म शुद्ध हृदय में ही लहरता है। आत्मा को विशुद्ध बनाकर धर्म में स्थित करने के लिए कुछ नियम आगमों में निर्दिष्ट हैं। आवश्यक इन्हीं नियमों में से एक मुख्य नियम है। “‘आवश्यक’ जैस साधना का मूल प्राण है तथा अपनी आत्मा को निरधने-गरमने का एक महान् उपाय है। नाभ से स्पष्ट विदित होता है कि इसमें आवश्यकीय विषयों का संग्रह है। साधु, साध्वी, आवक और श्राविका इस चतुर्विधि संघ द्वारा समाचरणीय नित्य

३. सपदिक्रमणों धर्मो, पुरिमस्त य पञ्चमस्त य जिणस्त। मजिभमयाण जिणाण, कारणजाए पडिक्रमण।

—आवश्यकनिर्युक्ति, गा. १२४४

कर्तव्य कर्म का स्वरूप श्रावश्यकसूत्र में प्रतिपादित है। इस सूत्र में जीवनव्यवहार में जिन दोषों की उत्तरति होने की संभावना है, उनका संक्षिप्त कथन, सभी आसानी से समझ सकें ऐसी खूबी से किया है। लेकिन अमण्डल सूत्र के विषय में कुछ विचारणीय है। यथा—

शंका (१) -- अमण्डल नाम साधु का है, इसलिए अमण्डल साधु को ही पढ़ना उचित है या श्रावक को भी?

समाधान (१) अमण्डल साधु का ही नाम है, ऐसा संकुचित अर्थ शास्त्रसम्मत नहीं है। व्याख्याप्रज्ञपति (भगवती) सूत्र २०वें शतक के आठवें उद्देशक में कहा है—'तित्थं पूण चातुर्व्याधिणे रामणसंघे, तं जहा—'समणा, समणीयो, सावगा, सावियाद्यो।' अर्थात् रामण, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, इन चारों को अमण्डल कहते हैं। यद्यपि व्यवहार में अमण्डल साधु का ही नाम है, तथापि भगवान् ने तो चारों तीर्थों को ही अमण्डल के रूप में कहा है। इस आप्तवाच्य को प्रत्येक मुमुक्षु को मानना चाहिए।

शंका (२) अमण्डल सूत्र में साधु के आचार का ही कथन है, इसलिए साधु को ही पढ़ना उचित है। श्रावक के लिए उराका क्या उपयोग है?

समाधान (२) श्रावक कृत अनेक धर्मक्रियाओं में अमण्डल के पाठ परम उपयोगी होते हैं। उदाहरण के लिए (१) जब श्रावक पौष्टिकत भी या संवर में निद्राग्रस्त होते हैं, तब निद्रा में लगे हुए दोषों से निवृत्त होने के लिए प्रथम मार्गशुद्धि (इरियावहिं का पाठ), कायोत्सर्ग (तस्स उत्तरी) का पाठ बोलने के बाद दो लोगस्स के पाठ कायोत्सर्ग करते; प्रकट में एक लोगस्स कहे, इसके बाद अमण्डल का प्रथम पाठ "इच्छामि पद्धिकामिदं पणामसिज्जाए" का पाठ कहना चाहिए। निद्रा के दोषों से निवृत्त होने का अन्य कोई पाठ नहीं है।

(२) एकादशम (खारहृषी) पडिमाधारी ध्वक भिक्षोपजीवी ही होते हैं तथा कई स्थानों पर दयावत के पालन करने वाले (दण्डवेन्नत के धारक) श्रावक भी योन्वरी करते हैं। उम्मेलगे हुए दोषों की निवृत्ति करने के लिए दूसरा पाठ "पद्धिकमामि गोवरमाचरिया" का पाठ कहना पड़ता है।

(३) श्री उत्तराध्ययनसूत्र के २१वें अध्ययन में कहा है—'निर्गंथे पावथमे सावए से विकोलिए' अर्थात् पालित श्रावक निर्गंथप्रवचन (शास्त्र) में कोविद (पण्डित) था, इस पाठ से श्रावक और २२वें अध्ययन में "सीलबन्ता बहुसुया" अर्थात् दीक्षा लेने के समय श्री राजमतीजी बहुत सूत्र पढ़ी हुई थीं, इससे श्राविका शास्त्र की पाठिका सिद्ध होती है। इस प्रकार उन्होंने सामायिक, पौष्टिकत में मुहूर्पत्ति लथा बस्त्र, पूजनी आदि का प्रतिलेखन नहीं किया हो तो उस दोष की निवृत्ति करने के लिए तीसरा पाठ "पद्धिकमामि चउकालं सज्जायस्म अकरणदाए" को कहना चाहिए।

(४) बौधे पाठ में "एक बोल से लगाकर तैरीस बोल तक कहे हैं। वे सब ही ज्ञेय (ज्ञानने योग्य) हैं। कुछ हेय (छोड़ने योग्य) और कुछ उपादेय (खीकारने योग्य) पदार्थों के दर्शक हैं। प्रत्येक कार्य वहे उपयोगी हैं। अतः उनका ज्ञान भी श्रावकों के लिए आवश्यक है।

(५) पांचवां पाठ "निर्गंथ प्रवचन" (भग्नो चउब्बीसाए) का है, जिसमें जिन प्रवचन (शास्त्र) की एवं जैनमत की महिमा है तथा आठ बोलों में हेय-उपादेय का कथन है। वह भी श्रावकों के लिए परमोपयोगी है। इस प्रकार अमण्डल सूत्र में एक भी विषय या पाठ ऐसा नहीं है जो कि श्रावक के लिए अनुपयोगी हो।

शंका (३) -- श्रावक की तरह रामण को भी श्रावकसूत्र प्रतिक्रमण में कहना चाहिए, क्योंकि उसमें भी ज्ञेय, हेय, उपादेय आदि तीनों प्रकार के पदार्थों का कथन है।

समाधान (३)—श्रावक के ब्रतों और अतिकारों को एक साथ कहना श्रावकसूत्र है। लेकिन यह विषय बड़ा विचारणीय है। (१) साधु महाब्रतों में श्रावक के अणुब्रतों का समावेश हो जाता है, इसलिए साधु को श्रावकों के ब्रत कहने की प्रावश्यकता नहीं है। (२) श्रावक को तो साधु होने का मनोरथ अवश्य करना चाहिए, अतः श्रमणसूत्र कहने की प्रावश्यकता है, परन्तु यदि कहें कि साधु भी श्रावक होने की भावना करे और श्रावक सूत्र को प्रतिक्रमण में कहे तो यह कथन सर्वथा अयोग्य ही होगा।

रंका (४)—श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे या करते हैं, इसका कोई प्रमाण है क्या?

समाधान (४)—द्वादश वाखिका महाबुष्काल से धर्मस्खलित जैनों के पुनरुद्धारक श्रावकवरिष्ठ श्री लोकाशाह गुजरात देश के अहमदाबाद शहर में हुए। उस देश में अर्थात् गुजरात, झालावाड़, काटियावाड़, कच्छ आदि देशों में छह कोटि एवं आठ कोटि लोक सभी श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे एवं करते हैं। सनातन जैन साधुमार्गी समाज के पुनरुद्धारक परमपूज्य श्री लवजीश्विजी महाराज के तृतीय पाट पर विराजित हुए परम पूज्य श्री कहानजीश्विजी महाराज की सम्प्रदाय के श्रावक श्रमणसूत्र बोलते हैं।

बाईस सम्प्रदाय के मूलाचार्य परम पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज की सम्प्रदाय के श्रावक एवं मेवाड़ देश-धर्मप्रवर्त्तक पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज की सम्प्रदाय के श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते हैं।

उपर्युक्त शंका-समाधान से सिद्ध होता है कि श्रावक को श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करना चाहिए। श्रमणसूत्र के पाठों के बिना श्रावक की क्रिया पूरी तरह शुद्ध नहीं हो सकती है। क्योंकि श्रावकों को अवश्य जानने योग्य विषय और आचरण करने योग्य विषय श्रावकसूत्र में हैं। प्राचीनकाल के श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे, वर्तमान में भी कुछ श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते हैं और जो श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण नहीं करते हैं, उन्हें अब करना चाहिए।

प्रस्तुत संस्करण

आवश्यकसूत्र का प्रस्तुत संस्करण आगम प्रकाशन समिति द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। इस समिति की आयोजना हमारे स्वर्गीय गुरुदेव पूज्य युवाचार्य श्री 'मधुकार' मुनिजी महाराज द्वारा की गई थी। गुरुदेव का यह विचार था कि मूल आगमों का प्रकाशन ऐसी पद्धति से किया जाए जिससे सर्वसाधारण आगमप्रेमी जनों को भी उनका स्वाभ्याय कर सकना सरल हो। यह कोई सामान्य संकल्प नहीं था। एक भगीरथ अनुष्ठान था, मगर महान् संकल्प के धनी गुरुदेव ने इसे कार्य रूप में परिणत किया और आपके निर्देशन में अनेक आगमों का प्रकाशन हो भी गया। किन्तु दुःख का विषय यह है कि गुरुदेव दीच में ही स्वर्ग सिधार गए। तत्पश्चात् भी अनेक मुनिवरों और उदार सद्गुहस्थों के महस्त्वाग्रण सहयोग से गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट प्रकाशन-कार्य अप्रसर हो रहा है। अब यह प्रकाशनकार्य गुरुदेव युवाचार्यश्री के प्रति एक प्रकार से अद्वावज्ज्ञलि-स्वरूप ही समझना चाहिए।

आवश्यकसूत्र के सम्पादन में हमारी गुरुणीजी म. आच्यात्मयोगिनी, प्रशस्तवात्सत्यमूर्ति, सुमधुरभाषणी, परमविदुषी पूज्य श्री उमरावकुंवरजी म. सा. ने मेरा पथ-प्रदर्शन किया है। तपोमूर्ति श्री उमरेदकुंवर म. तथा अन्य साठवी-मण्डल का सहयोग प्राप्त हुआ है। उपाध्याय कविवर्म श्री अमरमुनिजी म. आदि द्वारा सम्पादित संस्करणों का भी इसमें यथास्थान उपयोग किया गया है। इन सभी के सहयोग के लिए मैं अतीव आभारी हूँ।

साहित्यवाचस्पति श्री देवेन्द्रमुनिजी म. ने विस्तृत प्रस्तावना लिख कर इस संस्करण को विभूषित किया है। उनके प्रति आभारी होना स्वाभाविक है।

पूरी सावधानी बरतने के बावजूद अगर कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो उदार पाठक हमें श्वश्य सूचना दें, जिससे अगले संस्करण में उसका परिमार्जन किया जा सके।

—साध्वी सुप्रभा 'तुषा'

प्रस्तावना

आवश्यकसूत्रः एक समीक्षात्मक अध्ययन

[प्रथम संस्करण से]

भारतीय साहित्य में 'आगम' शब्द शास्त्र का पर्यायवाची है। आवश्यकचूणिकार ने आगम शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है—जिसके द्वारा पदार्थों का अवबोध होता है, वह आगम है।^१ अनुयोगद्वारचूणि में लिखा है—जो आत्मवचन है, वह आगम है।^२ अनुयोगद्वार मलधारीय टीका में आचार्य ने आगम शब्द पर चिन्ता करते हुए गृह विषय प्रश्न के जवाब से लिखा है—जो गुरुपरम्परा से आता है, वह आगम है।^३ आचार्य वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—जिस शास्त्र के अनुशीलन से अभ्युदय एवं निष्ठेयस् का उपाय अवगत हो, वह आगम है। अभिनव-गुप्ताचार्य के अभिमतानुसार जिसके पठन से सर्वीरिण बोध प्राप्त हो, वह आगम है।^४ इसी प्रकार आचार्य विनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में शास्त्र की परिभाषा देते हुए लिखा है—जिसके द्वारा व्याख्यात सत्य रूप ज्ञेय का, आत्मा का परिबोध हो और अनुशासन किया जा सके, वह शास्त्र है।^५ आगम और शास्त्र के ही अर्थ में सूत्र शब्द का भी प्रयोग होता है। संधदासगणी ने बृहत्कल्पभाष्य में सूत्र शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—जिसके अनुसरण से कर्मों का सरण/अपनयन होता है, वह सूत्र है।^६ विशेषावश्यकभाष्य में निरुत्त-विधि से अर्थ करते हुए लिखा है—जो अर्थ का सिचन/शरण करता है, वह सूत्र है।^७ आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में लिखा है—जिससे अर्थ सूत्रित/गुम्फित किया जाता है, वह सूत्र है।^८ बृहत्कल्पटीका में लिखा है—सूत्र का अनुसरण करने से अष्टप्रकार की कर्म-रज का अपनयन होता है, अतः वह सूत्र कहा जाता है।^९

जैन साधना का आण : आवश्यक

जैन आगमसाहित्य में आवश्यकसूत्र का अपना विशिष्ट स्थान है। अनुयोगद्वारचूणि में आवश्यक की परिभाषा करते हुए लिखा है—जो गुणशूल्य आत्मा को प्रशास्त भावों से आवासित करता है, वह आवासक/आवश्यक है।^{१०} अनुयोगद्वार मलधारीय टीका में लिखा है, जो समस्त गुणों का निवासस्थान है, वह आवासक/

-
१. ऊर्जाति अत्था जेण सो आगमो । —आवश्यकचूणि १।३६
 २. अत्तस्त वा वयणं आगमो । —अनुयोगद्वारचूणि, पृष्ठ १६
 ३. गुरुपारम्पर्येणागच्छतीत्यागमः । —अनुयोगद्वार मलधारीय टीका, पृ. २०२
 ४. आसमन्तात् अर्थं गमयति इति आगमः ।
 ५. सासज्जिति तेण तद्विवादात् वा नेयमायंतो सत्यं ।
 ६. अनुसरद चित् सुत्तं । —बृहत्कल्प भाष्य, ३।१
 ७. सिचति खरद जमत्थं तम्हा सुत्तं निरुत्तविहिणा । —वि. भा. १।३६८
 ८. सूत्यन्ते अनेनेति सूत्रम् । —स्थानांगवृत्ति, पृष्ठ ४९
 ९. सूत्रमनुसरन् रजः—अष्टप्रकारं कर्म अपनयति ततः सरणात् सूत्रम् । —बृहत्कल्पटीका, पृष्ठ ९५
 १०. सुष्णमप्पाणं तं पसत्यभावेहि आवासेतीति आवासं । —अनुयोगद्वारचूणि, पृ. १४

आवश्यक सूत्र है।^१ दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि जो प्रणस्त गुणों से आत्मा को सम्पन्न करता है, वह आवासक/आवश्यक जैन साधना का प्राण है। वह जीवनशुद्धि और दोषपरिमार्जन का जीवन्त धार्य है। साधक चाहे साक्षर हो, चाहे निरक्षर हो, चाहे सामान्य जिज्ञासु हो या प्रतापपूर्ण प्रतिभा का धनी कोई मूर्खन्य मनीषी, सभी साधकों के लिए आवश्यक का ज्ञान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। आवश्यकसूत्र के परिज्ञान से साधक शृणनी आत्मा को निरुचित है, परम्परा है; जैसे जैदिक परम्परा में सत्याकर्म है, बौद्ध परम्परा में उपासना है, पारसियों में खोर देह अवेस्ता है, यहूदी और ईसाईयों में प्रार्थना है, इस्लाम धर्म में नमाज है, वैसे ही जैतर्धमें में दोषों की विशुद्धि के लिए और गुणों की अभिवृद्धि के लिए आवश्यक है।

आवश्यक जैन साधना का मुख्य अंग है। वह आध्यात्मिक समस्ता, नम्रता, प्रभृति सद्गुणों का आधार है। अन्तर्दृष्टिसम्पन्न साधक का लक्ष्य बाह्य पदार्थ नहीं, आत्मशोधन है। जिस साधना और आराधना से आत्म शाश्वत सुख का अनुभव करे, कर्म-मल को नष्ट कर सम्यग्दर्जन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से अध्यात्म के आलोक को प्राप्त करे, वह आवश्यक है। अपनी भूलों को निहार कर उन भूलों के परिष्कार के लिए कुछ न कुछ किया करना आवश्यक है। आवश्यक का विद्यान श्रमण हो या श्रमणी हो, श्रावक हो या श्राविका हो—सभी के लिए है।^२ अनुयोगद्वारसूत्र में आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम दिए हैं—आवश्यक, आवश्यकरणीय, अनुयोगद्वार, विशेषज्ञ, अध्ययनषट्कवर्ग, व्याय, आराधना और मार्ग। इन नामों से किंचित् अर्थभेद होने पर भी सभी नाम समान अर्थ को ही व्यक्त करते हैं।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के श्रमणों के लिए यह नियम है कि वे अनिवार्य रूप से आवश्यक करें। यदि श्रमण और श्रमणियों आवश्यक नहीं करते हैं तो श्रमणधर्म से च्युत हो जाते हैं। यदि जीवन में दोष की कालिमा लगी है तो भी और नहीं लगी है तो भी आवश्यक श्रद्धय करना चाहिए। आवश्यकनियुक्ति में स्पष्ट रूप से लिखा है कि प्रथम और चरम तीर्थंकरों के शासन में प्रतिक्रमण सहित धर्म प्रलिपित किया गया है।^३ श्रावकों के लिए भी आवश्यक की जानकारी आवश्यक मानी गई है। यही कारण है कि श्वेताम्बर परम्परा में श्रावकों के धार्मिक अध्ययन का प्रारम्भ आवश्यकसूत्र से ही कराया जाता है।

आवश्यकसूत्र के छह अंग हैं—

१. सामाधिक—समभाव की साधना,
२. चतुर्विशतिस्ताव—चौबीस तीर्थंकर देवों की स्तुति,
३. वन्दन—सद्गुरुओं को नमस्कार, उनकी गुणगान,
४. प्रतिक्रमण—दोषों की आलोचना,
५. कायोत्सर्ग—शरीर के प्रति ममत्व का त्याग,
६. प्रत्याख्यान—आहार आदि का त्याग।

अनुयोगद्वार में इनके नाम इस प्रकार दिए गये हैं—१. सावद्य योगविरति (सूमाधिक), २. चत्कीर्तन

-
१. समग्रस्थापि गुणग्रामस्यावासकमित्यावासकम् । —अनुयोगद्वार मलधारीय ठीका, पृष्ठ २८
 २. समणेण सावएण य, अवस्तु कायच्चर्यं हवइ जम्हा । —आवश्यकवृत्ति, गाथा २, पृष्ठ ५३
 ३. अन्ते अहो-निस्स्त य, तम्हा आवस्यं नाम ॥ । —आवश्यकवृत्ति, गाथा २, पृष्ठ ५३
 ४. सप्तिन्द्रिकमणो धम्मो, पुरिमस्त य पञ्चमस्त य जियर्स । —आवश्यकनियुक्ति, गाथा १२४४

(चतुर्विशतिसूत्र), ३. गुणवत्प्रतिपत्ति (गुह-उपासना अथवा बन्दना), ४. स्खलितनिन्दना (प्रतिक्रमण -- पिछले पापों की आलोचना), ५. ब्रणचिकित्सा (कायोत्सर्ग—ध्यान-शरीर से समत्व-स्थापन) और ६. गुणधारण (प्रत्याख्यान—भागे के लिए स्थापन, नियमभ्रहण आदि)।

जानिसार में आचार्य ने आवश्यकक्रिया का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है— आवश्यकक्रिया पहले से प्राप्त भावविशुद्धि से आत्मा को गिरने नहीं देती। गुणों की वृद्धि के लिए और प्राप्त गुणों को स्खलित न होने के लिए आवश्यक क्रिया का आचरण बहुत उपयोगी है। आवश्यकक्रिया के आचरण से जीवन का उत्तरोत्तर विकास होता है। उसके जीवन में सद्गुणों का सगर ठाठे मारने लगता है।

आवश्यक में जो साधना का क्रम रखा गया है, वह कार्य-कारण भाव की शृंखला पर आवस्थित है तथा पूर्ण वैज्ञानिक है। साधक के लिए सर्वप्रथम समता को प्राप्त करना आवश्यक है। बिना समता को अपनाये सद्गुणों के सरस सुभन खिलते नहीं और अबगुणों के काटे भड़ते नहीं। जब अन्तर्हृदय में विषमभाव की ज्वाज्ञाएं धधक रही हों तब वीतरामी महापुरुषों के गुणों का उत्कीर्तन किस प्रकार किया जा सकता है? समत्व को जीवन में धारण करने वाला व्यक्ति ही महापुरुषों के गुणों का संकीर्तन करता है और उनके उदास गुणों को जीवन में उतारता है। इसीलिए सामायिक आवश्यक के पश्चात् चतुर्विशतिसूत्र आवश्यक रखा गया है। जब गुणों को व्यक्ति हृदय में धारण करता है, तभी उसका सिर महापुरुषों के चरणों में झुकता है। भक्तिभावना से विभोर होकर वह उन्हें बन्दन करता है, इसीलिए तृतीय आवश्यक बन्दन है। बन्दन करते वाले साधक का हृदय सरल होता है, खुली पुस्तक की तरह उसके जीवन-पृष्ठों को प्रत्येक व्यक्ति पढ़ सकता है। सरल व्यक्ति ही कृत दोषों की आलोचना करता है, अतः बन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण आवश्यक का निरूपण है। भूलों को स्मरण कर उन भूलों से मुक्ति पाने के लिए तन एवं मन में स्थैर्य आवश्यक है। कायोत्सर्ग में तन और मन की एकाग्रता की जाती है और स्थिर दृष्टि का अभ्यास किया जाता है। जब तन और मन स्थिर होता है, तभी प्रत्याख्यान किया जा सकता है। मन ढाँचाडोल स्थिति में हो, तब प्रत्याख्यान सम्भव नहीं है। इसीलिए प्रत्याख्यान आवश्यक का स्थान छठा रखा गया है। इस प्रकार यह षडावश्यक आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण और आत्मोत्करण का शेषतम उपाय है।

अनुथोगद्वार सूत्र में आवश्यक के दो विभाग प्राप्त हैं—द्रव्य-आवश्यक और भाव-आवश्यक।^१ द्रव्य-आवश्यक में बिना चिन्तन, अभ्यमनस्त्व भाव से पाठों का केवल उच्चारण किया जाता है। जो पाठ बोला जा रहा है— उस पाठ में मन न लगकर इधर-उधर भटकता रहता है। द्रव्य-आवश्यक में केवल बाह्य क्रिया चलती है, उपयोग के अभाव से उस क्रिया से आन्तरिक तेज प्रकट नहीं होता। वह प्राणरहित साधना है। भाव-आवश्यक में साधक उपयोग के साथ क्रिया करता है। उस क्रिया के साथ उसका मन, उसका ध्यान, उसका तन पूर्ण रूप से एकाग्र होता है। वह एकलय और एकतानता के साथ साधना करता है। जब द्रव्य-आवश्यक के साथ भाव-आवश्यक का सुमेल होता है तो द्रव्य-आवश्यक एक तेजस्वी आवश्यक बन जाता है। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने भाव-आवश्यक को अत्यधिक महत्व दिया है। भाव-आवश्यक लोकोत्तर साधना है और उस साधना का फल मोक्ष है।

१. जं ण इमे सगणो वा समणी वा सावग्रो वा सविया वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदञ्जवसिए, तत्तिव्व-जक्कवसाणे, तदद्वौवउत्ते, तदप्पियथकरणे, तब्भावणाभाविए, अन्तर्थ कत्थई मणं शकरेमाणे उभग्रोकालं आवस्तयं करेति से तं लोगुत्तरियं भावावस्तयं।

सामायिक आवश्यक

प्रडावश्यक में सामायिक का प्रथम स्थान है। वह जैन आचार का सार है। सामायिक अमण और श्रावक दोनों के लिये आवश्यक है। जितने भी श्रावक हैं वे जब साधना का मार्ग स्वीकार करते हैं तो सर्वप्रथम सामायिकचारित्र को ग्रहण करते हैं। चारित्र के पांच प्रकार हैं। उनमें सामायिकचारित्र प्रथम है। सामायिक-चारित्र चौबीस ही तीर्थकरों के शासन-काल में रहा है, पर अन्य चार चारित्र अवस्थित नहीं हैं। अमणों वे लिये सामायिक प्रथम चारित्र हैं, तो गृहस्थ साधकों के लिये सामायिक चार शिक्षाद्वारों में प्रथम शिक्षाद्वार है। जैन आचारदर्शन का भव्य प्रासाद सामायिक की सुदृढ़ नींव पर आधृत है। समत्ववृत्ति की साधना किसी व्यक्ति-विशेष या वर्गविशेष की धरोहर नहीं है। वह सभी साधकों के लिए है और जो समत्ववृत्ति की साधना करता है वह जैन है। आचार्य हरिभद्र ने तो स्पष्ट स्पष्ट से कहा है कि साधक चाहे श्वेताम्बर हो, चाहे दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी मत का हो, जो भी समझाव में स्थित होगा वह निःसंदेह मोक्ष को प्राप्त करेगा।^१ एक व्यक्ति प्रतिदिन एक लाख स्वर्ण मुद्राओं का उदारतापूर्वक दान करता है, दूसरा व्यक्ति समत्वयोग की साधना करता है; इन दोनों में महान् कौन है? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए तत्त्वदर्शी मनीषियों ने कहा - जो समत्वयोग — सामायिक की साधना करता है, वह महान् है।^२ करोड़ों वर्षों तक तपश्चरण की निरन्तर साधना करने वाला जिन कर्मों को नष्ट नहीं कर पाता, उनकी समझावी साधक कुछ ही क्षणों में नष्ट कर लेता है।^३ कोई भी साधक जिन कर्मों के मुक्त नहीं हुआ है और न होगा ही। अतीत काल में जो साधक मुक्त हुए हैं, वर्तमान में जो मुक्त हो रहे हैं तथा भविष्य में जिन्हें मुक्त होना है, उनसे मुक्त होने का आधार सामायिक था/ है/ रहेगा।

सामायिक एक विशुद्ध साधना है। सामायिक में साधक की चित्तवृत्ति क्षीरसमुद्र की तरह एकदम शान्त रहती है, इसलिये वह नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता। आत्मस्वस्थप में स्थित रहने के कारण जो कर्म शेष रहे हुए हैं, उनकी वह निर्जरा कर लेता है। इसलिये आचार्य हरिभद्र ने लिखा है कि सामायिक की विशुद्ध साधना से जीव घातिकमों को नष्ट कर केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।^४

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में सामायिक की परिभाषा करते हुए लिखा है—सम उपसर्गपूर्वक गति अर्थ वाली “इण्” धातु से ‘समय’ शब्द निष्पन्न होता है। सम्—एकीभाव, अय - गमन अथत् एकीभाव के द्वारा बाह्य परिणति से पुनः मुङ्कर आत्मा की और गमन करना समय है। समय का भाव सामायिक

१. सेयम्बरो वा श्रासम्बरो वा द्रुद्धो वा तहेव अन्नो वा।

समझावभावियण्ठा लहेह मुख्यं न संदेहो ॥ —हरिभद्र

२. दिवसे दिवसे लक्खां देइ सुवर्णस्त खंडियं एगो ।

एगो पुण सामाइयं, करेइ न पहुण्यए तस्स ॥

३. तिब्बतवं तवमाणे जं न वि तिवदृद जम्मकोडीहि ।

तं समझावभित्तिं, खदेइ कम्मं खण्डेण ॥

४. सामायिक-विशुद्धात्मा सर्वथा घातिकर्मणः ।

अथात्केवलमाप्नोति लोकालोकप्रकाशकम् ॥ —हरिभद्र अष्टक-प्रकारण, ३०-१

है।^१ आचार्य मलयगिरि ने लिखा है—राग-द्वेष के कारणों में मध्यस्थ रहना सम है। मध्यस्थभावयुक्त साधक की भोक्ता वे अभिमुख जो प्रवृत्ति है, वह सामायिक है।^२ चिन्तनदृष्टि अमात्ममण ने भी विशेषावश्यकभाष्य में यही परिभाषा स्वीकार की है।^३ आवश्यकगूच की नियूत्ति, चूणि, भाष्य और हारिभद्रोद्या वृत्ति मलयगिरिवृत्ति आदि में सामायिक के विविध दृष्टियों से विभिन्न अर्थ किये हैं। सभी जीवों पर भैश्री-भाव रखना सम है और साम का जाग्र जिससे हो, वह सामायिक है।^४ पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग करना ही सावद्ययोग-परित्याग कहलाता है। अहिंसा, समता प्रभृति सद्गुणों का आचरण निरवद्ययोग है। सावद्ययोग का परित्याग कर शुद्ध स्वभाव में रमण करना 'सम' कहलाता है। जिस साधना के द्वारा उस 'सम' की प्राप्ति हो, वह सामायिक है।^५ 'सम' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है और 'अद्यन' का अर्थ आचरण है। अर्थात् श्रेष्ठ आचरण का नाम सामायिक है। अहिंसा आदि श्रेष्ठ साधना समय पर की जाती है, वह सामायिक है।

सामायिक की विभिन्न अनुपत्तियों पर चिन्तन करने से यह स्पष्ट जात होता है कि उन सभी में समता पर बल दिया गया है। राग-द्वेष के विविध प्रसंग समुपस्थित होने पर आत्म-स्वभाव में सम रहना, वस्तुतः सामायिक है। समता से तात्पर्य है— मन की स्थिरता, राग-द्वेष का उपशमन और सुख-दुःख में निष्ठल रहना, समभाव में उपस्थित होना। कर्मों के निमित्त से राग-द्वेष के विषयभाव समुपश्च होते हैं। उन विषयभावों से अपने-आपको हटाकर स्व-स्वरूप में रमण करना, समता है। समता को ही गीता में योग कहा है।^६

मन, बचन और काय की दुष्ट वृत्तियों को रोककर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर ध्यान को केन्द्रित कर देना सामायिक है। सामायिक करने वाला साधिक मन, यथन और काय को बझ में कर लेता है। विषय, कषाय और राग-द्वेष से अलग-अलग रहकर वह सदा ही समभाव में स्थित रहता है। विरोधी को देखकर उसके अन्तर्भास में क्रोध की ज्वाला नहीं भड़कती और न हितैषी को देखकर वह राम से आळ्हादित होता है। वह समता के गहन सामर में ढूँढ़की लगाता है, जिससे विषयता की ज्वालाएँ उसकी साधना को नष्ट नहीं कर पातीं। उसे न निर्दा के मच्छर ढैसते हैं और न ईर्ष्या के विच्छू ही लंक मारते हैं। चाहे अनुकूल परिस्थिति हो, चाहे प्रतिकूल, चाहे सुख के सुमन खिल रहे हों, चाहे दुःख के नुकीले काटे बींध रहे हों, पर वह सदा समभाव से रहता है। उसका चिन्तन सदा जागृत रहता है। वह सोचता है कि संयोग और विमोग—ये दोनों ही आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। ये तो शुभाशुभ कर्मों के उदय का फल है। परकीय पदार्थों के संयोग और वियोग से आत्मा का न हित हो सकता है और न अहित हो। इसलिए वह सतत समभाव में रहता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा—जो साधक अस और स्थावर रूप सभी जीवों पर समभाव रखता है, उसकी सामायिक शुद्ध

१. 'सम' एकीभावे वर्तते। तथाधा, संगतं धृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विग्रह्य सामायिकम्।—सर्वार्थसिद्धि, ७, २१

२. समो—रागद्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थः, इष गती अयनं अथो गमनमित्यर्थः, समस्य अयः समायः— समीभूतस्य सतो भोक्षाभ्वनि प्रवृत्तिः समाय एव सामायिकम्। आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, न५८

३. रागद्वेषविरहितो समो त्ति अयणं अयो त्ति गमणं त्ति।

समगमगं ति समायो स एव समाइयं नाम ॥

—विशेषावश्यक भाष्य, ३४७७

४. विशेषावश्यक भाष्य, गाया ३४८१

५. अहवा समस्स आग्नो गुणाण लाभो त्ति जो समायो सो । —वि. भाष्य, गा. ३४८०

६. समत्वं योगमुच्यते । —भगवद्गीता, २-४८

होती है।^१ जिसकी आत्मा संयम में, तप में, नियम में संलग्न रहती है, उसी की सामायिक शुद्ध होती है।^२
आचार्य हरिभद्र ने लिखा है---जैसे चन्दन, काटने वाली कुलहाड़ी को भी सुगन्धित बना देता है, वैसे ही विरोधी के प्रति भी जो समझाव की सुगन्ध फैलाता है, उसी की सामायिक शुद्ध है।^३

समता के द्वारा साधक आत्मशक्तियों को केन्द्रित करके अपनी भहान् ऊर्जा को प्रकट करता है। मानव असेक कामनाओं के अंतर्जाल में उलझा रहता है, जिससे उसका व्यक्तित्व लक्ष-विकास हो जाता है। इन्हे और तनाव का बातावरण बना रहता है। वर्षता, पशुला, संकीर्णता व राग-हेष के विकार-जन्म परपते रहते हैं। जब मानव समता से विचलित हुआ तब प्रकृति में विष्णुति, व्यक्ति में तनाव, समाज में विषमता, युग में हिंसा के तत्त्व उभरे हैं। उन सभी को रोकने के लिए, सन्तुलन और व्यवस्था बनाये रखने के लिए सामायिक की आवश्यकता है। सामायिक समता का लहराता हुआ निमंल सागर है। जो साधक उसमें अवगाहन कर लेता है, वह राग-हेष के कदम से मुक्त हो जाता है।

सामायिक की साधना बहुत ही उत्कृष्ट साधना है। अन्य जितनी भी साधनाएं हैं, वे सभी साधनाएं इसमें अन्तर्निहित हो जाती हैं। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमावधान ने सामायिक को चौदह पूर्व को प्रथमिष्ठ कहा है।^४ उपाध्याय यशोविजयजी ने सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप जिनवाणी का साररूप बनाया है।^५ रंग-विरंगे खिले हुए पुष्पों का सार गंध है, यदि पृष्ठ में गंध नहीं है, केवल रूप ही है तो वह केवल दर्शकों के नेत्रों को त्रुप्त कर सकता है, किन्तु दिल और दिमाग को ताजगी प्रदान नहीं कर सकता। दूध का सार घृत है। जिस दूध में घृत नहीं है, वह केवल नाममात्र का ही दूध है। घृत से ही दूध में पौष्टिकता रहती है। वह गरीर को शक्ति प्रदान करता है। इसी प्रकार तिल का सार तेल है। यदि तिलों में से तेल निकल जाए, इसु खण्ड में से रस निकल जाय, धान में से चावल निकल जाए तो वह निस्सार बन जाता है। वैसे ही साधना में से समझाव यानी सामायिक निकल जाय तो वह साधना भी निकलता है। ऐसवृत्त नायगाल की साधना है। समता के अभाव में उपासना उपह्रास है। साधक सायाजाल के चंगुल में फँस जाता है। दूरारों की उन्नति को निहार कर उसके अन्तर्मानस में ईर्ष्या-अरित सुलगते लगती है, वैर-विरोध के जहरीले कीटाणु कुलबुलाने लगते हैं। इसीलिए सामायिक की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

भगवतीसूत्र में वर्णन है कि पाश्वर्णात्य कालस्यवेसी अनगार के समक्ष तुंगिया नगरी के श्रमणोपासकों ने जिजासा प्रस्तुत की थी कि सामायिक क्या है? और सामायिक का अर्थ क्या है?

- | | |
|--|---------------------------|
| १. (क) जो समो सब्बूरेसु तसेसु थावरेसु य ।
तस्य सामाइयं होइ, इदं केवलि-भासियं ॥ | — आवश्यकनिर्मुक्ति, ७९९ |
| (ख) अनुयोगद्वार १२८ (ग) नियमसार १२६ | |
| २. (क) जस्य सामाणिषो अप्पा संजमे नियमे तवे ।
तस्य सामाइयं होइ, इदं केवलि-भासियं ॥ | — आवश्यकनिर्मुक्ति, ७८८ |
| (ख) अनुयोगद्वार १२७ (ग) नियमसार १२७ | |
| ३. हरिभद्र अष्टक-प्रकरण २९-१ | |
| ४. सामाइयं संखेदो चोद्दस पुञ्चत्यपिष्ठोत्ति ॥ | — विशेषा, भाष्य, गा. २७९६ |
| ५. तत्त्वार्थवृत्ति १-१ | |

कालास्थवेसी अनगार ने स्पष्ट रूप से कहा, “आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।”

तात्पर्य यह है कि जब आत्मा पापमय व्यापारों का परित्याग कर समझाव में अवस्थित होता है, तब सामायिक होती है। आत्मा का काषायिक विकारों से अलग होकर स्वस्वरूप में रमण करना ही सामायिक है और वही आत्म-परिणति है। सामायिक में साधक बाहु दृष्टि का परित्याग कर अन्तर्दृष्टि को अपनाता है, विषमभाव का परित्याग कर समझाव में अवस्थित रहता है, परन्पदार्थों से समत्व हटाकर निजभाव में स्थित होता है। जैसे अनन्त आकाश विष्व के चराचर प्राणियों के लिए आधारभूत है, वैसे ही सामायिक-साधना आध्यात्मिक ग्राधना के लिए आधारभूत है।

सामायिक के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए विविध दृष्टियों से सामायिक को प्रतिपादित किया गया है। नाम, स्थानगति, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव आदि से उसका स्वरूप प्रतिपादित है। सामायिक करने वाला साधक साधना में इतना स्थिर होता है कि चाहे शुभ नाम हों, चाहे अशुभ नाम हों, उस नाम का उस साधक के अन्तर्मानस पर कोई असर नहीं होता। वह सोचता है कि आत्मा अनामी है, आत्मा का कोई नाम नहीं है, नाम प्रस्तुत शरीर का है, यह शरीर नामकर्म की रचना है। इसलिए मैं व्यर्थ ही क्यों संकल्प-विकल्प कहूँ। सामायिक का साधक चित्ताकर्षक वस्तु को निहारकर आङ्गादित नहीं होता तो चिन्तने रूप को देखकर घृणा भी नहीं करता। वह तो सोचता है कि आत्मा रूपतीत है। सुखपता और कुखपता तो पुद्गल परमाणुओं का परिणमन है, जो कभी शुभ होता है तो कभी अशुभ होता है। मैं पुद्गल तत्त्व से पृथक हूँ। इस प्रकार वह चिन्तन कर समझाव में रहता है। यह स्थायना सामायिक है। सामायिक व्रतधारी साधक पदार्थों की सुन्दरता को देखकर मुराद नहीं होता और असुन्दरता को देखकर खिन्न नहीं होता। इसी तरह बहुमूल्य वस्तु की देखकर प्रसन्न नहीं होता और अल्पमूल्य वाली वस्तु को देखकर खिन्न नहीं होता। वह चिन्तन करता है कि पदार्थों की गुन्दरता और असुन्दरता की कल्पना मानव की कल्पना भाव है। एक ही वस्तु एक व्यक्ति को सुन्दर प्रतीत होती है तो दूसरे को वह सुन्दर प्रतीत नहीं होती। हीरे-पन्ने, मणक-मोली आदि जवाहराल में भी मानव में मूल्य की कल्पना की है, अन्यथा तो वे अन्य पदार्थों की भाँति पत्थर ही हैं। ऐसा विचार कर साधक सभी भौतिक पदार्थों में रामझाव रखता है। यह द्रव्य-सामायिक है। श्रीष्म की चिलचिलाती धूप हो, पौष माह की भयंकर सनसनाती सर्दी हो, शावण, भाद्रपद वी हजार-हजार धारा के रूप में वर्षा हो अब्दवा रिमभिम-रिमक्षिम दूर्दें गिर रही हों, चाहे अनुकूल रामय हो, चाहे प्रतिकूल समय हो, सामायिक व्रतधारी साधक समझाव में विचरण करता है। श्रीत, उष्ण आदि स्पर्श पुद्गल के हैं और ये सारे पुद्गल, पुद्गल को ही प्रभावित करते हैं। मैं तो आत्मस्वरूप हूँ, किसी भी पर-स्पर्श का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। मुझे इन वैभाविक स्थितियों से दूर रहकर आत्मभाव में स्थित रहना है। यह काल-सामायिक है।

सामायिकनिष्ठ साधक के लिए चाहे रमणीय स्थान हो, चाहे अरमणीय, चाहे शुन्दर सुगन्धित उपवन हो, चाहे बंजर भूमि हो, चाहे विशाट नगर की उच्च अद्वालिका हो, या निर्जन वन की कंटीली भूमि हो, कोई कर्की नहीं पड़ता। वह सर्वत्र समझाव में रहता है। उसका चिन्तन चलता है कि मेरा निवासस्थान न जंगल है, न नगर, मेरा तो निवासस्थान आत्मा ही है, फिर व्यर्थ ही क्षेत्र के व्यामोह में पड़कर क्यों कर्मवन्धन करूँ? प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव में स्थित रहता है तो मुझे भी आत्मभाव में स्थित रहना है, यह क्षेत्र-सामायिक है।

भाव-सामायिकषारी का चिन्तन ऊर्ध्वमुखी होता है। वह सदा-सर्वदा आत्मभाव में विचरण करता है। उसका चिन्तन चलता है—“मैं अजर और अमर हूँ, जीतन्यस्वरूप हूँ, जीवन-मरण, मनि-अपमान, संयोग-

विद्योग, लाभ-अलाभ -ये सभी कर्मदिव्यजन्य विकार हैं। मेरा इनके साथ बस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार विचार करके शुद्ध, तुल, मुक्त आसतत्त्व को प्राप्त करना ही भाव-सामायिक है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोमटसार में कहा है—परद्रव्यों से निवृत्त होकर जब साधक की ज्ञानचेतना आत्मस्वरूप में प्रवृत्त होती है, तभी भाव-सामायिक होती है। राग-द्वेष से रहित मध्यस्थ भावापन्न आत्मा सम कहलाता है। उस सम में गमन करना भाव-सामायिक है।

आचार्य जिनदासगणी महस्तर ने भाव-सामायिक पर किस्तार से चिन्तन किया है। उन्होंने गुणनिष्ठव भाव-सामायिक को एक विराट नगर की उपमा दी है। जैसे एक विराट नगर जन, धन, धान्य आदि से समृद्ध होता है, विविध बनों और उपबनों से अलंकृत होता है, वैसे ही भाव-सामायिक करने वाले साधक का जीवन सदगुणों से समलंकृत होता है। उसके जीवन में विविध सदगुणों की जगमगाहट होती है, जग्निल का साम्राज्य होता है।

आचार्य जिनदासगणी महस्तर ने सामायिक आवश्यक को 'आद्यमंगल' माना है। जितने भी विश्व में द्रव्यमंगल हैं, वे सभी द्रव्यमंगल अमंगल के रूप में परिवर्तित हो सकते हैं, पर सामायिक ऐसा भावमंगल है जो कभी भी अमंगल नहीं हो सकता। समभाव की साधना सभी मंगलों का मूल केन्द्र है। अनन्त काल से इस विराट विश्व में परिभ्रमण करने वाला आत्मा यदि एक बार भी भाव-सामायिक प्रहण कर ले तो वह सात-आठ भव से अधिक संतार में परिभ्रमण नहीं करता। सामायिक ऐसा पारसमणि है, जिसके संस्पर्श से अनन्तकाल की मिथ्यात्म आदि की कालिमा से आत्मा मुक्त हो जाता है।

सामायिक के द्रव्य-सामायिक और भाव-सामायिक दो भूख्य भेद हैं। सामायिक प्रहण करने के पूर्व जो विधि-विद्यान किये जाते हैं, वैसे सामायिक के लिए आसन विद्धाना, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि धार्मिक उपकरण एकत्रित कर एक स्थान पर अवस्थित होना, यह द्रव्य-सामायिक है। द्रव्य-सामायिक में आसन, वस्त्र, रजोहरण, मुखवस्त्रिका, माला आदि वस्तुएँ स्थच्छ और सादगोपूर्ण होनी चाहिये; वे रंग-बिरंगे न होकर श्वेत होने चाहिये। श्वेत रंग मुद्रा और शुभ घ्यान का प्रतीक है। आधुनिक विज्ञान ने भी श्वेत रंग को शान्ति का प्रतीक माना है। सामायिक में न गन्दे और वीभत्स धर्मोपकरण रखने चाहिए श्रीर नृचमचमाती हुई विलासितापूर्ण वस्तुएँ ही। भाव-सामायिक वह है जिसमें साधक आत्म-भाव में स्थिर रहता है। सामायिक में द्रव्य और भाव दोनों की आवश्यकता है। भावशून्य द्रव्य केवल मुद्रा लगी हुई मिट्टी है, वह स्वर्णमुद्रा की तरह बाजार में मूल्य प्राप्त नहीं कर सकती, केवल बालकों का मनोरंजन ही कर सकती है। द्रव्यशून्य भाव केवल स्वर्ण है, जिस पर मुद्रा अंकित नहीं है। वह स्वर्ण के रूप में तो मूल्य प्राप्त कर सकता है किन्तु मुद्रा के रूप में नहीं। द्रव्यमुक्त भाव स्वर्ण-मुद्रा है। वह अपना मूल्य रखती है और अवाद्य गति से सर्वत्र चलती है। इसीलिए भावयुक्त द्रव्य-सामायिक का भी भावरूप है।

सामायिक के पात्र-भेद से दो भेद होते हैं—१. गृहस्थ की सामायिक और २. श्रमण की सामायिक।^३ गृहस्थ की सामायिक परम्परानुसार एक मुहूर्त यानी ४५ मिनट की होती है, अधिक समय के लिए भी वह अपनी स्थिति के अनुसार सामायिक ब्रत कर सकता है। श्रमण की सामायिक यावज्जीवन के लिए होती है।

-
१. आदिमंगल सामायिकभ्यरण ।.....सव्वमंगलनिहाण निव्वाण पाविहिति काऊण सामायिकभ्यरण मंगलं भवति । —भावश्यकानूषिण
 २. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७९६

आत्मार्थ भद्रबाहु ने सामायिक के तीन भेद बताए हैं—१. सम्प्रक्षसामायिक २. श्रुतसामायिक और ३. चारिसामायिक ।^१ समभाव की साधना के लिये सम्यक्त्व और श्रुत ये दोनों आवश्यक हैं । विना सम्यक्त्व के श्रुत निर्मल नहीं होता और न चारित्र ही निर्मल होता है । सर्वप्रथम दृढ़ निष्ठा होने से विश्वास की शुद्धि होती है । सम्यक्त्व में अधिविश्वास नहीं होता । वहाँ भेदविज्ञान होता है । श्रुत से विचारों की शुद्धि होती है । जब विश्वास और विचार शुद्ध होता है, तब चारित्र शुद्ध होता है ।

सामायिक एक आड्यात्मिक साधना है, इसलिये इनमें जाति-भांति का प्रश्न नहीं उठता । हरिकेशी मुनि^२ जाति से अन्त्यज थे, पर सामायिक की साधना से वे देवों द्वारा भी अचंनीय बन गये । अर्जुन मालाकार,^३ जो एक दिन कूर हत्यारा था, सामायिक साधना के प्रभाव से उसने मुक्ति को वरण कर लिया ।

जैन साहित्य में सामायिक का महत्व प्रतिपादन करने हेतु पूनिया शावक की एक घटना प्राप्त होती है—सम्राट् श्रेणिक की जिजासा पर भगवान् महावीर ने बताया कि तुम भरकर प्रथम नरक में उत्पन्न होओगे, क्योंकि तुमने इसी प्रकार के कर्मों का अनुबन्धन किया है । सम्राट् श्रेणिक ने नरक से बचने का उगाय गूच्छ । भगवान् ने चार उपाय बताये । उन उपायों में एक उपाय गूच्छ शावक की सामायिक को खरीदना था । जब श्रेणिक सामायिक खरीदने के लिए पहुंचा तो पूनिया शावक ने श्रेणिक से कहा—‘एक सामायिक का मूल्य कितना है? यह आग भगवान् महावीर से पूछ लीजिये।’ राजा श्रेणिक के प्रश्न के उनर में भगवान् महावीर ने कहा—‘राजन्! तुम्हारे पास इतना विराट् वैभव है पर यह सारा धन सामायिक की दलाली के लिये भी पर्याप्त नहीं है । सामायिक का मूल्य तो उससे भी कहीं अधिक है।’ राज यह है कि सामायिक एक अमूल्य साधना है । आड्यात्मिक साधना की तुलना भौतिक वैभव से नहीं की जा सकती । आड्यात्मिक निधि के मामने भौतिक सम्पदाएँ तुल्य ही नहीं, नगण्य हैं ।

तुलना : बौद्ध और वैदिक परम्परा से

सामायिक जैन साधना की विशुद्ध साधनापद्धति है । इस साधनापद्धति की तुलना आशिक रूप से अन्य धर्मों की साधनापद्धति से की जा सकती है । बौद्धधर्म श्रमणसंस्कृति वी ही एक धारा है । उस धारा में साधना के लिए अष्टांगिक मार्ग का निरूपण है ।^४ अष्टांगिक मार्ग में सभी के आगे सम्यक् शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे—सम्यग्दुष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वचन, सम्यक्-कर्मनिति, सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति और सम्यक्-समाधि । बौद्ध साहित्य के मनीषियों का यह अभिमत है कि यहाँ जो सम्यक् शब्द का प्रयोग हुआ है, वह सग के अर्थ में है, क्योंकि पाली भाषा में जो सम्मा शब्द है, उसके सम ओर गम्यक् दोनों रूप बनते हैं । यहाँ पर जो सम्यक् शब्द का प्रयोग हुआ है, वह राग-द्वेष की वृत्तियों को न्यून करने के अर्थ में व्यवहृत हुआ है । जब राग-द्वेष की भावा कम होती है, तभी साधक समत्वयोग की ओर अपने कदम बढ़ा सकता है । अष्टांगिक मार्ग में अन्तिम मार्ग का नाम सम्यक्-समाधि है । समाधि में चित्तवृत्ति राग-द्वेष से

१. सामाइयं च तिविहं, सम्पत्तं सुयं तहा नरितं च ।

दुविहं चेव चरितं, प्रगारमणगारितं चेव ॥ आबश्यकनिष्ठूक्ति, ७३७

२. उत्तराध्ययन, हरिकेशी आध्ययन, १२

३. अन्तकृतदक्षांग, ६ वर्ग, तृतीय आध्ययन

४. (क) दीघनिकाव-महासतिपट्टान-सुत (ख) संयुतनिकाय ५, पृ. ८-१०

रहित हो जाती है। जब तक चिलवृत्तियाँ राग-द्रेष से मुक्त नहीं बनतीं, तब तक समाधि के संदर्भन नहीं होते। संयुक्तनिकाय^१ में तथागत बुद्ध ने कहा—जिन व्यक्तियों ने घर्मों को सही रूप से जान लिया है, जो किसी मत, पक्ष या वाद में उलझे हुए नहीं हैं, वे सम्बुद्ध हैं और विषम स्थितियों में भी उनका आचरण सम रहता है। संयुक्तनिकाय^२ में अन्य स्थान पर बुद्ध ने स्पष्ट कहा—आर्यों का मार्ग सम है। आर्य विषम स्थिति में भी सम का आचरण करते हैं। मञ्जिकमनिकाय^३ में राग-द्रेष, मोह के उपशम को ही परम आर्य उपशमन माना है। गुतनिपात^४ में कहा गया है जिस प्रकार मैं हूँ, वैसे ही संमार के सभी प्रणी हूँ। अतः सभी प्राणियों को अपने सदृश समझकर आचरण करना चाहिये। बौद्धदर्शन में माध्यस्थ वृत्ति पर जो बल दिया है, उसका मूल आधार भी समझाव ही है। इस प्रकार बौद्धधर्म में यत्र-तत्र समत्व के उल्लेख प्राप्त हैं। इससे यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म में भी समझाव को साधना का एक आवश्यक अंग माना है। यह सत्य है कि उन्होंने सामाधिक का निष्पत्ति नहीं किया, पर सामाधिक का जो मूल समझाव है, उसका उल्लेख जहर किया है।

वैदिक परम्परा के यन्त्रों में भी समत्वयोग की चर्चा यत्र-तत्र हुई है। श्रीमद्भगवद्गीता वैदिक परम्परा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है। उसमें योग की चर्चा करते हुए समत्व को ही योग कहा है।^५ ज्ञान, कर्म, भक्ति, ध्यान आदि का उद्देश्य समत्व है। विना समत्व के ज्ञान, अज्ञान है। जिसमें समत्व भाव है वही बस्तुतः यथार्थ जानी है।^६ विना समत्व के कर्म अकर्म नहीं बनता। समत्व के अभाव में कर्म का बन्धकत्व बस्तुतः यथार्थ जानी है।^७ समत्व के अभाव में भक्त भी सच्चा भक्त नहीं है। समन्वय में वह अपूर्व शक्ति है, जिससे अज्ञान ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है और वह ज्ञान योग के रूप में जाना जाता है। गीताकार की दृष्टि से स्वर्य परमात्मा/ब्रह्म सम है।^८ जो व्यक्ति समत्व में अवस्थित रहता है, वह परमात्मभाव में ही अवस्थित है।^९ नवम अध्याय में श्रीकृष्ण ने दीर अर्जुन को कहा—हे अर्जुन! मैं सभी प्राणियों में सम के रूप में स्थित हूँ।^{१०} गीताकार की दृष्टि ने आत्मवृत्त क्या अर्थ है? इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है—समत्व का अर्थ तुल्यता है, आत्मवृत् दृष्टि है। जिस प्रकार सुख मुक्ति श्रिय है, दुःख अप्रिय है, वैसे ही विश्व के सभी प्राणियों को सुख श्रिय/अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल/अप्रिय है। इस प्रकार जो विश्व के प्राणियों में अपने ही सदृश सुख और दुःख को अनुकूल और प्रतिकूल रूप में देखता है, वह किसी के प्रति भी प्रतिकूल आचरण नहीं करता। वही समदर्शी है। सभी प्राणियों के प्रति आत्मवृत् दृष्टि रखना समत्व है।^{११} समत्व धोगी राधक

१. संयुक्तनिकाय १।१।८

२. संयुक्तनिकाय १।२।६

३. मञ्जिकमनिकाय ३।४।०।२

४. सुतनिपात ३।३।७।७

५. श्रीमद्भगवद्गीता २।४।८

६. श्रीमद्भगवद्गीता ५।१।८

७. श्रीमद्भगवद्गीता ४।२।२

८. (क) श्रीमद्भगवद्गीता ५।१।९

(ख) गीता (शंकर भाष्य) ५।१।८

९. श्रीमद्भगवद्गीता ५।१।९

१०. श्रीमद्भगवद्गीता ५।१।९

११. श्रीमद्भगवद्गीता, शंकर भाष्य ५।३।२

चाहे अनुकूल स्थिति हो, चाहे प्रतिकूल स्थिति हो, चाहे सम्मान मिलता हो, चाहे तिरस्कार प्राप्त होता हो, चाहे सिद्धि के संवर्णन होते हों, चाहे असिद्धि प्राप्त हो, तो भी उसका अन्तर्मानस उन सभी स्थितियों में सम रहता है। कृष्ण ने श्रीर्जन से कहा— जो सुख-दुःख में समझाव रखता है, जो इन्द्रियों के विषय-सुख में आकुल-व्याकुल नहीं होता, वही मोक्ष/अमृतत्व का अधिकारी है।¹ गीता के अठारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा— जो समत्व भाव में स्थित होता है, वही मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर सकता है।² इस प्रकार गीता में समत्वयोग का स्वर यत्र-तत्र मुख्यरित हुआ है।

आज विश्व के समत्वयोग के अभाव में विषमता की काली घटाएँ झड़ता रही है। जिससे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र परेशान हैं। समत्वयोग जीवन के विविध पक्षों में इस प्रकार समन्वय स्थापित करता है जिससे न केवल व्यक्तिगत जीवन का संघर्ष समाप्त होता है, अपितु सामाजिक जीवन के संघर्ष भी नष्ट हो जाते हैं, यदि समाज और राष्ट्र के सभी सदस्यगण उसके लिये प्रयत्नशील हों। समत्वयोग से वैचारिक दुराग्रह समाप्त हो जाता है और स्नेह की सुर-सरिता प्रवाहित होने लगती है। जीवन के सभी संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। वैचारिक जगत् के संघर्ष का मूल कारण शाश्र्वत-दुराग्रह है। दुराग्रह के विष से मुक्त होने पर मनुष्य सत्य को सहज रूप से स्वीकार कर लेता है। समत्वयोगी साधक न वैचारिक दृष्टि से संकुचित होता है और न उसमें भोगासक्ति ही होती है। इसलिये उसका प्राचार निर्मल होता है और विचार उदात्त होते हैं। वह 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त में विश्वास रखता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समत्वयोग के द्वारा गीताकार ने समझाव की साधना पर बल दिया है।

सामायिक आवश्यक में न राग अपना राग आलोपता है और न द्वेष अपनी जादुई बीन बजाता है। दीवराग और विनृष्ण बनने के लिये यह उपक्रम है। यह वह कीमिया है जो भेदविज्ञान की अंगुस्ती पकड़कर समता की गुनहरी धरती पर साधक को स्थित करता है। यह साधना जीवन की सजाने और संवारने की साधना है।

चतुर्विशतिस्तत्र

पठायश्यक में दूसरा ग्रन्थयक चतुर्विशतिस्तत्र है। हमने पूर्व पंक्तियों में देखा कि सामायिक में साध्य योग से निवृत्त रहने का विधान किया गया है। साध्य योग से निवृत्त रहकर साधक किसी न किसी आत्मव्यन का आश्रय अवश्य छहण करता है, जिससे वह समझाव में स्थिर रह सके। एतदर्थ ही सामायिक में साधक तीर्थकर देवों की स्तुति करता है।

चतुर्विशतिस्तत्र भक्ति-साहित्य की एक विशिष्ट रचना है। उसमें भक्ति की भागीरथी प्रवाहित हो रही है। यदि साधक उस भागीरथी में अवगाहन करे तो आनन्द-विभोर हुए विना नहीं रह सकता। तीर्थकर त्याग और वैराग्य की दृष्टि से, संयमसाधना की दृष्टि से महान् हैं। उनके मुण्डों का उत्कीर्तन करने से साधक के अन्तर्द्वारा दिय में आध्यात्मिक बल का संचार होता है। यदि किसी कारणवश अद्वा जिधिल हो जाये तो उसमें अभिनव स्फूर्ति का संचार होता है। उसके नेत्रों के सामने त्याग-वैराग्य की ज्वलन्त प्रतिहृति आती है, जिससे उसका अहंकार वर्फ की तरह विघ्न जाता है।

1. गीता २।१५

2. गीता १।८।५४

संपर्ण शब्दिये, संसार में जो शुभतर परमाणु हैं उनसे तीर्थकर का शरीर निर्मित होता है, इसलिये रूप की दृष्टि में तीर्थकर महान् हैं। संसार में जिनमें भी पाणी हैं, उन प्राणियों में तीर्थकर सबसे अधिक बनी हैं। उनके बल के सामने बड़े-बड़े और भी टिक नहीं पाते। तीर्थकर अवधिज्ञान के साथ जन्म लेते हैं। श्रमण-दीक्षा अंगीकार करते ही उन्हें मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हो जाता है और उसके पश्चात् उनमें केवलज्ञान का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है, अतः ज्ञान की दृष्टि से तीर्थकर महान् हैं। दर्शन की दृष्टि से तीर्थकर धार्यक सम्बद्धता के धारक होते हैं। उनका चारित्र उत्तरोत्तर विकसित होता है। उनके परिणाम सदा बद्धमान रहते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ ही दान में उनकी बराबरी कोई भी नहीं कर सकता। वे श्रमणधर्म में प्रविष्ट होने के पूर्व एक वर्ष तक प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान देते हैं। वे गुप्त व्याघारी होते हैं। साधना काल में देवांगनाएँ भी अपने अद्भुत रूप में उनको आकृषित नहीं कर पातीं। तप के क्षेत्र में तीर्थकर कीर्तिमान संस्थापित करते हैं। वे तप-काल में जल भी ग्रहण नहीं करते। भावना के क्षेत्र में तीर्थकरों की भावना उत्तरोत्तर निर्मल होती जाती है।

इस प्रकार तीर्थकरों का जीवन विविध चिशेषताओं का पावन प्रतिष्ठान है। एक काल में एक स्थान पर अनेक अरिहन्त हो सकते हैं, पर तीर्थकर एक ही होता है। प्रत्येक साधक प्रयत्न करने पर अरिहन्त बन सकता है, किन्तु तीर्थकर बनने के लिये एक नहीं अनेक भवों की साधना अपेक्षित है। तीर्थकरत्व उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है। तीर्थकरों के गुणों का उत्कीर्तन करने से हृदय पवित्र होता है, वासनाएँ शान्त होती हैं। जैसे तीव्र उच्चर के समय बर्फ की ठंडी पट्टी लगाने से ज्वर शान्त हो जाता है, उसी प्रकार जब जीवन में वासना का ज्वर बेचैनी पैदा करता हो, उस समय तीर्थकरों का स्मरण बर्फ की पट्टी की तरह शान्ति प्रदान करता है। तीर्थकरों की स्तुति से संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। जैसे एक नहीं सी चित्तमारी हई के ढेर को भस्त कर देती है, वैसे ही तीर्थकरों की स्तुति से कर्म नष्ट हो जाते हैं।

जब हम तीर्थकरों की स्तुति करते हैं तो प्रत्येक तीर्थकर का एक उज्ज्वल शादर्श हमारे सामने रहता है। भगवान् कृष्णभद्र का स्मरण आते ही आदियुग का चित्र मानस-पट्टि पर बमकने लगता है। वह सोचने लगता है कि भगवान् ने इस मानव-संस्कृति का निर्माण किया। राज्यव्यवस्था का संचालन किया। मनुष्य को कला, सभ्यता और धर्म का पाठ पढ़ाया। राजसी वैभव को छोड़कर वे थमण बने। एक वर्ष तक भिक्षा न मिलने पर भी चेहरे पर आह्वाद अठलेनियों करता रहा। भगवान् शान्तिनाथ का जीवन शान्ति का महान् प्रतीक है। भगवती मल्ली का जीवन नारी-जीवन का एक ऊलन्त आदर्श है। भगवान् अरिष्टनेभि करणा के साक्षात् श्रवतार हैं। पशु-पक्षियों की प्राण-रक्षा के लिये वे सत्र्वाणिमुन्दरी राजीमती का भी परित्याग कर देते हैं। भगवान् पाश्व का स्मरण आते ही उस युग की तप-परम्परा का एक रूप सामने आता है, जिसमें ज्ञान की ज्योति नहीं है, अन्तर्मानिस में कथायों की ज्वालाएँ धधक रही हैं तो बाहर भी पंचाङ्ग की ज्वालाएँ सुलग रही हैं। वे उन ज्वालाओं में से जलते हुए नाग को बचाते हैं। कमठ के द्वारा भयंकर धानना देने पर भी उनके मन में रोप पैदा नहीं हुआ और धरणेन्द्र पद्ममध्यती के द्वारा स्तुति करने पर भी मन के प्रसन्नता नहीं हुई। यह ही उनका वीतरागी रूप। भगवान् महाबीर का जीवन भगवान् क्षान्तिकारी जीवन है। अनेक लोमहर्षक उपस्थितों से भी वे तनिक भाव भी चित्तलिप नहीं होते। आयों और अनायों के द्वारा, देवों और दानवों के द्वारा, पशु-पक्षियों के द्वारा दिये गये उपसर्गों में वे मेरु की तरह श्रविचल रहते हैं। जाति-पांति का खण्डन कर वे गुणों की महत्ता पर बल देते हैं। नारी जाति को प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं।

इस प्रकार तीर्थकरों की मनुष्य मानव से अपने पौरुष को जायूत करने की प्रेरणा होती है। आत्मा ही परमात्मा है। उमेशद्व जीव है तो कर्मयूक्त शिव है। एक दिन तीर्थकर की आत्मा भी हमारी तरह ही भोगवासना के दलदल में फँसी थी। पर ज्यों ही उसने अपने स्वस्थ को समझा ह्यों ही वह उसे त्याग कर नर से काराशण बन गई। आत्मा से परमात्मा बन गई। यदि मैं भी तीर्थकर की तरह प्रयत्न करूँ तो मैं उनके समान बन सकता हूँ। श्रीकृष्ण ने अजुन को स्पष्ट शब्दों में कहा था कि तुम मेरी भक्ति करो मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा।^१ श्रमण भगवान् महावीर ने भी कहा—मैं भय से रक्षा करने चाहा हूँ।^२ तथागत बुद्ध ने कहा—जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है।^३ तथापि यह स्पष्ट है कि जैन श्रीर बौद्ध इन दोनों विचारधाराओं के अनुसार व्यक्ति अपने ही पुरुषार्थ से उत्थान के सर्वोच्च शिखर पर आलड़ होता है और अपने ही कुप्रयत्न से पतन के महाशय में गिरता है। स्वयं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न न कर प्रभु के सहारे मुक्त होने की कल्पना को जैन धर्म में स्थान नहीं दिया है। उसने इस प्रकार की विवेकशून्य प्रार्थना को उचित नहीं माना है। उसका यह स्पष्ट अभिमत रहा है कि इस प्रकार की प्रार्थनाएँ मानव को दीन-हीन और परोपेक्षी बनाती है। जो साधक स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता, उस साधक को केवल तीर्थकरों की स्तुति मुक्ति प्रदान नहीं कर सकती। व्यक्ति का पुरुषार्थ ही उसे गुरुकृति-महल की ओर बढ़ा सकता है।

तीर्थकर तो साधनामार्ग के आलोक-स्तम्भ हैं। आलोक-स्तम्भ जहाज का पथ प्रदर्शन करता है, पर चलने का कार्य तो जहाज का ही है। लैंस ही साधना की ओर प्रगति करना साधक का कार्य है। जैन दृष्टि से भक्ति का लक्ष्य स्वयं का साधात्मकार है। अपने में रही हुई शक्ति की अभिव्यक्ति करना है। साधक के अन्तर्मनिस में जिस प्रकार की अद्वा / भावना बलवती होयी, उसी प्रकार का उसका जीवन बनेगा। इसलिये गीताकार ने कहा—‘अद्वामयोऽथं पुरुषः यो यच्छ्रुदः स एव सः।’^४ जिस घर में गरुड़ पक्षी का निवास हो, उस घर में साँप नहीं रह सकता। साँप गरुड़ की प्रतिच्छाया से भाग जाते हैं। जिनके हृदय में तीर्थकरों की स्तुतिरूपी गरुड़ आसीन है, वहीं पर पापरूपी साँप नहीं रह पाते। तीर्थकरों का पावन स्मरण ही पाप को नष्ट कर देता है। एक शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की भगवन्! चतुर्विषातिस्तव करने से किस सद्गुण की उपलब्धि होती है? भगवान् महावीर ने समाधान करते हुए कहा—चतुर्विषातिस्तव करने से दर्शन की विजुद्धि होती है। चतुर्विषातिस्तव से अनेक लाभ हैं। उससे अद्वा गरिमाजित होती है, सम्यक्त्व विशुद्ध होता है। उपर्युक्त और परीषहों को समझा से सहन करने की शक्ति विकसित होती है और तीर्थकर बनने की पवित्र प्रेरणा मन में उद्बुद्ध होती है। इसलिये घडावश्यकों में तीर्थकरस्तुति वा चतुर्विषातिस्तव को स्थान दिया गया है।

वरदन

साधना क्षेत्र में तीर्थकर के पश्चात् दूसरा स्थान गुरु की है। तीर्थकर देव हैं। देव के पश्चात् गुरु की नमन किया जाता है। उनका स्वावन और अभिवादन किया जाता है। आवश्यकनिर्युक्ति में बन्दन के ग्रथ में चित्तिकर्म, पूजाकर्म आदि पर्यायिकावी शब्द अव्यवहृत हुए हैं। साधक मन, कचन और शरीर से सद्गुण के प्रति सर्वात्मना भमणित होता है। जो सद्गुणी है, उन्हीं के चरणों में वह नत होता है। जीवन में विनय आवश्यक है।

१. गीता १८।६६

२. सूक्ष्मतांग १।१६

३. (क) मजिमनिकाय (ख) इतिचुत्तक ३।५३

४. श्रीमद्भगवद्गीता १७।३

जैन शास्त्रमें विनय की धर्म का मूल कहा है। आगमसाहित्य में विनय के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचना है, तथा यह लक्ष्य है कि जैनधर्म वैभविक नहीं है। भगवान् महावीर के युग में एक ऐसा पन्थ या जिसके अनुयायी पशु-पक्षी आदि जो भी मार्ग में भिल जाता, उसे वे नमस्कार करते थे। भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा—मानव ! तेरा मस्तिष्क ऐसे-ऐसे के चरणों में भुक्ने के लिये नहीं है। तभी होना अलग बात है, पर हर एक व्यक्ति को परमादरणीय समझकर नमस्कार करना अलग बात है। जैनधर्म में सद्गुणों की उपासना की गई है। उसका सिर तद्गुणियों के चरणों में नहीं होता है। सद्गुणों को नमन करने का अर्थ है, सद्गुणों को अपनाना। यदि साधक असंयमी पतित व्यक्ति को नमस्कार करता है, जिसके जीवन में दुराचार पनप रहा हो, वासनाएँ उभर रही हों, राग-द्रेष्ट की ज्वालाएँ धधक रही हों, उस व्यक्ति को नमन करने का अर्थ है—उन दुरुणों को प्रोत्साहन देना। आचार्य भद्रबाहु^१ ने आवश्यकनियुक्ति में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ऐसे गुणहीन व्यक्तियों को नमस्कार नहीं करना चाहिये, क्योंकि गुणों से रहित व्यक्ति अवननीय होते हैं। अवननीय व्यक्तियों को नमस्कार करने से कर्मों की निर्जरा नहीं होती और न कीर्ति ही बढ़ती है। असंयम और दुराचार का अनुमोदन करने से भये कर्म वृद्धते हैं। अतः उनको बन्दन अर्थ है। एक अवननीय व्यक्ति जो जानता है कि मेरा जीवन दुरुणों का आगार है, यदि वह सद्गुणी व्यक्तियों से नमस्कार ग्रहण करता है तो वह अपने जीवन को दूषित करता है। असंयम की वृद्धि कर अपना ही पतन करता है।^२

जैनधर्म की दृष्टि से साधक में द्रव्य-चारित्र और भाव-चारित्र—ये दोनों आवश्यक हैं। यदि द्रव्य-चारित्र नहीं है, केवल भाव-चारित्र ही है, तो वह प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि सामान्य साधकों के लिये उसका पवित्र चरित्र ही पथ-प्रदर्शक होता है। केवल द्रव्य-चारित्र ही है, और भाव-चारित्र का अभाव है तो भी वह अलापनीय नहीं है। वह तो केवल दिवाका है। साधक को ऐसे ही गुरु की आवश्यकता है जिसके द्रव्य और भाव दोनों ही चारित्र निर्मल हों, अबहार और निश्चय दोनों ही दृष्टियों से जिसके जीवन में पूर्णता हो, वही सद्गुरु बन्दनीय और अभिनन्दनीय होता है। ऐसे सद्गुरु से साधक पवित्र प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। बन्दन-आवश्यक में ऐसे ही सद्गुरु को नमन करने का विद्यान है।

बन्दन करने से अहंकार नष्ट होता है, विनय की उपलब्धि होती है। सद्गुरुओं के प्रति अनन्य शक्ति व्यती है। तीर्थकरों की आज्ञा का पालन करने से शुद्ध धर्म की आराधना होती है। अतः साधक को सतत जागरूक रहकर बन्दन करना चाहिये। बन्दन करने में किञ्चित्प्राप्ति भी उग्रेधा नहीं रखनी चाहिये। जब साधक के अन्तर्मानस में भक्ति का स्रोत प्रवाहित होता है, तब सहसा वह सद्गुरुओं के चरणों में भुक्त जाता है। जिस बन्दन में भक्ति की प्रधानता नहीं, केवल भय, प्रलोभन, प्रतिष्ठा आदि भावनाएँ पनप रही हों, वह बन्दन केवल द्रव्य-बन्दन है, भाव-बन्दन नहीं। द्रव्य-बन्दन से कितनी ही धार कर्म-बन्दन भी हो जाता है। पवित्र और निर्मल भावना से किया गया बन्दन ही सही बन्दन है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है द्रव्य-बन्दन मिथ्यादृष्टि भी करता है किन्तु भाव-बन्दन सम्यग्दृष्टि ही करता है। मिथ्यादृष्टि की द्रव्य-बन्दन की किया केवल यांत्रिक प्रक्रिया है, उसे किसी भी प्रकार का आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। बन्दन के लिये द्रव्य और भाव दोनों ही आवश्यक हैं।

१. पासात्थाइ वंदमाणस्य नेव किती न निजजाराहोइ ।

- आवश्यकनियुक्ति ११०८

२. जे वंभनेरभद्रा पाए उड्डेति वंभयारीण ।

- आवश्यकनियुक्ति ११०९

धर्मपद^१ में तथागत बुद्ध ने कहा—पुण्य की इच्छा से जो व्यक्ति वर्ष भर में यज्ञ और व्रतन करता है, उस यज्ञ और व्रतन का फल पुण्यात्माओं के अभिवादन के फल का चतुर्थ भाग भी नहीं है। अब यहाँ पाठ्य वाले महात्माओं को नमन करना चाहिए। सदा वृद्धों की सेवा करने वाले और अभिवादनशील पुण्य की चार वस्तुएँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं—आयु, सौन्दर्य, सुख और बल।^२ इस प्रकार बौद्धधर्म में वन्दन की महत्व-दिया है। वहाँ पर भी श्रमणजीवन की वरिष्ठता और कठिनता के आशार पर वन्दन की परम्परा रही है।

वैदिक परम्परा में भी वन्दन सद्गुणों की वृद्धि के लिये आवश्यक माना है।^३ श्रीमद्भगवत् में नवधा भक्ति का उल्लेख है।^४ उस नवधा भक्ति में वन्दन भी भक्ति का एक प्रकार बताया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता^५ के अठाहरवें अध्याय में “मा नमस्कुरु” कहकर श्रीकृष्ण ने वन्दन के लिये भक्तों को उत्स्रेपित किया है।

जैन मनोधियों ने वन्दन के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तार से और गहराई से चिन्तन किया है। आचार्य मदवाहु^६ ने वन्दन के ३२ दोष बताये हैं। उन दोषों से बचने वाला साधक ही मही वन्दन कर सकता है। संझेप में वे दोष इस प्रकार हैं—

१. अनादृत २. स्तब्ध ३. प्रविह्न ४. परिपिण्डित ५. टोलणि ६. अंकुर ७. कञ्ज्ञपरिगत
८. मत्स्योद्वृत्त ९. मनसाप्रद्विष्ट १०. वैदिकाबद्ध ११. भय १२. भजमान १३. मैत्री १४. यौरव १५. कारण
१६. स्तैन्य १७. प्रत्यनीक १८. रुट १९. तजित २०. शठ २१. हीलित २२. विपरिकुञ्जित २३. दृष्टादृष्ट
२४. शूर्ण २५. कर २६. मौजन २७. आशिलष्ट-अनाशिलष्ट २८. ऊन २९. उत्तरनृडा ३०. मूक ३१. छहड़र
३२. चुड़ली।

सार यह है कि वन्दन करते समय अन्तर्मनिस में किसी प्रकार की स्वार्थभावना / आकृष्णा / भय या किसी के प्रति अनादर की भावना नहीं होनी चाहिए। जिनको हम वन्दन करें उनको हम योग्य सम्मान प्रदान करें। मन, वचन और काया तीनों ही वन्दनीय के चरणों में नह रहें।

प्रतिक्रिया

भारतवर्ष की सभी अध्यात्मवादी धर्म-परम्पराएँ आत्मसाधना की प्रबल प्रेरणा प्रदान करती हैं। आत्मा में अनन्त काल से प्रमाद और असावधानी के कारण विकार और वासनाएँ अपना प्रभुत्व जमाए हुए हैं। उन्हें हटाकर ईश्वरत्व को जगाना है। मानव में जो फृण्ट्व वृत्ति है, वह स्वयं उसकी नहीं अपितु बाहर से आई हुई है। साधक की आत्मा अनधोर धटाओं से घिरे हुए सुर्य के सदृश है। कर्मों की कली धटाओं के कारण आत्मा का परम तेज दिखाई नहीं दे रहा है। वह अपने-आप को दीन-हीन समझ रहा है। भूतकाल में जो अजन्म और

१. धर्मपद, १०८
२. धर्मपद, १०९
३. मनुस्मृति, २।१२।१
४. श्रीमद्भगवत् पुराण ७।५।२३
५. श्रीमद्भगवद्गीता १।८।६५
६. (क) आवश्यकनियुक्ति १२०७-१२११
(ख) प्रवचनसारोद्धार वन्दनाद्वार

प्रमाद के कारण भूलें हुई हैं, उन भूलों का परिष्कार प्रतिक्रमण के द्वारा ही सम्भव है। पापलयी रोग को नष्ट करने में प्रतिक्रमण राम-बाण औषधि के सदृश है।

प्रतिक्रमण जैन परम्परा का एक विशिष्ट शब्द है। प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है पुनः लौटना। हम अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर, अपनी स्वभाव-दशा से निकलकर विभाव-दशा में चले गये, प्रतः पुनः स्वभाव रूप सीमा में प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है। जो पाप मन, वचन और काया से स्वयं किये जाते हैं, दूसरों के करवाये जाते हैं और दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है, उन सभी पापों की निवृत्ति हेतु, किये गये पापों की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है: शुभ योगों में से अशुभ योगों में गये हुए अपने-आप को पुनः शुभ योगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।^१ आचार्य हरिभद्र ने भी आवश्यकवृत्ति में यही कहा है।^२

गृहीत नियमों और मर्यादा के अतिक्रमण से पुनः लौटना ही प्रतिक्रमण है। साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अवृत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग—ये पांचों मायकर दोष हैं। साधक प्रातः और संध्या के सुहावने समय में अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता है, उस समय वह गहराई से चिन्तन करता है कि कह कहीं सम्यक्त्व के प्रशस्त पथ को छोड़कर मिथ्यात्व की कंटीली झाड़ियों में तो नहीं चलभा है? त्रत के स्वरूप को विस्मृत कर अवृत को तो ग्रहण नहीं किया है? अप्रमत्ता के नन्दनवन में विहरण के स्थान पर प्रमाद की भूलसती मरुसूमि में तो विचरण नहीं किया है? आकषाय के मुगन्धित सरसबज बाग को छोड़कर, कषाय के धधकते हुए पथ पर तो नहीं चला है? मन, वनन, काया की प्रवृत्ति जो शुभ योग में लगनी चाहिये थी वह अशुभ योग में तो नहीं लगी? यदि मैं मिथ्यात्व, अवृत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग में गया हूँ, तो मुझे पुनः सम्यक्त्व, त्रत, आकषाय, प्रप्रमाद और शुभ योग में आना चाहिये। इसी दृष्टि से प्रतिक्रमण किया जाता है।^३

आवश्यकनियुक्ति, आवश्यकचूणि, आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति प्रभृति गत्यों में प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में बहुत विस्तार के साथ विचार-चर्चाएँ की गई हैं। उन्होंने प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्द^४ भी दिए हैं, जो प्रतिक्रमण के विभिन्न अर्थों को व्यक्त करते हैं। यद्यपि ग्राठों का भाव एक ही है किन्तु ये शब्द प्रतिक्रमण के सम्पूर्ण अर्थों को समझने में सहायक हैं। ये इस प्रकार हैं—

१. प्रतिक्रमण^५ —इस शब्द में “प्रति” उपसर्ग है और “क्रमु” धातु है। प्रति का तात्पर्य है—प्रतिकूल और क्रमु का तात्पर्य है—पदनिषेप। जिन प्रवृत्तियों से साधक सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यक्चारित्र

२. प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणम्, श्रव्यमर्थः—शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं कालतस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम्।
—योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश, स्वोपजवृत्ति

३. स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रभावस्य वशाद् गतः।

तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

४. (क) प्रति प्रतिवर्तनं वा, शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु ।

निःशल्यस्य यत्तेवंत्, तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम् ॥

(ख) आवश्यकनियुक्ति, गाथा १२५०

५. पदिक्रमणं पदियरणा, परिहरणा त्रारणा नियत्तीय ।

तिन्दा गरिहा सोही, पदिक्रमणं भद्रहा होइ ॥

—आवश्यकनियुक्ति १२३३

६. पदिक्रमणं पुनरावृत्तिः ।

—आवश्यकचूणि

रूप स्वस्थान से हटकर मिथ्यात्म, अज्ञान, असंयम रूप परस्थान में चला गया है, उसका पुनः अपने-आप में सौंट आना प्रतिक्रमण या पुनरावृत्ति है।

२. प्रतिष्ठरणा^१ — असंयम क्षेत्र से अलग-थलग रहकर अत्यन्त सावधान होकर विशुद्धता के साथ संयम का पालन करना प्रतिष्ठरणा है, अर्थात् संयम-साधना में अग्रसर होना प्रतिष्ठरणा है।

३. प्रतिहरणा — साधक को साधना के पथ पर मुस्तीदी से अपने कदम बढ़ाते समय उसके पथ में अनेक प्रकार की बाधाएं आती हैं। कभी असंयम का आकर्षण उसे गारन्त ते विचलित करना चाहता है तो कभी अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि साधक परिहरणा (प्रतिहरणा) न रखे तो वह पथश्वष्ट हो सकता है। इसलिये वह प्रतिपल-प्रतिक्षण अशुभ योग, दृष्ट्यनि और दुराचरणों का त्याग करता है। यही परिहरणा है।

४. वारणा — वारणा का अर्थ निषेध (रोकना) है। साधक विषय, कषायों से अपने आपको रोककर संयम-साधना करते हुए ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसलिये विषय, कषायों से निवृत्त होने के लिये प्रतिक्रमण अर्थ में वारणा शब्द का प्रयोग हुआ है।

५. निवृत्ति^२ — जैन साधना में निवृत्ति का अत्यन्त महत्व रहा है। रातत सावधान रहने पर भी कभी प्रमाद के वश अशुभ योगों में उसकी प्रवृत्ति हो जाये तो उसे शीघ्र ही शुभ में आना चाहिये। अशुभ से निवृत्त होने के लिये ही यहाँ प्रतिक्रमण का पर्यायवाची शब्द निवृत्ति आया है।

६. निन्दा — साधक अन्तनिरीक्षण करता रहता है। उसके जीवन में जो भी पापयुक्त प्रवृत्ति हुई हो, शुद्ध हृदय से उसे उन पापों की निन्दा करनी चाहिये। स्वनिन्दा जीवन को मार्जने के लिए है। उसमें पापों के शुद्ध हृदय से उन पापों की निन्दा करनी चाहिये। यह दृढ़ निष्ठय करता है कि जो पाप मैंने असावधानी से किये थे, प्रति मन में ग़लानि पंडा होती है और साधक यह दृढ़ निष्ठय करता है कि जो पाप मैंने असावधानी से किये थे, वे आब भविष्य में नहीं कहाँगा। इस प्रकार पापों की निन्दा करने के लिये प्रतिक्रमण के अर्थ में निन्दा शब्द का अवहार हुआ है।

७. गहरा — निन्दा अपने-आपकी की जाती है, उसके लिए साथी की आवश्यकता नहीं होती और गहरा गुरुजनों के समक्ष की जाती है। गुरुओं के समक्ष निःशल्य होकर अपने पापों को प्रकट कर देना बहुत ही कठिन कार्य है। जिस साधक में आहमबल नहीं होता, वह गहरा नहीं कर सकता। गहरा में पापों के प्रति नीति पश्चात्ताप होता है। गहरा पापरूपी विष को उतारने वाला गहरा मन्त्र है, जिसके प्रयोग से साधक पाप से मुक्त हो जाता है। इसीलिये गहरा को प्रतिक्रमण का पर्यायवाची कहा है।

८. शुद्धि — शुद्धि का अर्थ निर्मलता है। जैसे व्रतन पर लगे हुए दाग को खटाई से साफ किया जाता है, सोने पर लगे हुए मैल को तपा कर शुद्ध किया जाता है, ऊनी बस्त्र के मैल को ऐटोल से साफ किया जाता है, बैसे ही हृदय के मैल को प्रतिक्रमण द्वारा शुद्ध किया जाता है। इसीलिये उसे शुद्धि कहा है।

आचार्य भद्रबाहु ने साधक को उत्प्रेरित किया है कि वह प्रतिक्रमण में प्रमुख सम से चार दिव्यों पर गहराई से अनुचिन्तन करे। इस दृष्टि से प्रतिक्रमण के चार भेद दर्शते हैं।^३

१. अत्यादरात् वरणा पडित्तरणा अकार्यपरिहारः कार्यप्रवृत्तिश्च ।

आवश्यकनूर्णि

२. असुभभाव-नियत्तणं नियत्ती ।

आवश्यकचूर्णि

३. परिसिद्धाणं करणे, किञ्चाणभकरणे पडित्तक्रमणं ।

— आवश्यकनियुक्ति गाया १२६८

असद्दहणे य तहा, विवरीयपरुवणाए अ ॥

१. श्रमण और शावक के लिये क्रमशः महाब्रतों और अणुज्ञतों का विद्वान् है। उसमें दोष न लगे, इसके लिये सतत सावधानी आवश्यक है। यद्यपि श्रमण और शावक सतत सावधान रहता है, तथापि कशी-कभी असावधानीवश अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अहास्त्रय, अपरिग्रह में स्खलना हो गई हो तो श्रमण और शावक को उसकी शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये।

२. श्रमण और शावकों के लिये एक आचारसंहिता आगमसाहित्य में निरूपित है। श्रमण के लिये स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन आदि अनेक विधान हैं तो शावक के लिये भी दैनंदिन साधना का विधान है। यदि उन विधानों की पालना में स्खलना हो जाये तो उस सम्बन्ध में प्रतिक्रमण करना चाहिये। कर्तव्य के प्रति जरा-सी असावधानी भी ठीक नहीं है।

३. आत्मा आदि अपूर्ति पवार्थों को प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना बहुत कठिन है। वे तो आगम आदि प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किये जा सकते हैं। उन अमूर्त तत्वों के सम्बन्ध में मन में यह सोचना कि क्ये हैं या नहीं, यदि इस प्रकार मन में अश्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो उसकी शुद्धि के लिये साधक को प्रतिक्रमण करना चाहिये।

४. हिंसा आदि दुष्कृत्य, जिनका मर्हीयों ने निषेध किया है, साधक उन दुष्कृत्यों का प्रतिपादन न करे। यदि असावधानीवश कभी प्रतिपादन बार दिया हो तो शुद्धि करे।

अनुयोगद्वारसूत्र में प्रतिक्रमण के दो प्रकार बताये गये हैं—इव्यप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण। इव्य-प्रतिक्रमण में साधक एक स्थान पर अवस्थित होकर विना उपयोग के यशाप्राप्ति की अभिलाषा से प्रतिक्रमण करता है। यह प्रतिक्रमण यत्र की तरह चलता है, उसमें चिन्तन का अभाव होता है। पापों के प्रति मन में ग्लानि नहीं होती। वह पुनः-पुनः उन स्खलनाओं को करता रहता है। वास्तविक दृष्टि से जैसी शुद्धि होनी चाहिये, वह उस प्रतिक्रमण से नहीं हो पाती। सावप्रतिक्रमण वह है, जिसमें साधक के अन्तर्मनस में पापों के प्रति तीव्र ग्लानि होती है। वह सोचता है, मैंने इस प्रकार स्खलनाएं क्यों की? वह दृढ़ निश्चय के साथ उपयोगपूर्वक उन पापों की आलोचना करता है। भविष्य में दो दोष पुनः न लगें, इसके लिये दृढ़ संकल्प करता है। इस प्रकार भावप्रतिक्रमण वास्तविक प्रतिक्रमण है। भावप्रतिक्रमण में साधक न स्वयं मिथ्यात्व आदि दुर्भावों में गमन करता है और न दूसरों को गमन करने के लिये उत्प्रेरित करता है और न दुर्भावों में गमन करने का अनुमोदन करता है।^१

साधारणतया यह समझा जाता है कि प्रतिक्रमण अतीतकाल में लगे हुए दोषों की परिशुद्धि के लिए है। पर आचार्य भद्रबहु^२ ने बताया कि प्रतिक्रमण केवल अतीतकाल में लगे दोषों की ही परिशुद्धि नहीं करता अपितु वह वर्तमान और भविष्य के दोषों की भी शुद्धि करता है। अतीतकाल में लगे हुए दोषों की शुद्धि तो आलोचना प्रतिक्रमण में की ही जाती है, वर्तमान में भी साधक संवर साधना में लगा रहने से पापों से निवृत्ति

१. मिच्छताइं ण गच्छह ण य गच्छावेह णाणुजागेद् ।

जं भण-दय-कणएहि तं भणियं भावपडिकम्मणं ॥

—आवश्यकनियुक्ति (हा. भ. दृ.)

२. (क) आवश्यकनियुक्ति

(ख) प्रतिक्रमणशब्दो हि अत्राणुभयोगनिवृत्तिमाशार्थः सामान्यतः परिगृह्यते, तथा च सत्यतीतविषयं प्रतिक्रमणं नित्याद्वारेण अणुभयोगनिवृत्तिरेवेति, प्रत्यृपश्विषयपि संवरद्वारेण अणुभयोग-निवृत्तिरेव अनागतविषयमपि प्रत्यार्थ्यानद्वारेण अणुभयोगनिवृत्तिरेवेति न दोष इति । — आचार्य हरिभद्र

हो जाता है। साथ ही प्रतिक्रमण में वह प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, जिससे भावी दोषों से भी बच जाता है। भूतकाल के अशुभ योग से निवृत्ति, वर्तमान में शुभ योग में प्रवृत्ति और भविष्य में भी शुभ योग में प्रवृत्ति करन्गा, इस प्रकार वह संकल्प करता है।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पांच प्रकार भी बताये हैं—१. दैवसिक, २. रात्रिक, ३. पाक्षिक, ४. चातुर्मासिक और ५. सोबत्सरिक।

१. दैवसिक—दिन के अन्त में किया जाने वाला प्रतिक्रमण दैवसिक है।

२. रात्रिक—रात्रि में जो दोष लगे हों—उनकी रात्रि के अन्त में निवृत्ति करना।

३. पाक्षिक—एव्रह दिन के अन्त में अमावस्या और पूर्णिमा के दिन सम्पूर्ण पक्ष में आचरित पापों का विचार कर प्रतिक्रमण करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

४. चातुर्मासिक—चार माह के पश्चात् कातिकी पूर्णिमा, कालुनी पूर्णिमा और आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन तार द्वारा ने में लगे हुए दोषों की आलोचना कर प्रतिक्रमण करना चातुर्मासिक है।

५. सोबत्सरिक—आषाढ़ी पूर्णिमा के उत्तपचास या पचासवें दिन वर्ष भर में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करना।

यहाँ पर यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि जब साधक प्रतिदिन प्रातः-सायं नियमित प्रतिक्रमण करता है, फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक और सोबत्सरिक प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है? समाधान है—प्रतिदिन प्रतिक्रमण के मकान की सफाई की जाती है तथापि पर्व दिनों में विशेष सफाई की जाती है, कैसे ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण में अतिचारों की आलोचना की जाती है, पर पर्व दिनों में विशेष रूप से जागरूक रहकर जीवन का निरीक्षण, परीक्षण और पाप का प्रक्षालन किया जाता है।

स्थानांग^१ में प्रतिक्रमण के छह प्रकार अन्य दृष्टियों से प्रतिपादित हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. उच्चारप्रतिक्रमण—विवेकपूर्वक पुरीषत्याग, भल परठ कर आने के समय मार्ग में गमनागमन सम्बन्धी जो दोष लगते हैं, उनका प्रतिक्रमण।

२. प्रस्त्रवणप्रतिक्रमण—विवेकपूर्वक मूत्र को परठने के पश्चात् ईर्या का प्रतिक्रमण।

३. इत्वरप्रतिक्रमण—दैवसिक, रात्रिक आदि स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना।

४. यावत्कथिकप्रतिक्रमण महाद्वय आदि जो यावत्काल के लिये ग्रहण किये जाते हैं अर्थात् सम्पूर्ण जीवन के लिये पाप से निवृत्त होने का जो संकल्प किया जाता है, वह यावत्कथिकप्रतिक्रमण है।

५. वृत्तिक्षिति-मिथ्याप्रतिक्रमण सावधानीपूर्वक जीवन्यापन करते हुए भी प्रमाद अथवा असावधानी से किसी भी प्रकार असंयमरूप आचरण हो जाने पर उसी क्षण उस भूल को स्वीकार कर लेना और उसके प्रति पश्चात्ताप करना।

६. स्वप्नान्तिकप्रतिक्रमण—स्वप्न में कोई विकार-वासना-रूप कुस्वप्न देखने पर उसके सम्बन्ध में पश्चात्ताप करना।

१. स्थानांग ६। ५३७

ये जो प्रतिक्रमण के छह प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं, उनका मुख्य सम्बन्ध अमण भी जीवनचर्या से है।

संक्षेप में जिनका प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, उनका संक्षेप में वर्णिकरण इस प्रकार हो सकता है—
२५ मिथ्यात्व, १४ ज्ञानातिचार और अठारह पापस्थानों का प्रतिक्रमण सभी साधकों के लिये आवश्यक है। द्विसरी बात पंच महान्तः; मन, वाणी, शरीर का असंयम; गमन, भाषण, माचना, ग्रहण-निक्षेप एवं मल-मूत्र-विसर्जन आदि से सम्बन्धित दोषों का प्रतिक्रमण भी अमण साधकों के लिये आवश्यक है। पंच अणुकरणों, तीन गुणद्रव्यों और चार शिक्षाद्रव्यों में लगने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण वर्ती शावकों के लिये आवश्यक है। जिन साधकों ने संलेखना व्रत ग्रहण कर रखा हो, उनके लिये संलेखना के पांच अतिचारों का प्रतिक्रमण आवश्यक है।

प्रतिक्रमण जैन साधना का प्राणतत्व है। ऐसी कीर्ति भी किया नहीं जिसमें प्रमादवश स्खलना न हो सके। चाहे लघुर्णका से निवृत्त होते समय, चाहे शौचनिवृत्ति करते समय, चाहे प्रतिलेखना करते समय, चाहे शिक्षा के लिये इधर-उधर जाते समय साधक को उन स्खलनाओं के प्रति सतत जागरूक रहना चाहिये। उन स्खलनाओं के सम्बन्ध में किञ्चन्मात्र भी उपेक्षा न रखकर उन दोषों से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये। क्योंकि प्रतिक्रमण जीवन को माजने की एक अपूर्व किया है।

साधक प्रतिक्रमण में अपने जीवन का गहराई से निरीक्षण करता है, उनके मन में, वचन में, काया में एक रूपता होती है। साधक साधना करते समय कभी कोश, मान, माया, लोभ से साधनाच्युत हो जाता है, उससे भूल हो जाती है तो वह प्रतिक्रमण के समय अपने जीवन का गहराई से अवलोकन कर एक-एक दोष का परिष्कार करता है। यदि मन में छिपे हुए दोष को लज्जा के कारण प्रकट नहीं कर सका, उन दोषों को भी सद्गुरु के समझ या भगवान् की साक्षी से प्रकट कर देता है। जैसे कुशल चिकित्सक परीक्षण करता है, और शरीर में रही हुई व्याधि को एक्स-रे आदि के द्वारा बता देता है, वैसे ही प्रतिक्रमण में साधक प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन करते हुए, उन दोषों को व्यक्त कर हल्का बनता है।

प्रतिक्रमण साधक-जीवन की एक अपूर्व किया है। यह वह डामरी है जिसमें साधक अपने दोषों की सूची लिखकर एक-एक दोष से मुक्त होने का उपक्रम करता है। वही कुशल व्यापारी कहलाता है, जो प्रतिदिन सायंकाल देखता है कि आज के दिन मैंने कितना लाभ प्राप्त किया है। जिस व्यापारी को अपनी आमदनी का ज्ञान नहीं है, वह सफल व्यापारी नहीं हो सकता। साधक को देखना चाहिये कि आज के दिन ऐसा कौन सा कर्तव्य था जो मुझे करना चाहिये था, किस्तु प्रमाद के कारण मैं उसे नहीं कर सका? मुझे अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिये था। इस प्रकार वह अपनी भूलों का स्मरण करता है। भूलों का स्मरण करने से उसे अपनी सही स्थिति का परिज्ञान हो जाता है। जब तक भूलों का स्मरण नहीं होगा, भूलों को भूल नहीं समझा जाएगा, तब तक उनका परिष्कार हो नहीं सकता। साधक अनेक बार अपनी भूलों को भूल न मानकर उन्हें सही मानता है, पर वस्तुतः वह उसकी भूलें ही होती हैं। कितने ही व्यक्ति भूल को भूल समझते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते। पर जब साधक अन्तनिरीक्षण करता है तो उसे अपनी भूल का परिज्ञान होता है। कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध विचारक फैक्लिन ने अपने जीवन को डायरी के माध्यम से सुधारा था। उसके जीवन में अनेक दुर्घटना थे। वह अपने दुर्घटनों को डायरी में लिखा करता था और फिर गहराई से उनका चिन्तन करता था कि इस सप्ताह में मैंने कितनी भूलें की हैं। अगले सप्ताह में इन भूलों की पुनरावृत्ति नहीं करूँगा। इस प्रकार डायरी के द्वारा उसने जीवन के दुर्घटनों को धीरे-धीरे निकाल दिया था और एक महान् सद्गुणी चिन्तक बन गया था।

प्रतिक्रमण जीवन को सुधारने का शेष्य उपकरण है। आध्यात्मिक जीवन की धूरी है। आनंदों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भावना जागृत होने लगती है और उस पश्चात्ताप की अग्नि में सभी दोष बल कर नष्ट हो जाते हैं। पापाचरण प्रश्न के सबूत हैं। यदि उसे बाहर नहीं निकाला गया, मन में ही क्रिया कर रखा गया तो उसका विष अन्दर ही अन्दर बढ़ता चला जाएगा और वह किये साधक के जीवन को बर्बाद कर देगा।

मानव की एक बड़ी कमज़ोरी यह है कि वह अपने सद्गुणों को तो सदा स्मरण रखता है किन्तु दुर्गुणों को भूल जाता है। साथ ही वह अन्य व्यक्तियों के सद्गुणों को भूलकर उनके दुर्गुणों को स्मरण रखता है। यही कारण है कि वह यदा कदा अपने सद्गुणों की सूची प्रस्तुत करता है और दूसरों के दुर्गुणों की गायाएं गता हुआ नहीं अद्यता। जब कि साधक को दूसरों के सद्गुण और अपने दुर्गुण देखने चाहिये। प्रतिक्रमण के आठ दुर्गुण निम्ना और गही शब्द प्रयुक्त हुए हैं। दूसरों की निम्ना से कर्म-बन्धन होता है और स्वनिन्दा पर्यायवाची शब्दों में निम्ना और गही शब्द प्रयुक्त हुए हैं। दूसरों की निरीक्षण करता है तो उसे अपने जीवन में हजारों से कर्मों की निर्जरा होती है। जब साधक अपने जीवन का निरीक्षण करता है तो उसे अपने जीवन में हजारों दुर्गुण दिखाई देते हैं। उन दुर्गुणों को वह धीर-धीरे निकालने का प्रयास करता है। साधक के जीवन की यह दुर्गुण दिखाई देते हैं। उन दुर्गुणों को वह गुणग्राही होता है। उसकी कृष्ण हंस-दृष्टि होती है। वह हंस की तरह सद्गुणों के पथ को विशेषता है कि वह गुणग्राही होता है। उसकी कृष्ण हंस-दृष्टि होती है। वह हंस की तरह सद्गुणों के पथ को ग्रहण करता है, मुक्ताओं को चुगता है। वह काक की तरह विष्णा पर मौह नहीं रखता।

बौद्धधर्म में प्रवारणा

जीवनधर्म में व्यवस्थित रूप से निशान्त और दिवसान्त में जिस प्रकार साधकों के लिये प्रतिक्रमण करने का विधान है, उसी प्रकार पाप से मुक्त होने के विधान अन्य परम्पराओं में भी पाये जाते हैं। बौद्धधर्म में प्रतिक्रमण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है पर उसके स्थान पर प्रतिकर्म, प्रवारणा और पापदेशना प्रभूति शब्दों का प्रयोग हुआ। उदान में तथागत बुद्ध ने कहा—जीवन की निर्मलता एवं दिव्यता के लिये पापदेशना आवश्यक हुआ।^१ खुला हुआ पाप है। पाप के आचरण की आलोचना करने से व्यक्ति पाप के भार से हल्का हो जाता है।^२ खुला हुआ पाप के अपराधों / दोषों के सम्बन्ध में गहराई से निरीक्षण करता कि हमारे जीवन में प्रत्युत वर्षावास में और अपने कुत अपराधों / दोषों के सम्बन्ध में गहराई से निरीक्षण करता कि हमारे जीवन में प्रत्युत वर्षावास में क्या-क्या दोष लगे हैं? यह प्रवारणा है। इसमें दृष्टि, श्रुति, परिशंकित अपराधों का परिमार्जन किया जाता। क्या-क्या दोष लगे हैं? यह प्रवारणा है। इसमें दृष्टि, श्रुति, परिशंकित अपराधों का परिमार्जन किया जाता। जिससे परस्पर विनय का अनुभोदन होता है।^३ प्रवारणा की विधि इस प्रकार थी—प्रमुख भिक्षु संघ को यह जिससे परस्पर विनय का अनुभोदन होता है। सर्वप्रथम स्थविर भिक्षु उत्तरासंघ को अपने कंधे पर रखकर कुकुट सूचित करता कि आज प्रवारणा है। हाथ जोड़कर संघ से यह निवेदन करता कि मैं दृष्टि, श्रुति, परिशंकित अपराधों की आपके आत्मन से बैछता। हाथ जोड़कर संघ से यह निवेदन करता कि मैं दृष्टि, श्रुति, परिशंकित अपराधों की आपके आत्मन से बैछता। उसके बाद उससे छोटा भिक्षु और फिर कमज़ोः सभी भिक्षु दोहराते हैं अपने पापों को। तीन बार दोहराता है। उसके बाद उससे छोटा भिक्षु और फिर कमज़ोः सभी भिक्षु दोहराते हैं अपने पापों को। तीन बार दोहराता है। प्रवारणा चतुर्दशी और पूर्णिमा को की जाती। पहले कम से इस प्रकार प्रवारणा से पाक्षिक शुद्धि की जाती है। प्रवारणा चतुर्दशी और पूर्णिमा को की जाती। पहले कम से इस प्रवारणा में आवश्यक माने जाते थे। उसके बाद चार, तीन, दो और अन्त में एक भिक्षु भी कम पाँच भिक्षु प्रवारणा में आवश्यक माने जाते थे। उसके बाद चार, तीन, दो और अन्त में एक भिक्षु भी कम पाँच भिक्षु प्रवारणा कर सकता है। यह अनुमति दी गई। विशेष स्थिति में प्रवारणा बहुत ही संक्षेप में और अन्य समय में भी की जा सकती थी।

१. उदान ५/५, अनुवादक जगदीश काण्यप, महोबोधि सभा, सारनाथ

२. अनुजानामि भिक्खुवे, वस्त्रं, बृद्धानं, भिवद्वन् तीहि ठानेहि पकारेतु दिट्ठेन वा सुतेन वा परिसंकाय वा। —महाकाय, पृ० १६५
सा वा भविस्ति अङ्गामअनुलोभता आपत्तिवृद्धानता विनयपुरेक्षा रता।

बोधिचर्यावितार^१ नामक ग्रन्थ में आचार्य शान्तिदेव ने लिखा है—रात्रि में तीन बार और दिन में तीन बार विस्कन्ध, पापदेशना-पुण्यानुमोदना और बोधिपरिणामना की आवृत्ति जरनी चाहिये, जिससे अनजाने में हुई स्वलनाओं का शमन हो जाता है। आचार्य शान्तिदेव ने ही पापदेशना के प्रकृतिसावद्य और प्रज्ञप्तिसावद्य दो प्रकार बताये हैं। प्रकृतिसावद्य वह है, जो स्वभाव से ही निष्ठनीय है—जैसे हिंसा, अग्रत्य, नोरी आदि और प्रज्ञप्तिसावद्य है अत ग्रहण करने के पश्चात् उसका भंग करना जैसे विकाल भोजन, परियह आदि। बोधिचर्यावितार में आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं—जो भी प्रकृतिसावद्य और प्रज्ञप्तिसावद्य पाप मुक्त अबोध मूढ़ ने कराये हैं, उन सब की देशना दुःख से पवराकर में प्रभु के सामने हाथ जोड़कर बारम्बार प्रणाम करता है। हे मायको ! अपराध को आगराध के रूप में ग्रहण करो। मैं यह पाप फिर नहीं करूँगा। बौद्ध प्रवारणा, जैसा कि हमने पूर्व पंक्तियों में लिखा है, एकाकी नहीं होती। वह तो संघ के साक्षिध्य में ही होती है। इस प्रवारणा में जो ज्येष्ठ भिक्षु आचारसंहिता का पाठ करता है और प्रत्येक नियम के पढ़ने के पश्चात् उपस्थित भिक्षुओं से वह इस बात की अपेक्षा करता है कि यदि किसी ने नियम का भंग किया है तो वह संघ के समक्ष उसे प्रकट कर दे। जैन परम्परा में गुरु के समक्ष या गीतार्थ के समक्ष पापों की आलोचना करने का विधान है। पर संघ के समक्ष पाप को प्रकट करने की परम्परा नहीं है। संघ के समक्ष पाप को प्रकट करने से अगीतार्थ ध्यक्ति उसका दुर्घटोग भी कर सकते हैं। उससे निन्दा की स्थिति भी बन सकती है। इसलिये जैनधर्म ने गीतार्थ के सामने आलोचना का विधान किया। संघ के समक्ष जो प्रवारणा है, उसकी तुलना वर्तमान में प्रचलित सामूहिक प्रतिक्रमण के साथ की जा सकती है।

प्रतिक्रमण और संध्या

वैदिक परम्परा में प्रतिक्रमण की तरह संध्या का विधान है। यह एक धार्मिक अनुष्ठान है जो प्रातः और सार्व काल दोनों समय किया जाता है। संध्या का अर्थ है—सम्—उत्तम प्रकार से ध्ये—ध्यान करना। अपने इष्टदेव का भक्ति-भावना से विभीर होकर थद्वा के साथ ध्यान करना, चिन्तन करना। संध्या का दूसरा अर्थ है—मिलन/संयोग/सम्बन्ध। उपासना के समय उपासक का परमेश्वर के साथ संयोग या सम्बन्ध होना। तीसरा अर्थ है—रात्रि और दिन की सन्धि-देला में जो धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं, वह संध्या है। इस संध्या में विष्णुमंत्र के द्वारा शरीर पर जल छिटक कर शरीर की एविन बनाने का उपक्रम किया जाता है। पृथ्वी माता की स्तुति से अधिमंत्रित कर आसन पर जल छिटक कर उसे एविन किया जाता है। उसके बाद सृष्टि के उत्पत्तिकम पर विचार होता है, फिर प्राणायाम का चक्र बलता है। अग्नि, वायु, आदित्य, वृहस्पति, वहन, इन्द्र और विश्व देवताओं की महिमा और गरिमा गाई गई है। सप्तव्याहृति इन्हीं देवों के लिये होती है। वैदिक महाविद्यों ने जल की संस्तुति बहुत ही भावना के साथ की है। उन्होंने कहा है जल ! आप जीव मात्र के मध्य में बिचरते हो, ब्रह्माण्ड रूपी गुहा में सब और आपकी गति है। तुम्हीं यज्ञ हो, वषट्कार हो, अप हो, ज्योति हो, रस ही और अमृत भी तुम्हीं हो।^२ संध्या में तीन बार सूर्य को जल के द्वारा अर्ध दिया जाता है। प्रथम अर्ध में तीन राखरों की सबारी का, दूसरे में राथसों के शस्त्रों का और तीसरे में राक्षसों के नाश की कल्पना की जाती है। उसके पश्चात् गायत्रीमन्त्र पढ़ा जाता है। उसमें सूर्य से बुद्धि एवं स्कूलि की प्रार्थना की जाती है। इन स्तुतियों में जन छिटकने की भी प्रथा है, जो बाह्याचार गर आधूत है। अन्तजंगल

१. बोधिचर्यावितार ५/१८

२. अन्तर्व्याहृति भूतेषु, गुहायां विश्वतोमुखः ।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार, आपो ज्योतिरसोऽमृतम् ॥

की भावनाओं को स्पर्श कर पाप-मल से आत्मा को मुक्त करने का उपक्रम नहीं है। एक मन्त्र में इस प्रकार के आवश्यक ही व्यक्त हुए हैं—

“सूर्य नारायण, यज्ञपति और देवताओं से मेरी प्रार्थना है—यक्ष विषयक तथा क्रोध से किये हुए पापों से मेरी रक्षा करें। दिन और रात्रि में मन, वाणी, हाथ, पैर, ऊदर और शिश्न से जो पाप हुए हों उन पापों की मैं अमृतयोनि सूर्य में होम करता हूँ। इसलिये वह उन पापों को नष्ट करें।”^१

कृष्णयजुर्वेद में एक मन्त्र है कि मेरे मन, वाणी और शरीर से जो भी दुराचारण हुआ हो, मैं उसका विसर्जन करता हूँ।^२

इस प्रकार वैदिक परम्परा में संहारा के द्वारा आचरित पापों के अब के लिये प्रभु से अमर्यना की जाती है। यदृ एक दृष्टि से प्रतिक्रमण से ही मिलता-जुलता रूप है।

पारसी धर्म में भी पाप को प्रकट करने का विधान है। खोरदेह अवस्ता पारसी धर्म का मुख्य ग्रन्थ है। उस ग्रन्थ में कहा गया है—मेरे मन में जो बुरे विचार समुत्पन्न हुए हों, वाणी से तुच्छ भाषा का प्रयोग हुआ हो और शरीर से जो अकृत्य किये हों, जो भी मैंने दुष्कृत्य किये हैं, मैं उसके लिये पश्चात्ताप करता हूँ। हो और शरीर से जो अकृत्य किये हों, जो भी मैंने दुष्कृत्य किये हैं, मैं उसके लिये पश्चात्ताप करता हूँ। अहंकार, मृत अकृतियों की निन्दा, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, बुरी दृष्टि से निहारना, स्वच्छांदता, आलस्य, कानाफूसी, अहंकार, मृत अकृतियों की निन्दा, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, बुरी दृष्टि से निहारना, स्वच्छांदता, आलस्य, कानाफूसी, अहंकार, मृत अकृतियों की निन्दा, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, बुरी दृष्टि से निहारना, स्वच्छांदता, आलस्य, कानाफूसी, अहंकार, मृत अकृतियों की निन्दा, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, बुरी दृष्टि से निहारना, स्वच्छांदता, आलस्य, कानाफूसी, अहंकार, मृत अकृतियों की निन्दा, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, बुरी दृष्टि से निहारना, स्वच्छांदता, आलस्य, कानाफूसी, हो और शरीर से जो अकृत्य किये हों, जो भी मैंने दुष्कृत्य किये हैं, मैं उसके लिये पश्चात्ताप करता हूँ। उन सबसे अलग होकर पवित्र होता हूँ।^३

ईसाई धर्म के प्रणेता महात्मा यीशु ने पाप को प्रकट करना आवश्यक माना है। पाप को छिपाने से वह बढ़ता है, और प्रकट कर देने से वह बट जाता है या नष्ट हो जाता है। इस तरह पाप को प्रकट कर दोणों से मुक्त होने का उपाय जो बताया गया है वह प्रतिक्रमण से मिलता-जुलता है। प्रतिक्रमण जीवनशुद्धि का श्रेष्ठतम् प्रकार होने का उपाय जो बताया गया है वह प्रतिक्रमण से मिलता-जुलता है। पर यह सत्य है कि सभी ने उसको प्रकार है। किसी धर्म में उसकी विस्तार से चर्चा है तो किसी में समास से। पर यह सत्य है कि सभी ने उसको आवश्यक माना है।

कायोत्सर्ग

जैन साधनापद्धति में कायोत्सर्ग का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। कायोत्सर्ग को अनुयोगदारसूत्र में व्याचिकित्सा कहा है। सतत साधनात रहने पर भी प्रवाद आदि के कारण साधना में दोष लग जाते हैं। भूलें हो जाती हैं। भूलों लघी घावों को ठीक करने के लिये कायोत्सर्ग एक प्रकार का भरहम है। वह अतिवार भूलें हो जाती हैं। भूलों लघी घावों को ठीक करने के लिये कायोत्सर्ग एक प्रकार का भरहम है। वह एक बार में लघी घावों को ठीक कर देता है। एक ब्रह्म बहुत ही मलीन हो गया है, उसे साफ करना है, वह एक बार में साफ नहीं होगा, उसे बार-बार साबुन लगाकर साफ किया जाता है। उसी प्रकार संघम लघी वस्त्र पर भी साफ नहीं होगा, उसे बार-बार साबुन लगाकर साफ किया जाता है। उन दागों को प्रतिक्रमण के द्वारा स्वच्छ किया अतिवारों का मैल लग जाता है, भूलों के दाग लग जाते हैं। उन दागों को प्रतिक्रमण के द्वारा हटाया जाता है। कायोत्सर्ग में जाता है। प्रतिक्रमण में भी जो दाग नहीं मिटते, उन्हें कायोत्सर्ग के द्वारा हटाया जाता है। कायोत्सर्ग क्यों किया जाता है? गहराई से चिन्तन कर उम दोष को नष्ट करने का उपक्रम किया जाता है। कायोत्सर्ग क्यों किया जाता है?

१. श्रोम् गूर्ह्यश्च मा मन्त्युपत्यश्च मन्त्युक्तेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम्। यद् अहो यद् रात्या पापमकार्ये योनी सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा।

२. कृष्णयजुर्वेद - वर्जन और चिन्तन : भाग २, पृ० १९२ से उद्धृत।

३. खोरदेह अवस्ता, पृ० ५/२३-२४

उस प्रकृति पर आवश्यकतामुख्य में चिन्तन करते हुए लिखा है—संयमी जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिये, आत्मा को भावा, मिथ्यात्मा और निदान शाल्य से मुक्त करने के लिये, पाप कर्मों के निर्धारण के लिये कायोत्सर्ग किया जाता है।^१

कायोत्सर्ग में कायथ और उत्सर्ग—ये दो शब्द हैं। जिसका लात्पर्य है— कायथ का त्याग। पर जीवित रहते हुए शरीर का त्याग सम्भव नहीं है। यहाँ पर शरीरत्याग का अर्थ है शारीरिक चंचलता और देहासक्ति का त्याग। साधक कुछ समय तक संसार के भीतिक पदार्थों से अलग-अलग रहकर आत्मस्वरूप में लीन होता है। कायोत्सर्ग अन्तमुखी होने की एक पवित्र साधना है। बहिमुखी स्थिति से साधक अन्तमुखी स्थिति में पहुंचता है और अनासक्त बनकर राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है। कायोत्सर्ग से शारीरिक ममता कम हो जाती है। शरीर की ममता साधना के लिये सबसे बड़ी बाधा है। कायोत्सर्ग में शरीर की ममता कम होने से साधक शरीर को सजाने-संवारने से हटकर आत्मभाव में लीन रहता है। यही कारण है कि साधक के लिये कायोत्सर्ग दुःखों का अन्त करने वाला बताया गया है। साधक जो भी कार्य करे, उस कार्य के पश्चात् कायोत्सर्ग करने का विधान है, जिससे वह शरीर की ममता से मुक्त हो सके।

बड़ावश्यक में कायोत्सर्ग को स्वतंत्र स्थान दिया गया है, जो इस भावना को अभिव्यक्त करता है कि प्रत्येक साधक को प्राप्तः और संध्या के समय यह चिन्तन करना चाहिये कि यह शरीर पृथक् है और मैं पृथक् हूँ। मैं अजर, अमर, अविनाशी हूँ। यह शरीर लगभगुर है। कमल-पत्र पर पढ़े हुए श्रोतविन्दु की तरह यह शरीर कब नष्ट हो जाये, कहा नहीं जा सकता। शरीर के लिये मात्र अकार्य भी करता है। शरीर के पोषण हेतु अक्षय-अभक्ष्य का भी दिवेक नहीं रख पाता। कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर की ममता कम की जाती है। कायोत्सर्ग में जब साधक अवस्थित होता है तब ढाँस, मच्छरों के व सर्दी-कर्मों के कौसे भी उपसर्ग क्यों न हों, वह शान्त भाव से सहन करता है। वह देह में रहकर भी देहगतीत स्थिति में रहता है। आचार्य धर्मदास ने उपदेशमाला ग्रन्थ में लिखा है कि कायोत्सर्ग के समय प्रावरण नहीं रखना चाहिये।

कायोत्सर्ग में साधक चटुआन की तरह पूर्ण रूप से निष्ठल, निष्पन्द होता है। जिनमुदा में वह शरीर का ममत्व त्याग कर आत्मभाव में रमण करता है। आचार्य भद्रबाहु^२ ने लिखा है—कायोत्सर्ग की स्थिति में साधक को ददि कोई भक्तिभाव से बन्दन लगाये या कोई द्वेषपूर्वक बस्तु से शरीर का छेदन करे, चाहे उसका जीवन रहे अथवा मृत्यु का बरण करना पड़े—वह सब स्थितियों में सम रहता है। तभी कायोत्सर्ग विषुद्ध होता है। कायोत्सर्ग के समय देव, मात्र और तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकार के उपसर्ग उपस्थित होने पर जो साधक उन्हें समझावपूर्वक सहन करता है, उसी का कायोत्सर्ग बस्तुतः सही कायोत्सर्ग है।^३

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के साधकों के लिये जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया है, वे साधक के अन्तर्भावनिस में बल का लज्जार करते हैं और वे दृढ़ता के साथ कायोत्सर्ग में तल्लीन हो जाते हैं किन्तु इसका यह लात्पर्य नहीं कि वह मिथ्याग्रह में चक्कर में पड़कर अपने जीवन को होम दे। क्योंकि सभी साधकों की स्थिति

१. तदस्य उत्तरीकरणोणं पायचिद्विकरणोणं, विसोहीकरणोणं, विसलीकरणोणं, पावाणं कम्माणं निष्पायणटृडाए ठामि काउस्समाणं। —आवश्यकसूत्र

२. आवश्यकनियुक्ति, गाथा १५४८

३. तिविहाणुवस्माणं माणुसाण तिरियाणं।

सम्महियासणाए काउस्सगी हृवद सुहो ॥

—आवश्यकनियुक्ति, गाथा १५४९

समान नहीं होती। कुछ साधक विशिष्ट हो सकते हैं, ये कष्टों से बचराते नहीं, शेर की तरह सहस्रवर्क आगे बढ़ते हैं। पर कुछ दुर्बल साधक भी होते हैं, उनके लिये प्रायश्यकसूत्र में आमारों का निर्देश है। कायोत्सर्ग में छोटी, छोटी, डकार, मूच्छों प्रभूति विविध शारीरिक च्यांदियाँ हो सकती हैं। कभी परीक न प्रभावित शारीरी हो सकता है। तो भी कायोत्सर्ग भंग नहीं होता। किसी समय साधक कायोत्सर्ग में खड़ा है, उस समय मकान की दीवार पा है। तो भी कायोत्सर्ग भंग नहीं होता। किसी समय कायोत्सर्ग में खड़ा है, वहाँ पर अग्निकांड भी हो सकता है। छत गिरने की भी स्थिति पैदा हो सकती है। मकान में था जहाँ वह खड़ा है वहाँ पर अग्निकांड भी हो सकता है। तस्कर और राजा आदि के भी उपसर्ग हो सकते हैं। उस समय कायोत्सर्ग से निवृत्त होकर साधक मुरशित स्थान पर भी जा सकता है। उसका कायोत्सर्ग भंग नहीं होगा, क्योंकि कायोत्सर्ग का मूल उद्देश्य समाधि है। पर भी समाधि भंग होती है तो आर्ण और रोद्र ध्यान में परिणत होती है। वह कायोत्सर्ग ही हितावह है। किन्तु जिस कायं कर देती है। जिस कायोत्सर्ग में समाधि की अभिवृति होती है, वह कायोत्सर्ग ही हितावह है। जिस कायोत्सर्ग को नाम पर किया गया को करने से असमाधि की बृद्धि होती है, आर्ण और रोद्र ध्यान बढ़ने हों, वह कायोत्सर्ग के नाम पर किसी कायकलेश है। आचार्य भद्रबाहु ने तो यहाँ तक कहा है कि एक साधक कायोत्सर्ग-मुद्रा में लीन है और यदि किसी दूसरे साधक को सांप आदि ने डुरा लिया तो ऐसी स्थिति में वह साधक उसी समय कायोत्सर्ग छोड़ कर दंशित साधक की सहायता करे। उस समय कायोत्सर्ग की अपेक्षा राहयोग देना ही श्रेयस्कर है।

कायोत्सर्ग का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि शारीरिक चंचलता का त्याग कर बूझ की भाँति या पर्वत की तरह या सूखे काष्ठ की तरह साधक निस्पंद खड़ा हो जाये। शरीर से सम्बन्धित निस्पन्दता तो एकेन्द्रिय आदि प्राणियों में भी हो सकती है। पर्वत पर जाने जितने भी प्रहार करो, वह कब चल होता है? वह किसी पर रोष भी नहीं करता। उसमें जो स्थैर्य है, वह अविकसित प्राणी का स्थैर्य है, किन्तु कायोत्सर्ग में होने वाला पर रोष भी नहीं करता। उसमें जो स्थैर्य है, वह अविकसित प्राणी का स्थैर्य है, किन्तु कायोत्सर्ग के दो प्रकार बताये हैं—१. द्रव्य-स्थैर्य भिन्न प्रकार का है। आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने कायोत्सर्ग के दो प्रकार बताये हैं—१. द्रव्य-कायोत्सर्ग और भावकायोत्सर्ग।^१ द्रव्यकायोत्सर्ग में पहले शरीर का निरोध किया जाता है। शारीरिक कायोत्सर्ग और भावकायोत्सर्ग।^२ द्रव्यकायोत्सर्ग भी कहते हैं। इसके पश्चात् साधक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में रमण करता कायोत्सर्ग है। इसे द्रव्यकायोत्सर्ग भी कहते हैं। इसके पश्चात् साधक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में रमण करता कायोत्सर्ग है। वह तन में रहकर भी तन से अलग-अलग आत्मभाव में रहता है। यही भावकायोत्सर्ग का अनुभव नहीं होता। वह तन में रहकर भी तन से अलग-अलग आत्मभाव में रहता है। यही भावकायोत्सर्ग का भाव है। इस प्रकार का कायोत्सर्ग ही सभी प्रकार के दुःखों को नष्ट करने वाला है।^३

द्रव्य और भाव के भेद को समझने के लिये आचार्यों ने कायोत्सर्ग के बार प्रकार बताये हैं—
१. उत्थित-उत्थित २. उत्थित-निविष्ट ३. उपविष्ट-उत्थित ४. उपविष्ट-निविष्ट।

१. उत्थित-उत्थित—इस कायोत्सर्ग-मुद्रा में जब साधक खड़ा होता है तो उसके साथ ही उसके अन्तर्मानस में जेतना भी खड़ी हो जाती है। वह अशुभ ध्यान का परित्याग कर प्रशस्त ध्यान में लीन हो जाता है। वह प्रथम श्रेणी का साधक है। उसका तन भी उत्थित है और भन भी। वह द्रव्य और भाव दोनों ही दृष्टियों से उत्थित है।

१. सो पुण काउस्त्वगो दव्वतो भावतो य अवति ।

दव्वतो कायचेद्वा निरोहो, भावतो काउस्त्वगो भाणं ॥

२. काउस्त्वं तप्तो कुञ्जा सव्वदुक्षिमोक्षणो ।

—आवश्यकचूणि

—उत्तराश्रयन २६-४२

२. उत्थित-निविष्ट कुछ साधक साधना की दृष्टि से आधिक मूर्दकर खड़े हो जाते हैं। ये शारीरिक दृष्टि से तो खड़े दिखाई देते हैं किन्तु मानसिक दृष्टि से उनमें कुछ भी जागृति नहीं होती। उनका मन संसार के विविध पदार्थों में उलझा रहता है। आत्म और रौद्र ध्यान की धारा में वह अवगाहन करता रहता है। तन से खड़े होने पर भी उनका मन बैठा है। अतः उत्थित होकर भी वह साधक निविष्ट है।

३. उपविष्ट-उत्थित—कभी-कभी शारीरिक अस्वस्यता अधवा वृद्धावस्था के कारण कायोत्सर्ग के लिये साधक खड़ा नहीं हो सकता। वह शारीरिक सुविधा की दृष्टि से गच्छासन आदि सुखासन से बैठकर कायोत्सर्ग करता है। तन की दृष्टि से वह बैठा हुआ है किन्तु भन में तीव्र, गुम्फ-गुम्फाव धारा प्रदाहित हो रही होती है। जिसके कारण बैठने पर भी वह मन से उत्थित है। शारीर भले ही बैठा है किन्तु साधक का मन उत्थित है।

४. उपविष्ट-निविष्ट—कोई साधक शारीरिक दृष्टि से समर्थ होने पर भी आलस्य के कारण खड़ा नहीं होता। बैठे-बैठे ही वह कायोत्सर्ग करता है। तन की दृष्टि से वह बैठा हुआ है और भाव की दृष्टि से भी उसमें जागृति नहीं है। उसका मन सांसारिक कियय-वासना में या रागद्वेष में फंसा हुआ है। उसका तन और मन दोनों ही बैठे हुए हैं। कायोत्सर्ग के इन चार प्रकारों में प्रथम और तृतीय प्रकार का कायोत्सर्ग ही सही कायोत्सर्ग है। इन कायोत्सर्गों के द्वारा ही साधक साधना के महान् लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

शारीरिक अवस्थिति और मानसिक चिन्तनधारा की दृष्टि से आचार्य भद्रवाहु ने आवश्यकनियुक्ति^१ में कायोत्सर्ग के नौ प्रकार बताये हैं—

शारीरिक स्थिति	मानसिक विचारधारा
१. उत्सृत-उत्सृत	खड़ा धर्म-शुक्लध्यान
२. उत्सृत	खड़ा न धर्म-शुक्ल, न आद्र-रौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
३. उत्सृत-निषण	खड़ा आत्म-रौद्रध्यान
४. निषण-उत्सृत	बैठा धर्म-शुक्लध्यान
५. निषण	बैठा न धर्म-शुक्लध्यान, न आत्म-रौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
६. निषण-निषण	बैठा आत्म-रौद्रध्यान
७. निषण-उत्सृत	लेटा धर्म-शुक्लध्यान
८. निषण	लेटा न धर्म-शुक्ल, न आत्म-रौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
९. निषण-निषण	लेटा आत्म-रौद्र-ध्यान

कायोत्सर्ग खड़े होकर, बैठ कर और लेटकर तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। खटी मुद्रा में कायोत्सर्ग करने की रीति इस प्रकार है। दोनों हाथों को घुटनों की ओर लटका लें, पैरों को सम रेखा में रखें, एडियों मिली हों और दोनों पैरों के पंजों में चार अंगुल का अन्तर हो। बैठी मुद्रा में कायोत्सर्ग करने वाला पद्मासन या चुखासन से बैठे। हाथों को या तो घुटनों पर रखे या बायों हथेली पर दायों हथेली रखकर उन्हें अंक में रखे। लेटी हुई मुद्रा में कायोत्सर्ग करने वाला सिर से लेकर पैर तक के अवयवों को पहले ताने फिर स्थिर करे। हाथ-पैर को सटाये हुए न रखे। इन सभी में अंगों का स्थिर और जिथिल होना आवश्यक है।^२

१. आवश्यकनियुक्ति, गाथा १४५९-६०

२. योगशास्त्र ३, पत्र २५०

खड़े होकर कायोत्सर्ग करने की एक विशेष परम्परा रही है। वयोंकि तीर्थकर प्रायः इसी मुद्रा में कायोत्सर्ग करते हैं। आचार्य अपराजित ने लिखा है कि कायोत्सर्ग करने वाला साधक शरीर से निष्क्रिय होकर खस्ते की तरह खड़ा हो जाय। दोनों बाहुओं को घुटनों की ओर फेला दे। प्रणस्त ध्यान में लीन हो जाये। शरीर को एकदम अकड़ा कर न खड़ा रखे और न एकदम झुकाकर ही। वह समझद्वा में खड़ा रहे। कायोत्सर्ग में कष्टों और परीषष्टों को समझाव से सहन करे। कायोत्सर्ग जिस स्थान पर किया जाए, वह स्थान एकान्त, शात्त और जीवन्जन्मित्रों से रहित हो।^१

द्रव्यकायोत्सर्ग, भावकायोत्सर्ग की ओर बहने का एक उपक्रम है। द्रव्य स्थूल है, स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ा जाता है। द्रव्यकायोत्सर्ग में बाहु वस्तुओं का परित्याग किया जाता है, जैसे—उपधि का त्याग करना, भक्त-पान आदि का त्याग करना, पर भावकायोत्सर्ग में तीन बातें आवश्यक हैं—कषाय-व्युत्सर्ग, संसार-व्युत्सर्ग और कर्मव्युत्सर्ग।

कषायव्युत्सर्ग में चारों प्रकार के कषायों का परिहार किया जाता है। शमा के द्वारा कोध को, विनय के द्वारा मान को, सरलता से माया को तथा सन्तोष से लोक को जीता जाता है।

संसारव्युत्सर्ग में संसार का परित्याग किया जाता है। संसार चार प्रकार का है—इव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार और भावसंसार।^२ इव्यसंसार चार गति रूप है। क्षेत्रसंसार अधः, कष्ट और मध्य लोक रूप है। कालसंसार एक समय से लेकर पुद्गलपरावर्तन काल तक है। भावसंसार जीव का विषयात्मक रूप भाव है, जो संसार-भ्रमण का मूल कारण है। द्रव्य, क्षेत्र, काल संसार का त्याग नहीं किया जा सकता है। आचारांग^३ में कहा है—जो इन्द्रियों के विषय हैं—वे ही वस्तुतः संसार हैं और उनमें आसक्त हुमा आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है। आगम सार्हित्य में यत्न-तत्र “संसारकंतारे” शब्द का व्यवहार हुआ है। जिसका अर्थ है—संसार के चार गति रूप किनारे हैं। संसार परिभ्रमण के जो मूल कारण हैं, उन मूल कारणों का त्याग करना। मिथ्यात्म, अन्त, प्रभाव, क्षयाय और अशुभ योग का परित्याग करना ही संसारव्युत्सर्ग है।

अष्ट प्रकार के कर्मों की नष्ट करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उसे कर्मव्युत्सर्ग कहते हैं। कायोत्सर्ग के जो विविध प्रकार बताये गये हैं, उनमें शारीरिक दृष्टि से और विचार की दृष्टि से भेद किये गये हैं। प्रयोजन की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो भेद किये गये हैं—चेष्टाकायोत्सर्ग और अभिभवकायोत्सर्ग।^४

चेष्टाकायोत्सर्ग दोषविशुद्धि के लिये किया जाता है। जब श्रमण शीघ्र, भिक्षा आदि कार्यों के लिये बाहर जाता है तथा निद्रा आदि में श्रवृत्ति होती है, उसमें दोष लगने पर उसकी शुद्धि के लिये प्रस्तुत कायोत्सर्ग किया जाता है। अभिभवकायोत्सर्ग दो स्थितियों में किया जाता है—प्रथम दीर्घकाल तक आत्मचिन्तन के लिए

१. तत्र शरीरनिस्पृहः, स्थाणुरिवोधवैकायः प्रलंबितशुजः प्रशस्तध्यानपरिणतोऽनुश्रमिता नतकायः परीषहनु-पसारीश्च सहमानः तिष्ठन्निर्जन्मतुके कर्मापायाभिलाषी विविक्ते देवे।

—मूलाराधना २-११३, विजयोदया पृ. २७८-२७९

२. चतुर्विहे संसारे पण्णते, तं जहा—

इव्यसंसारे, लेत्तसंसारे कालसंसारे, भावसंसारे।

—स्थानांग ४, १२, ६१

३. जे गुणे से आवटे।

—आचारांग १।१५

४. सो उस्सगो दुविहो चिद्धए अभिभवे य नायन्नो।

भिक्षायरियाइ पठमो उवसभ्यमिजु जणे विङ्ग्रो॥

या आत्मशुद्धि के लिये मन को एकाग्र कर कायोत्सर्ग करना और दूसरा संकट आने पर। जैसे—विष्वव, अग्निकांड, तुर्भिक श्रादि। नेष्ट्राकायोत्सर्ग का काल उच्छ्रवास पर आधारित है। यह कायोत्सर्ग विभिन्न स्थितियों में ८, २५, २७, ३००, ५०० और १००८ उच्छ्रवास तक किया जाता है। अभिभवकायोत्सर्ग का काल जबन्य अन्तमूँहृतं और उत्कृष्ट एक वर्ष का है। बाहुबलि ने एक वर्ष तक यह कायोत्सर्ग किया था।^१ दोषविष्णुद्धि के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह कायोत्सर्ग दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक रूप से पांच प्रकार का है।

षडावश्यक में जो कायोत्सर्ग है, उसमें चतुर्विशतिस्तव का ध्यान किया जाता है। चतुर्विशतिस्तव में सात श्लोक और अट्टाईस चरण हैं।^२ एक उच्छ्रवास में एक चरण का ध्यान किया जाता है। एक चतुर्विशतिस्तव का ध्यान पञ्चीस उच्छ्रवासों में सम्पन्न होता है। प्रथम श्लोक लेते समय मन में 'लोगस्स उज्जोयमरे' कहा जायेगा और सांस को छोड़ते समय 'धम्मतित्ययरे जिणे' कहा जायेगा। द्वितीय सांस लेते समय 'अरिहृते कित्तइस्म' और छोड़ते समय 'चउबीसं पि केवली' कहा जायेगा। इरा प्रकार चतुर्विशतिस्तव का कायोत्सर्ग होता है।

प्रवचनसारोद्धार^३ में और विजयोदयावृत्ति^४ में कायोत्सर्ग का ध्येय, परिमाण और कालमान इन प्रकार दिया गया है—

प्रवचनसारोद्धार

चतुर्विशतिस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्रवास
१. दैवसिक	४	२५	१००
२. रात्रिक	२	१२३	५०
३. पाक्षिक	१२	७५	३००
४. चातुर्मासिक	२०	१२५	५००
५. सांवत्सरिक	४०	२५२	१००८

१. (क) तत्रनेष्ट्राकायोत्सर्गोऽष्ट-पंचविशति-सप्तविशति त्रिशतपञ्चशतशष्टोत्तरसहस्रोऽच्छ्रवासान् यावद् भवति। अभिभव-कायोत्सर्गस्तु मुहूर्तादारभ्य संवत्सरं यावद् बाहुबलिरिव भवति। —योगशास्त्र ३, पत्र २५०
 (ख) अन्तमूँहृतः कायोत्सर्गस्य जबन्यः कालः वर्षमुक्तुष्टः। —मूलाराधना २, ११६, विजयोदयावृत्ति
 २. योगशास्त्र, ३
 ३. चत्तारि दो दुबालस, बीस चत्ता य हुति उज्जोया।
 देवसिय राय पक्षिय, चाउम्मासे य वरिसे य ॥
 पणवीस अद्दतेरस, सलोग पन्नतरी य बोद्धवा ।
 सप्तमेरं पणवीसं, बे बावणा य बरिसंमि ॥
 सायं सयं गोसद्ध तिन्नेव्र सया हुवेति पक्षियमि ।
 पंच य चाउम्मासे, वरिसे अद्धोत्तर सहस्रा ॥
 ४. सायाह्रे उच्छ्रवासशतकं प्रत्यूषसि पंचाशत, पक्षे त्रिशतानि ।
 चतुष्टु मासेमु चतुःशतानि, पंचशतानि संवत्सरे उच्छ्रवासानाम् ॥
 अष्टो प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावृदाहृतौ ।

—मूलाराधना-विजयोदयावृत्ति, १, ११६

विषयबोधया

अनुविश्वासितस्तथा	इत्योक्ता	चरण	उच्छ्रवास
१. दैवसिक	४	२५	१००
२. रात्रिक	२	१२३	५०
३. पाञ्चिका	१२	७५	३००
४. चातुमर्मीसिक	१६	१००	४००
५. सांघर्षसिक	२०	१२५	५००

प्रबन्धनसारोद्धार और विजयोदयावृत्ति में जो उच्छ्रवास संख्या कायोत्सर्ग की दी गई है, उसमें एक-हप्ता नहीं है। यह ऊपर की पंक्तियों में जो चार्ट दिया गया है, उससे सहज जाना जा सकता है।

दिग्म्बर परम्परा के आचार्य अभितगति^{१४} ने यह विधान किया है—दैवसिक कायोत्सर्ग में १०८ और रात्रि के कायोत्सर्ग में ५४ उच्छ्रवासों का ध्यान करना चाहिये और अन्य कायोत्सर्ग में २७ उच्छ्रवासों का ध्यान करना चाहिये। २७ उच्छ्रवासों में नमस्कार मन्त्र की नौ आवृत्तियाँ हो जाती हैं, क्योंकि ३ उच्छ्रवासों में एक नमस्कार महामंत्र पर ध्यान किया जाता है। ‘नमो अरिहताणं, नमो सिद्धाणं’ एक उच्छ्रवास में, ‘नमो शायरियाणं, नमो उद्बज्ज्ञायाणं’ दूसरे उच्छ्रवास में तथा ‘नमो लोए सम्बसाहृणं’ तीसरे उच्छ्रवास में—इस प्रकार ३ उच्छ्रवासों में एक नमस्कार महामन्त्र का ध्यान पूर्ण होता है। आचार्य अभितगति का अभिमत है कि श्रमण को दिन और रात में कुल अट्ठाईस बार कायोत्सर्ग करना चाहिये।^{१५} स्वाध्यायकाल में १२ बार, वन्दनकाल में ६ बार, प्रतिक्रमणकाल में ८ बार, प्रोग्राम्यकाल में २ बार—इस प्रकार कुल अट्ठाईस बार कायोत्सर्ग करना चाहिये। आचार्य अपराजित का मन्तव्य है कि पंच महाद्रवत् सम्बन्धी अतिक्रमण होने पर १०८ उच्छ्रवासों का कायोत्सर्ग करना चाहिये। कायोत्सर्ग करते समय मन की चंचलता से या उच्छ्रवासों की संख्या की परिणना में सदैह समुत्पन्न हो जाये तो आठ उच्छ्रवासों का और अधिक कायोत्सर्ग करना चाहिये।^{१६}

क्वेताम्ब्र और दिग्म्बर दोनों ही परम्पराओं के साहित्य के पर्यवेक्षण करने पर यह स्पष्ट है कि अतीत काल में श्रमण साधकों के लिये कायोत्सर्ग का विधान विशेष रूप से रहा है। उत्तराध्ययन^{१७} के श्रमण समाचारी अध्ययन में और दण्डवैकालिक चूलिका^{१८} में श्रमण को पुनः-पुनः कायोत्सर्ग करने वाला बताया है। कायोत्सर्ग

१. अष्टोत्तरशतोच्छ्रवासः कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे ।

सान्ध्ये प्राभासिके ब्राद्यमन्यस्तत् सप्तविश्वतः ॥

सप्तविश्वतिष्ठच्छ्रवासाः संसारोन्मूलनक्षमे ।

सन्ति पंचनमस्कारे नद्यानि चिन्तिते सति ॥

—अभितगति धावकाचार ८, ६८-६९

२. अष्टविश्वति संख्यानाः कायोत्सर्गा मता जिनैः ।

अहोरात्रगताः सर्वं षड्वावश्यककारिणाम् ॥

स्वाध्याये द्वादशं प्राज्ञः वन्दनायां षष्ठीरिताः ।

—अभितगति धावकाचार ८, ६६-६७

अष्टी प्रतिक्रमे योगभक्ती तौ ह्रावुदाहृती ॥

३. मूलाराघना २, ११६ विजयोदया वृत्ति

४. उत्तराध्ययन २६, ३३-३४

५. अभिक्रमणं काउस्तुगकारी ।

—दण्डवैकालिक चूलिका २-३

में मानसिक एकाग्रता सर्वप्रथम ग्रावध्यक है। कायोत्सर्ग अनेक प्रयोजनों से किया जाता है। कौश, मान, माया, लोभ का उपशमन कायोत्सर्ग का मुख्य प्रयोजन है।^१ अमंगल, विष और बाधा के परिहार के लिये भी कायोत्सर्ग का विधान प्राप्त होता है। किसी शुभ कार्य के प्रारम्भ में, यात्रा में, यदि किसी प्रकार का उपसर्ग, बाधा या अपशकुन हो जाये तो आठ श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिये। उस कायोत्सर्ग में नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिये। द्वितीय बार पुनः बाधा उपस्थित हो जाये तो सोलह श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर दो बार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिये। यदि तृतीय बार भी बाधा उपस्थित हो तो दो श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर चार बार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिये। चतुर्थ बार भी यदि बाधा उपस्थित हो तो विष अवश्य ही आने वाला है, ऐसा समझकर शुभ कार्य या विहार यात्रा को प्रारम्भ नहीं करना चाहिये।^२ कायोत्सर्ग की प्रक्रिया कष्टप्रद नहीं है। कायोत्सर्ग से शरीर को पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त होती है और मन में अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है। इसलिये कायोत्सर्ग लम्बे समय तक किया जा सकता है। कायोत्सर्ग में मन को श्वास में केन्द्रित किया जाता है, एतदर्थे उसका कालमान श्वास गिनती से भी किया जाता है।

कायोत्सर्ग का प्रधान उद्देश्य है आत्मा का सञ्चिक्षण प्राप्त करना और सहज गुण है मानसिक सन्तुलन बनाये रखना। मानसिक सन्तुलन बनाए रखने से चुंडि निर्भीक होती है और शरीर पूर्ण स्वस्थ होता है। साचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के अनेक फल बताए हैं—१. देहजाइयबुद्धि—इलेष्म आदि के ढारा देह में जड़ता आती है। कायोत्सर्ग से इलेष्म आदि के दोष नष्ट हो जाते हैं। इसलिये उससे उत्पन्न होने वाली जड़ता भी समाप्त हो जाती है।

२. मतिजाइयबुद्धि—कायोत्सर्ग में मन की प्रवृत्ति केन्द्रित हो जाती है, उससे चित्त एकाग्र होता है। बौद्धिक जड़ता समाप्त होकर उसमें तीक्ष्णता आती है।

३. सुख-दुःखतिलिका—कायोत्सर्ग से सुख-दुःख को सहन करने की अपूर्व क्षमता प्राप्त होती है।

४. अनुप्रेक्षा—कायोत्सर्ग में अवस्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षा या भावना का स्थिरतापूर्वक अभ्यास करता है।

५. ध्यान—कायोत्सर्ग से शुभध्यान का सहज अभ्यास हो जाता है।^३

कायोत्सर्ग में शारीरिक चंचलता के विसर्जन के साथ ही शारीरिक ममत्व का भी विसर्जन होता है, जिससे शारीर और मन में तनाव उत्पन्न नहीं होता; शारीरशास्त्रियों का मानना है कि तनाव से अनेक शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ समुत्पन्न होती हैं। उद्घरणार्थ शारीरिक प्रवृत्ति से—

१. कायोत्सर्गशतक, गाथा ८

२. सन्देशु खलियादिसु भाएज्ञा पञ्च मंगलं ।

दो सिलोगे च चितेज्जा एगगो वावि तक्खणं ॥

बिद्यं पुण खलियादिसु, उस्तासा होति तह य सोलस य ।

तद्यमिम उ बत्तीसा, चउत्थमिम न गच्छए अग्नं ॥

—व्यवहारभाष्य पीठिका, गाथा ११८, ११९

३. (क) देहमद्वज्डम्भुद्धी, सुहदुक्खतिक्खया अणुपेहा ।

क्षाइय य सुहं भार्ण, एगगो काउसम्यमिम ॥

—कायोत्सर्गशतक, गाथा १३

(ख) मणसो एगगत्तं जणयद, देहस्स हणइ जड़हति ।

काउसरगमुणा खलु, सुहदुहमजक्त्थया चेव ॥

—व्यवहारभाष्य पीठिका, गा. १२५

(ग) प्रथत्वविशेषतः परमलाभक्तसंभवात् ।

—बही, वृत्ति

१. स्नायु में शर्करा कम हो जाती है।
२. लैकिटक एसिड स्नायु में एकत्रित होती है।
३. लैकिटक एसिड की अभिवृद्धि होने पर शरीर में उण्णता बढ़ जाती है।
४. स्नायूतन्त्र में यकात का अनुभव होता है।
५. रक्त में प्राणवायु की मात्रा न्यून हो जाती है। किन्तु कायोत्सर्ग से—

१. एसिड पुनः शर्करा में परिवर्तित हो जाता है।
२. लैकिटक एसिड का स्नायूओं में जमाव न्यून हो जाता है।
३. लैकिटक एसिड की न्यूनता से शारीरिक उण्णता न्यून होती है।
४. स्नायूतन्त्र में अभिनव ताजगी आती है।
५. रक्त में प्राणवायु की मात्रा बढ़ जाती है।

इस प्रकार स्वास्थ्यदूषित से कायोत्सर्ग का अत्यधिक महत्व है। मन, मस्तिष्क और शरीर का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। जब इन दोनों में सामंजस्य नहीं होता तब स्नायविक तनाव समुत्पन्न होते हैं। जब हम कोई कार्य करते हैं तब तन और मन में सन्तुलन रहना चाहिये। जब सन्तुलन नहीं रहता तब स्नायविक तनाव बढ़ जाता है। तन अलग कार्य कर रहा है और मन अलग स्थान पर भटक रहा है तो स्नायविक तनाव हो जाता है। कायोत्सर्ग इस स्नायविक तनाव को दूर करने का एक सुन्दर उपाय है।

कायोत्सर्ग में सर्वप्रथम शिथिलीकरण की आवश्यकता है। यदि बैठ-बैठे हों उपर्युक्त करना चाहता है तो वह सुखासन या पद्मासन से बैठे। फिर रीढ़ की हड्डी और गर्दन को सीधा करे, उसमें भूकाव और तनाव न हो। अंगोंपांग शिथिल और सीधे सरल रहें। उसके पश्चात् दीर्घ श्वास ले। बिना कष्ट के जितना लम्बा श्वास ले सके उतना लम्बा करने का प्रयास करे। इससे शरीर और मन इन दोनों के शिथिलीकरण में बहुत सहयोग मिलेगा। आठ-दस बार दीर्घ श्वास लेने के पश्चात् वह कम सहज हो जायेगा। स्थिर बैठने से अपने आप ही कुछ-कुछ शिथिलीकरण हो सकता है और उसके पश्चात् जिस अंग को शिथिल करना हो उसमें मन को नियन्त्रित करे। जैसे सर्वप्रथम गदैन, कन्धा, सीना, पेट, दायें बायें पृष्ठ भाग, भुजाएं, हाथ, हृदयली, अंगुली कटि, पर शादि सभी की मासपेशियों को शिथिल किया जाता है।

इस प्रकार शारीरिक अवयव व मासपेशियों के शिथिल हो जाने से स्थूल शरीर से सम्बन्ध विच्छेद होकर सूक्ष्म शरीर से—तंजस और कार्मण से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। तंजस शरीर से दीप्ति प्राप्त होती है। कार्मण शरीर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर ऐद-विज्ञान का अभ्यास किया जाता है। इस तरह शरीर-आत्मस्वय की जो आनंद है, वह ऐदविज्ञान से मिट जाती है। शरीर एक बर्तन के सदृश है। उसमें श्वास, इन्द्रिय, मन और मस्तिष्क जैसी अनेक शक्तियां रही हुई हैं। उन शक्तियों से परिचित होने का सरल मार्ग कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के श्वास सूक्ष्म होता है। शरीर और भन के बीच में श्वास है। श्वास के पांच प्रकार बताये गये हैं—१. सहज श्वास, २. शान्त श्वास, ३. उखड़ी श्वास, ४. विशिष्ट श्वास और ५. तेज श्वास।

साधक पहले अभ्यास में गहरा और लम्बा श्वास लेता है। दूसरे अभ्यासक्रम में लघुबद्ध श्वास का अभ्यास किया जाता है। तृतीय क्रम में सूक्ष्म, शान्त और जमे हुए श्वास का अभ्यास किया जाता है। चतुर्थ अभ्यासक्रम में सहज कुम्भक की स्थिति होती है। इस स्थिति का निर्माण प्राणायाम, प्रलम्ब जाप और ध्यान से किया जाता है। प्राणायाम का सीधा प्रभाव शरीर पर गिरता है किन्तु मनोप्रनिधि पर चोट करने के लिये मन

का संकल्पबद्ध होना आवश्यक है। कितने ही जैनाचार्यों ने दीर्घ श्वास को उपयोगी माना है किन्तु तेज श्वास को नहीं। उनका मन्तव्य है कि तीव्र श्वास की चोट से शरीर और मन अत्यधिक शकान के कारण गिरिल हो जाते हैं, जितना के प्रति सावधानता की स्थिति नहीं होती। उस अवस्था में मूच्छी और शकान के कारण आने वाली तम्बा रुग्ण शून्यता से अपने-आप को बचाना भी कठिन हो जाता है। इसलिये श्वास को उखाड़ना नहीं चाहिये। उसे लम्बा और गहरा करना चाहिये। जितना श्वास धीमा होता है, शरीर में उतनी ही क्रियाशीलता न्यून हो जाती है। श्वास की सूक्ष्मता ही शान्ति है। प्रारम्भ में ऊर्जा का विस्तार और नया उत्पादन नहीं होता। केवल ऊर्जा का संरक्षण होता है और कुछ दिनों के पश्चात् वह संचित ऊर्जा मन को एक दिशागमी बनाकर उसे ध्येय में लगाती है। श्वास की मंदता से शरीर भी निष्क्रिय हो जाता है, प्राण शान्त हो जाते हैं। मन निर्विचार हो और अन्तर्भूतिस में तीव्रतम वैराग्य उद्बुद्ध हो जाता है। ज्यों-ज्यों श्वास संचल होता है, ज्यों-ज्यों यह भी संचल होता है। श्वास के स्थिर होने पर मन की चंचलता भी नष्ट हो जाती है। श्वास शरीर में रहा हुआ यंत्र है जिसके अधिक सक्रिय होने पर शरीरकेन्द्रों में उथल-पुथल भव जाती है और सामान्य होते ही उसमें एक प्रकार की शान्ति व्याप्त हो जाती है। श्वास की निष्क्रियता ही मन की शान्ति और समाधि है। जब हमें कोध आता है उस समय हमारी सांस की गति तीव्र हो जाती है पर ध्यान में श्वासगति शान्त होने से उसमें मन की स्थिरता होती है।

कायोत्सर्ग की योग्यता प्रतिक्रमण के पश्चात् पाती है। प्रतिक्रमण में पांगों की आलोचना हो जाने से चित्त पूर्ण रूप से निर्मल बन जाता है, जिससे धर्मध्यान और शुक्लध्यान में साधक एकाग्रता प्राप्त कर सकता है। यदि साधक बिना चित्तशुद्धि किये ही कायोत्सर्ग करता है तो उसे उतनी सफलता प्राप्त नहीं होती। एतदर्थं ही पठावश्यक में प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग का विधान किया है।

कायोत्सर्ग को सही रूप से सम्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि कायोत्सर्ग के दोषों से बचा जाये। प्रबन्धनसारोदार प्रभृति ग्रन्थों में कायोत्सर्ग के १९ दोष वर्णित हैं—१. घोटक दोष २. लता दोष ३. स्तंभकुड़य दोष ४. माल दोष ५. शबरी दोष ६. बधु दोष ७. निगड़ दोष ८. भस्त्रोत्तर दोष ९. स्तन दोष १०. उद्धिका दोष ११. संयती दोष १२. खलीन दोष १३. बायस दोष १४. कपित्य दोष १५. शीयोत्कम्पित दोष १६. भूक दोष १७. अंगुलिका भ्रू दोष १८. बारुणी दोष और १९. प्रज्ञा दोष।

इन दोषों का युक्त सम्बन्ध शरीर से तथा बैठने और खड़े रहने के आसन आदि से है। यतः साधक को इन दोषों से मुक्त होकर कायोत्सर्ग की साधना करनी चाहिये।

जैसे जैनधर्म में कायोत्सर्ग का विधान है, उस पर ग्रात्यधिक बल दिया है, वैसे ही न्यूनाधिक रूप में वह ग्रन्थ धार्मिक परम्पराओं में भी मान्य रहा है। बोधिचर्यावितार^१ ग्रन्थ में आचार्य शान्तिरक्षित ने लिखा है—सभी देहधारियों को जिस प्रकार सुख हो, वैसे ही यह शरीर मैंने न्यौद्योग्यवर कर दिया है। वे चाहे इसकी हत्या करें, निन्दा करें या इस पर धूल फैंकें, चाहे खेलें, चाहे हँसें, चाहे बिलास करें। मुझे इसकी क्या चिन्ता? क्योंकि मैंने शरीर उन्हें ही दे डाला है। इस प्रकार वे देह-व्युत्सर्जन की बात करते हैं। कायोत्सर्ग व्यानसाधना

१. चले वाते चलं चित्तं निष्पले निष्पलं भवेत्।

निष्पलं तं विजातीयात् श्वासो यत्र लयं गतः ॥
२. बोधिचर्यावितार ३। १२-१३

का ही एक प्रकार है। तथागत बुद्ध ने ध्यानसाधना पर बल दिया। ध्यानसाधना बौद्ध परम्परा में अतीत काल से चली आ रही है। विषयना आदि में भी देह के प्रति ममत्व हटाने का उपकरण है।

प्रस्तुतियान्

— योगदासनवित्ति

१. प्रवृत्तिप्रतिकूलतया आ-भर्यादिया रूपानं—प्रत्याख्यानम् । —यागशास्त्रवृत्ति
२. अविरतिस्वरूपप्रभूति प्रतिकूलतया आ-भर्यादिया आकारकरणस्वरूपया आख्यानं— कथनं प्रत्याख्यानम् । —प्रबचनसारोद्धारवृत्ति

३. पञ्चवक्षाण्मि कए, आसवदाराइ हुंति पिहियाइ ।
आसववुच्छेषणं तण्हा-वुच्छेषणं होइ ॥ —आवश्यकनियुक्ति १५९४

४. तण्हा-वोच्छेदेण उ, अउलोवसमो भवे मणुस्सारं ।
अउलोवसमेण पुणो, पञ्चवक्षाणं हवह सुद्ध ॥ —आवश्यकनियुक्ति, १५९५

केवलज्ञान, केवलदर्शन का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है और शाश्वत मुक्ति रूपी सुख प्राप्त होता है।^१

प्रत्याख्यान के मुख्य दो भेद हैं—१. मूलगुण-प्रत्याख्यान और २. उत्तरगुण-प्रत्याख्यान। मूलगुण-प्रत्याख्यान धावज्ञीवन के लिये ग्रहण किया जाता है। मूलगुणप्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं—१. सर्वमूलगुण-प्रत्याख्यान और २. देशमूलगुणप्रत्याख्यान। सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान में श्रमण के पांच महाब्रत पाते हैं और देशमूलगुणप्रत्याख्यान में श्रमणोपासक के पांच अणुब्रत पाते हैं। उत्तरगुणप्रत्याख्यान प्रतिदिन ग्रहण किया जाता है या कुछ दिनों के लिये। उत्तरगुणप्रत्याख्यान के भी देश उत्तरगुणप्रत्याख्यान और सर्व उत्तरगुणप्रत्याख्यान ये दो भेद हैं। ग्रहस्थों के लिये तीन गुणब्रत और चार शिक्षाब्रत, ये सात उत्तरगुणप्रत्याख्यान हैं। श्रमणों और श्रमणोपासक दोनों के लिये दस एकार के प्रत्याख्यान हैं। भगवतीमूलक,^२ स्थानांगवत्ति,^३ आवश्यक-नियुक्ति^४ और मूलाचार^५ में दस प्रत्याख्यानों का बर्णन है। जिसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

१. अनागत—पूर्वषण आदि पर्व में जो तप करना चाहिये, वह तप पहले कर लेना जिससे कि पूर्व के समय बृद्ध, छण, तपस्त्री, आदि की सेवा सहज रूप से की जा सके। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दी ने लिखा है—चतुर्दशी को किया जाने वाला उपवास प्रतिपदा को करना।

२. अतिक्रान्त—जो तप पर्व के दिनों में करना चाहिये, वह तप पर्व के दिनों में सेवा आदि का प्रसंग उपस्थित होने से न कर सके तो उसे बाद में अपर्व के दिनों में करना चाहिये। वसुनन्दी के अनुसार चतुर्दशी को किया जाने वाला उपवास प्रतिपदा को करना।

३. कोटिसहित—जो पूर्व तप चल रहा हो, उस तप को बिना पूर्ण किये ही अगला तप प्रारम्भ कर देना। जैसे—उपवास का पारणा किये बिना ही अगला तप प्रारम्भ करना। आचार्य अभ्यदेव ने भी स्थानांग-वृत्ति में यही अर्थ किया है। आचार्य बटुकेर ने मूलाचार में कोटि सहित प्रत्याख्यान का अर्थ लिखा है कि शक्ति की अपेक्षा उपवास आदि करने का संकल्प करना। वसुनन्दी के अनुसार यह संकल्प समन्वित प्रत्याख्यान है। जैसे—अगले दिन स्वाध्याय बेला पूर्ण होने पर यदि शक्ति रही तो मैं उपवास करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा।

४. नियन्त्रित—जिस दिन प्रत्याख्यान करने का विचार हो उस दिन रोग आदि विशेष बाधाएं उपस्थित हो जायें तो भी उन बाधाओं की परवाह किये बिना जो मन में प्रत्याख्यान धारण किया है, वह प्रत्याख्यान कर लेना। मूलाचार में इसका नाम विष्णित है, पर दोनों में अर्थभेद नहीं है। प्रस्तुत प्रत्याख्यान चतुर्दश पूर्वधारी जिनकल्पी श्रमण, दण पूर्वधारी श्रमण के लिये है, क्योंकि उनका संकल्पबल इतना सुदृढ़ होता है कि किसी भी प्रकार की कोई भी बाधा उनको निष्क्रिय से विचलित नहीं कर सकती। जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् जिनकल्प का विच्छेद हो गया है, इसलिये यह प्रत्याख्यान भी वर्तमान में नहीं है।

१. तत्त्वो चरित्तधर्मो, कम्मविदेषो तथो अपुवं तु ।

तत्त्वो केवलनाणं, तथो य भुक्षो सयासुक्षो ॥

—आवश्यकनियुक्ति, १५९६

२. भगवतीमूलक आर

३. स्थानांगवृत्ति पत्र ४७२-४७३

४. आवश्यकनियुक्ति, अठथयन ६

५. मूलाचार, पट्टावश्यक अधिकार, गाढा १४०-१४१

५. साकार—प्रत्याख्यान करते समय साधक मन में विशेष आकार की कल्पना करता है—यदि इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होगी तो मैं इसका स्थाग करता हूँ। इसरे शब्दों में यूँ कहा जा सकता है कि मन में अपवाद की कल्पना करके जो स्थाग किया जाता है, वह साकार प्रत्याख्यान है।

६. निराकार—यह प्रत्याख्यान किसी प्रकार का अपवाद रखे बिना किया जाता है। इस प्रत्याख्यान में दृढ़ मनोबल की आपेक्षा होती है। आचार्य अभ्युदेव ने पांचवें, छठे प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में लिखा है कि साकार प्रत्याख्यान में सभी प्रकार के अपवाद व्यवहार में लाये जा सकते हैं—पर अनाकार प्रत्याख्यान में महत्तर की आज्ञा आदि अपवाद भी व्यवहार में नहीं लाये जा सकते, तथापि अनाभोग और सहसाकार की छूट इनमें भी रहती है। वसुनन्दी ने आप्ति व्यवहार को हृदय लिखा है कि आप्ति नक्षत्र में अमुक तपस्या करनी है। नक्षत्र आदि के भेद के आधार पर लम्बे समय की तपस्या करना साकार प्रत्याख्यान है। नक्षत्र आदि का विचार किये बिना स्वेच्छा से उपवास आदि करना अनाकार प्रत्याख्यान है।

७. परिमाणश्रत—अमण भिक्षा के लिये जाते समय या आहार ग्रहण करते समय यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि मैं आज इतना ही ग्रास ग्रहण करूँगा। अथवा भोजन लेने के लिये गृहस्थ के यहीं जाते समय मन में यह विचार करना कि अमुक प्रकार का आहार प्राप्त होगा तो मैं ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। जैसे भिक्षुप्रतिमाधारी अमण दत्त आदि का परिमाण करके ही आहार लेते हैं। मूलाचार में परिमाणकृत के स्थान पर परिमाणगत शब्द आया है।

८. नीरब्लशेष—प्रश्न, पान, खादिम और स्वादिम इन चारों प्रकार के आहार का पूर्ण रूप से परित्याग करना। वसुनन्दी अमण का यह अविमत है कि यह प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिये होता है। पर श्वेताम्बर आगम साहित्य में इस प्रकार का कोई वर्णन नहीं है।

९. सांकेतिक—जो प्रत्याख्यान संकेत पूर्वक किया जाये, वह सांकेतिक प्रत्याख्यान है। जैसे मुद्री वोधकर या किसी वस्त्र में गांठ लगाकर—जब तक मैं मुद्री या गांठ नहीं खोलूँगा, तब तक कोई भी वस्तु मुच्छ में नहीं डालूँगा। जिस प्रत्याख्यान में साधक अपनी मुविद्धा के अनुसार प्रत्याख्यान करता है, वह सांकेतिक प्रत्याख्यान कहलाता है। मूलाचार में इसका नाम अद्वानगत है। वसुनन्दी अमण ने अद्वानगत प्रत्याख्यान का अर्थ मार्गविषयक प्रत्याख्यान किया है। यह अटवी, नदी आदि को पार करते समय उपवास करने की पड़ति का सूचक है। सहेतुक प्रत्याख्यान का अर्थ है—उपवास आदि अन्ते पर किया जाने वाला उपवास।

१०. अद्वा—समय विशेष की भर्यादा निश्चित करके प्रत्याख्यान करना। इस प्रत्याख्यान के अन्तर्गत (नमोक्कार सहित) नवकारसी, पोरसी, पूर्वार्द्ध, एकाशन, एकस्थान, आचाम्ल, उपवास, दिवमचरिम, अभियह, निविकृतिक, ये दस प्रत्याख्यान आते हैं। अद्वा का अर्थ काल है। आचार्य अभ्युदेव ने अद्वा का अर्थ पोरसी आदि कालमान के आधार पर किया जाने वाला प्रत्याख्यान किया है।

प्रत्याख्यान में श्रात्मा मन, बचन और काया की दुष्ट प्रवृत्तियों को रोककर शुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है। आत्मव का निरुद्धन होने से साधक पूर्ण निस्वृह हो जाता है, जिससे उसे आन्ति उपलब्ध होती है। प्रत्याख्यान में साधक जिन पदार्थों को ग्रहण करने की छूट रखता है, उन पदार्थों को ग्रहण करते समय आसक्त नहीं होता। प्रत्याख्यान से साधक के जीवन में अनासक्ति की विशेष जागृति होती है।

साधना के क्षेत्र में प्रत्याख्यान का विशिष्ट महत्त्व रहा है। प्रत्याख्यान में किसी भी प्रकार का दोष न

लगे, इसके लिये साधक को सतत जागरूक रहना चाहिये। इसीलिये आवश्यक में छह प्रकार की विशुद्धि का उल्लेख है। ये विशुद्धियाँ निम्नानुसार हैं—

१. अद्वानविशुद्धि—पञ्च महात्म, बारह व्रत आदि रूप जो प्रत्याख्यान है, उसका अद्वा के साथ पालन करना।

२. ज्ञानविशुद्धि—ज्ञिनकल्प, स्थविरकल्प, मूलगुण, उत्तरगुण आदि जिस प्रत्याख्यान का जैसा स्वरूप है, उस स्वरूप की समीचीन रूप से जानना।

३. विनयविशुद्धि—मन, वचन और काया साहृत प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान में जितनी वन्दनाओं का विद्यान है, उतनी वन्दना अवश्य करनी चाहिये।

४. अनुभावणाशुद्धि—प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय सद्गुरु के सम्मुख विनय मुद्रा में बड़े रहकर शुद्ध पाठ का उच्चारण करे।

५. अनुवालनाशुद्धि—भयंकर बन में या दुर्भिक्षा आदि में या रुग्ण अवस्था में व्रत का उत्साह के साथ सम्यक् प्रकार से पालन करे।

६. आवविशुद्धि—राग-द्वेष रहित पवित्र भावना से प्रत्याख्यान का पाठ करना।

आवश्यकतियुक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है कि प्रत्याख्यान में तीन प्रकार के दोष लगने की सम्भावना रहती है। अतः साधक को उन दोषों से बचना चाहिये। वे दोष इस प्रकार हैं—

१. अमुक व्यक्ति ने प्रत्याख्यान ग्रहण किया है, जिसके कारण उसका समाज में आदर हो रहा है। मैं भी इसी प्रकार का प्रत्याख्यान करूँ, जिससे मेरा आदर हो। ऐसी राग भावना को लेकर प्रत्याख्यान करना।

२. मैं ऐसा प्रत्याख्यान करूँ जिसके कारण जिन्होंने प्रत्याख्यान ग्रहण किया है, उनकी कीर्ति-कौमुदी मुँघली हो जाये। इस प्रकार दूसरों के प्रति दुर्भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना। इस प्रकार के प्रत्याख्यान में तीव्र द्वेष प्रकट होता है।

३. इस लोक में मुझे यश प्राप्त होगा और परलोक में भी मेरे जीवन में सुख और शान्ति की वंशी बजेगी, इस भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना। इसमें यश की अभिलाषा, वैभवप्राप्ति की कामना आदि रही हूँह है।

शिव ने जिजासा प्रस्तुत की—गुरुदेव ! किस साधक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है और किस साधक का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है ?

भगवान् ने समाधान दिया—जिस साधक को जीव-अजीव का परिज्ञान है, प्रत्याख्यान किस उद्देश से किया जा रहा है, इसकी पूर्ण जानकारी है, उस साधक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। जिस साधक को जीव-अजीव का परिज्ञान नहीं है, जो अज्ञान की प्रधानता के कारण प्रत्याख्यान करता हुआ भी प्रत्याख्यान के सर्व को नहीं जानता, उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। अतः ऐसा प्रत्याख्यान करने वाला असंयत है, अविरत है और एकान्त बाल है।¹

१. एवं खलु से दुष्प्रत्याख्याने हि सब्बपाणे हि जाव सब्बसत्ते हि पञ्चक्खायमिति बद्मणो नो सञ्च भासइ; मोस भासइ : : : : —भगवती दार

प्रवचनसारोद्धार,^१ योगशास्त्र^२ आदि ग्रन्थों में प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाले साधक और ग्रहण करने वाले साधक की योग्यता और अयोग्यता को लक्ष्य में रखकर चतुर्भी का प्रतिपादन किया है—

१. प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला साधक भी विवेकी हो और प्रत्याख्यानप्रदाता युह भी शीतार्थ हो तो वह पूर्ण शुद्ध प्रत्याख्यान है।

२. प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला प्रत्याख्यान के रहस्य को नहीं जानता परं प्रत्याख्यान प्रदान करने वाला युह प्रत्याख्यान के मर्म को जानता है और वह प्रत्याख्यान करने वाले शिष्य को प्रत्याख्यान का मर्म सम्यक् प्रकार से समझा देता है तो शिष्य का प्रत्याख्यान सही प्रत्याख्यान हो जाता है। यदि वह इसके मर्म को नहीं समझता है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

३. प्रत्याख्यान प्रदान करने वाला युह प्रत्याख्यान के मर्म को नहीं जानता है किन्तु जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रहा है, वह प्रत्याख्यान के रहस्य को जानता है, तो वह प्रत्याख्यान शुद्ध प्रत्याख्यान है। यदि प्रत्याख्यान-जाता युह विद्यमान हों, उनकी उपस्थिति में भी परम्परा आदि की दृष्टि से ग्रसीतार्थ से प्रत्याख्यान ग्रहण करना मनुचित है।

४. प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला प्रत्याख्यान के मर्म को नहीं जानता और जिससे प्रत्याख्यान ग्रहण करना है, वह भी प्रत्याख्यान के रहस्य से अनभिज्ञ है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

षडाब्दश्यक में प्रत्याख्यान सुमेह के स्थान पर है। प्रत्याख्यान से भविष्य में आने वाली अन्त की सभी क्रियाएँ इक जाती हैं और साधक नियमों-उपनियमों का सम्पूर्ण पालन करता है। उत्तराध्ययन में प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए निम्न प्रकार बताये हैं—

१. संभोग-प्रत्याख्यान^३—अमण्डों द्वारा लाये हुए आहार को एक स्थान पर मण्डलीबद्ध बैठकर खाने का परित्याग करना। इससे जीव स्वावलम्बी होता है और अपने द्वारा प्राप्त लाभ से ही सञ्चुष्ट रहता है।

२. उपश्रि-प्रत्याख्यान^४—वस्त्र आदि उपकरणों का त्याग करना। इससे स्वाध्याय आदि करने में विघ्न उपस्थित नहीं होता। आकौक्षा रहित होने से वस्त्र आदि मार्गने की और उनकी रक्षा करने की उसे इच्छा नहीं होती तथा मन में संक्लेश भी नहीं होता।

३. आहार-प्रत्याख्यान^५—आहार का परित्याग करने से जीवन के प्रति ममत्व नहीं रहता। निर्ममत्व होने से आहार के अभाव में भी उसे किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं होती।

४. योग-प्रत्याख्यान^६—मन, वचन और काम सम्बन्धी प्रवृत्ति को रोकना योग-प्रत्याख्यान है। यह

१. जाणगो जाणगसगासे, अजाणगो जाणगसगासे, जाणगो अजाणगसगासे, अजाणगो अजाणगसगासे।

—प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

२. योगशास्त्र, स्वोपजवृत्ति

३. उत्तराध्ययन २९।३३

४. उत्तराध्ययन २९।३४

५. उत्तराध्ययन २९।३५

६. उत्तराध्ययन २९।३७

चीदहर्वें गुणस्थान में प्राप्त होता है। ऐसा साधक नूतन कर्मों का बन्ध नहीं करता बरन् पूर्वसंचित कर्मों को सम करता है।

५. सद्भाव-प्रत्याख्यान^१—सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का परित्याग कर जीतराग अवस्था को प्राप्त करता। इससे जीव सभी प्रकार के कर्मों से भ्रुत्त हो जाता है।

६. शरीर-प्रत्याख्यान^२—इससे अशरीरी सिद्धावस्था प्राप्त होती है।

७. सहाय-प्रत्याख्यान^३—अपने कार्य में किसी का भी सहयोग न लेना। इससे जीव एकत्रभाव को प्राप्त करता है। एकत्रभाव प्राप्त होने से वह शब्दविहीन, कलहविहीन, संयमबहुल तथा सुमाधिबहुल हो जाता है।

८. कथाय-प्रत्याख्यान^४—समान्य रूप से कथाय को संयमी साधक जीतता ही है, जिससे साधक कर्मों का बन्ध नहीं करता। कथायों पर विजय प्राप्त करने से उसे भनोऽ और अभनोऽ विषमों के प्रति ममत्व या द्वेष नहीं होता। इस प्रकार उत्तराध्ययन में प्रत्याख्यानों के प्रकार व उसके फल निरूपित किये हैं। प्रत्याख्यान से भविष्य में होने वाले परपकृत्य हक जाते हैं और साधक का जीवन संयम के सुहावने आत्मोक से जगमगाने लगता है।

इस प्रकार षड्बाह्यक साधक के लिये अवश्य करणीय हैं। साधक आहे श्रावक हो अथवा श्रमण, वह इन क्रियाओं को करता ही है। ही, इन दोनों की गहराई और अनुभूति में तीव्रता, मंदता हो सकती है और होती है। श्रावक की अपेक्षा श्रमण इन क्रियाओं को भौतिक तत्त्वीनता के साथ कर सकता है क्योंकि वह संसार-त्यागी है, आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा विरत है। इसी कारण उसकी साधना में श्रावक की अपेक्षा भौतिक नेजस्विता होती है। षड्बाह्यकों का साधक के जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। आवश्यक से जहाँ आड्यात्मिक गुदि होती है, वहाँ लौकिक जीवन में भी समता, नग्रता, कामाभाव आदि सद्गुणों की वृद्धि होने से आनन्द के निर्मल निर्झर बहने लगते हैं।

व्याख्यासाहित्य

आवश्यकसूत्र एक ऐसा महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि उस पर सबसे भौतिक व्याख्याएँ लिखी याई हैं। इसके मुख्य व्याख्याप्रश्न में हैं—

नियुक्ति, भाष्य, चूणि, वृत्ति, स्तवक (टब्बा) और हिन्दी विवेचन।

आगमों पर दस नियुक्तियां प्राप्त हैं। उन दस नियुक्तियों में प्रथम नियुक्ति का नाम आवश्यकनियुक्ति है। आवश्यकनियुक्ति में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है। उसके पश्चात् की नियुक्तियों में उन विषयों की चर्चाएँ न कर आवश्यकनियुक्ति को देखने का सकेत किया गया है। अन्य नियुक्तियों को समझने के लिये आवश्यकनियुक्ति को समझना आवश्यक है। इसमें सर्वप्रथम उपोद्घात है, जो भूमिका के रूप में है। उसमें ८८० गाथाएँ हैं। प्रथम पाँच ज्ञानों का विस्तार से विस्तृप्त है।

१. उत्तराध्ययन २९।४१

२. उत्तराध्ययन २९।३८

३. उत्तराध्ययन २९।३९

४. उत्तराध्ययन २९।३६

ज्ञान के वर्णन के पश्चात् निर्युक्ति में बढ़ावश्यक का निरूपण है। उसमें सर्वप्रथम सामायिक है। चारित्र का प्रारम्भ ही सामायिक से होता है। मुक्ति के लिये ज्ञान और चारित्र ये दोनों आवश्यक हैं। सामायिक का अधिकारी श्रुतज्ञानी होता है। वह ध्यय, उपशम, अयोपशम कर केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त करता है। सामायिकश्रुत का अधिकारी ही तीर्थकर जैसे गौरवशाली पद को प्राप्त करता है। तीर्थकर केवल-ज्ञान होने के पश्चात् जिस श्रृत का उपदेश करते हैं—वही जिनप्रबचन हैं। उस पर विस्तार से चिन्तन करने के पश्चात् सामायिक पर उहेष्ट, निर्लेख, निर्गम आदि २६ वातों के द्वारा विवेचन किया गया है। मिथ्यात्व का निर्गमन किस प्रकार किया जाता है, इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए निर्युक्तिकार ने महावीर के पूर्व भवों का वर्णन, उसमें कुलकरों की चर्चा, भगवान् ऋषभदेव का जीवन-परिचय आदि विस्तृत रूप से दिया है। निहितों का भी निरूपण है।

नय दृष्टि से सामायिक पर चिन्तन करने के पश्चात् सम्बन्ध, श्रृत और चारित्र ये तीन सामायिक के भेद किये गये हैं। जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप से रमण करती है, जिसके अन्तर्मनिस में घाणिमात्र के प्रति समर्थाव का समुद्र ठाठे मारता है—वही सामायिक का सञ्चार अधिकारी है। सामायिकमूल्य के प्रारम्भ में नमस्कार महामन्त्र आता है। इसलिये नमस्कार मंत्र की उत्पत्ति, निशेष, एट, पदार्थ, प्रहृष्टणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, अम, प्रयोजन और फल—इन व्याख्याह दृष्टियों से नमस्कार महामन्त्र पर चिन्तन किया गया है जो साधक के लिये बहुत ही उपयोगी है। (सर्वविरति) सामायिक में तीन करण और तीन योग से साधक प्रवृत्ति का त्याग होता है।

दूसरा अध्ययन चतुर्विंशतिसूत्र का है। इसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव इन चाहे निषेषों की दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्ययन बन्दना का है। चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म, ये बन्दना के पर्यायवाची हैं। बन्दना किसे करनी चाहिये? किसके द्वारा होनी चाहिये? कब होनी चाहिये? कितनी बार होनी चाहिये? कितनी बार सिर झुकना चाहिये? कितने आवश्यकों से शुद्धि होनी चाहिये? कितने दोषों से मुक्ति होनी चाहिये? बन्दना किसलिये करनी चाहिये? प्रभृति नौ वातों पर विचार किया गया है। वही अमण बन्दनीय है जिसका आचार उत्कृष्ट है और विचार निर्मल है। जिस समय वह प्रशान्त, आश्वस्त और उपशान्त हो, उसी समय बन्दना करनी चाहिये।

चतुर्थ अध्ययन का नाम प्रतिक्रमण है। प्रमाद के कारण आत्मभाव से जो आत्मा मिथ्यात्व आदि परस्थान में जाता है, उसका पुनः अपने स्थान में आना प्रतिक्रमण है। प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गहरी, शुद्धि—ये प्रतिक्रमण के पर्यायवाची हैं। इनके अर्थ को समझाने के लिये निर्युक्ति में अनेक दृष्टान्त दिये गये हैं। नागदत्त आदि की कथाएँ दी गई हैं। इसके पश्चात् आलोचना, निरपलाप, आपत्ति, दृढ़धर्मता आदि ३२ योगों का संग्रह किया गया है और उन्हें समझाने के लिये महागिरि, स्थूलभास्त्र, धर्मघोष, सुरेन्द्रदत्त वारतक, वैद्य धनवन्नतरि, करकण्ड, आर्य पुष्पभूति आदि के उदाहरण भी दिये गये हैं। साथ ही स्वाध्याय-प्रस्वाध्याय के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है।

पाचवें अध्ययन में कायोत्सर्ग का निरूपण है। कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग ये एकार्थवाची हैं। कुछ दोष आलोचना से ठीक होते हैं तो कुछ दोष प्रतिक्रमण से और कुछ दोष कायोत्सर्ग से ठीक होते हैं। कायोत्सर्ग से देह और बुद्धि की जड़ता मिटती है। सुख-दुःख को सहन करने की क्षमता समुत्पन्न होती है। उसमें अनित्य,

भशरण आदि द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन होता है। मन की चंचलता नष्ट होकर शुभ ध्यान का अव्याप्ति निरन्तर बहता है। नियुक्तिकार ने शुभ ध्यान पर चिन्तन करते हुए कहा है कि अन्तमुहूर्त तक जो चित्त की एकाग्रता है, वही ध्यान है। उस ध्यान के आतं, रीढ़, धर्म और शुक्ल ये चार प्रकार बताये हैं। प्रथम दो ध्यान संसार-अभिवृद्धि के हेतु होने से उन्हें प्रणालयन कहा है और अन्तिम दो ध्यान मोक्ष का कारण होने से प्रशस्त हैं। ध्यान और कायोत्सर्व के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की जानकारी भी गई है जो ज्ञानदर्ढक है। श्रमण को अपने सामर्थ्य के अनुसार कायोत्सर्व करना चाहिये। शक्ति से अधिक समय तक कायोत्सर्व करने से अनेक प्रकार के दोष समुत्पन्न हो सकते हैं। कायोत्सर्व के समय कपटपूर्वक निद्रा लेना, सूत्र और अर्ध की प्रतिपृच्छा करना, कांटा निकालना, लघुर्णका आदि करने के लिये चले जाना उचित नहीं है। इससे उस कार्य के प्रति उपेक्षा प्रकट होती है। कायोत्सर्व के घोटक आदि १९ दोष भी बताए हैं। जो देहबृद्धि से परे है, वही अक्षति कायोत्सर्व का सच्चा अधिकारी है।

छठठे अध्ययन प्रत्याख्यान का प्रत्याख्यान, प्रत्याख्याता, प्रत्याख्येय, पर्वद, कथनविधि और फल इन छह दृष्टियों से विवेचन किया गया है। प्रत्याख्यान के नाम, स्थापना, द्रव्य, अदित्सा, प्रतिषेध और भाव, ये छह प्रकार हैं। प्रत्याख्यान की विशुद्धि श्रद्धा, ज्ञान, विनय, अनुभावणा, अनुपालन और भाव इन छह प्रकार से होती है। प्रत्याख्यान से आश्रव का निरुद्धन होता है। समता की सरिता में अवगाहन किया जाता है। चारित्र की आराधना करने से कर्मों की निर्जरा होती है। अपूर्वकरण कर क्षपकश्रेणी पर आरुद्ध होकर केवल जात प्राप्त होता है और अन्त में मोक्ष का अव्यावाध मुख मिलता है। प्रत्याख्यान का अधिकारी वही साधक है जो विक्षिप्त और अविनीत न हो।

आवश्यकनियुक्ति में श्रमण जीवन को तेजस्वी-वर्चस्वी बनाने वाले जितने भी नियमोपनियम हैं, उन सबकी चर्चा विस्तार से की गई है। प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का प्रतिपादन भी इस नियुक्ति में हुआ है। प्रस्तुत नियुक्ति के रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं। इतिहासविज्ञों का अभिमत है कि जैन इतिहास में भद्रबाहु नामक अनेक आचार्य हुए हैं, उनमें एक चतुर्दश पूर्वधारी आचार्य भद्रबाहु नेपाल में महाप्राणायाम नामक योग की साधना करने गए थे, वे श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से छेदसूत्रकार थे। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वे भद्रबाहु नेपाल न जाकर दक्षिण में गए थे। पर हमारी दृष्टि से वे दोनों भद्रबाहु एक न होकर पृथक्-पृथक् रहे होंगे। क्योंकि जो नेपाल गये थे वे दक्षिण में नहीं गए हैं और जो दक्षिण में गए थे वे नेपाल नहीं गए थे। नियुक्तिकार भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के सहोदर भ्राता थे। उनका समय विक्रम की छठी शताब्दी है। आगमप्रभाकर पुष्पविजयजी का मन्त्रध्य है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने नियुक्तियां प्रारम्भ की और द्वितीय भद्रबाहु तक उन नियुक्तियों में विकास होता रहा। हस प्रकार नियुक्तियों में कुछ गाथाएं बहुत ही प्राचीन हैं तो कुछ अवधीन हैं। वर्तमान में जो नियुक्तियों हैं, वे चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के द्वारा पूर्ण रूप से रचित नहीं हैं। क्योंकि नियुक्तिकार भद्रबाहु ने छेदसूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार किया है। हमारे अभिमतानुसार समवायांग, स्थानांग एवं नम्बी में जहाँ पर द्वादशांगी का परिचय प्रदान किया गया है, वहाँ पर 'संखेज्जाओ निज्जुलीओ' यह पाठ प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि नियुक्तियों की परम्परा आगम काल में भी थी। प्रत्येक आचार्य या उपाध्याय अपने शिष्यों को आगम का रहस्य हृदयंगम कराने के लिये अपनी-अपनी दृष्टि से नियुक्तियों की रचना करते रहे होंगे। जैसे वर्तमान प्रोफेसर विद्यायियों को नोट्स लिखते हैं, वैसे ही नियुक्तियों रही होंगी। उन्हीं को मूल आधार बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने नियुक्तियों को अन्तिम रूप दिया होगा।

नियुक्तियों के पश्चात् भाष्य साहित्य लिखा गया। नियुक्तियों की व्याख्याशैली बहुत ही शुद्ध और संक्षिप्त थी। उनमें विषय विस्तार का अभाव था। उसका मुख्य लक्ष्य पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना था। नियुक्तियों के गम्भीर रहस्यों को प्रकट करने के लिये विस्तार से प्राकृत भाषा में जो पद्धत्मक व्याख्याएं लिखी गईं, वे भाष्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। नियुक्तियों के शब्दों में जिसे हुए अर्थवाहुत्य को अभिव्यक्त करने का श्रेय भाष्यकारों को है। भाष्य में अनेक स्थलों पर मानधी और औरसेनी के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। मुख्य छन्द आर्या है। भाष्य साहित्य में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियों, लोकिक कथाओं और परम्परागत धरणों के भाचार-विचार की विधियों का प्रतिपादन है।

भाष्य

भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का नाम जैन इतिहास में गौरव के साथ उड़ाकित है। आवश्यकसूत्र पर उन्होंने विशेषावश्यकभाष्य की रचना की। आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए हैं—१. मूलभाष्य २. भाष्य और ३. विशेषावश्यकभाष्य। पहले के दो भाष्य बहुत ही संक्षेप में लिखे गये हैं। उनकी बहुत सी गाथाएं विशेषावश्यकभाष्य में मिल गई हैं। इसलिये विशेषावश्यकभाष्य दोनों भाष्यों का भी प्रतिनिधित्व करता है। यह भाष्य केवल प्रथम अव्ययन सामायिक पर है। इसमें ३६०३ गाथाएं हैं।

प्रस्तुत भाष्य में जैनागमसाहित्य में वर्णित जितने भी महत्वपूर्ण विषय हैं, प्रायः उन सभी पर चिन्तन किया है। ज्ञानवाद, प्रमाणवाद, आचार, नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मवाद पर विशद सामग्री का आकलन-संकलन है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जैन दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ की गई है। इसमें जैन आगमसाहित्य की भाव्यताओं का तार्किक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। आगम के गहन रहस्यों को समझने के लिए यह भाष्य बहुत ही उपयोगी है और इसी भाष्य का अनुसरण परवर्ती विज्ञों ने किया है। सर्वप्रथम प्रबचन को नमस्कार किया है, उसके पश्चात् लिखा है कि ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष प्राप्त होता है। आवश्यक स्वर्य ज्ञान-क्रियामय है। उसी से सिद्धि सम्प्राप्त होती है। जैसे कृष्ण वैद्य बालक के लिये योग्य आहार की अनुभूति देता है, वैसे ही भगवान् ने साधकों के लिये आवश्यक की अनुभूति प्रदान की है। श्रेष्ठ कार्य में विविध प्रकार के विद्वन् उपस्थित होते हैं। उनकी शान्ति के लिये मंगल का विधान है। गृन्थ में मंगल तीन स्थानों पर होता है। मंगल शब्द पर निश्चेप दृष्टि से चिन्तन किया है। ज्ञान भावमंगल है। प्रतः ज्ञान के पांचों भेदों का बहुत विस्तार के साथ विवरण है।

आवश्यक पर नाम शादि निष्ठों से चिन्तन किया गया है। द्रव्य-आवश्यक, आगम और नो-आगम रूप दो प्रकार का है। अधिकाधर पाठ के लिये राजपुत्र कुणाल का उदाहरण दिया है। हीनाधर पाठ के लिये विद्याधर का उदाहरण दिया है। उभय के लिये बाल का उदाहरण दिया है और श्रातुर के लिये अतिमात्रा में भोजन और भेषज विपर्यय के उदाहरण दिये हैं। लोकोत्तर नोआगम रूप द्रव्यावश्यक के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये साध्वाभास का दृष्टान्त देकर समझाया है। भाव-आवश्यक भी आगम रूप और नोआगम रूप दो प्रकार का है। आवश्यक के अर्थ का जो उपयोग रूप परिणाम है वह आगम रूप भाव-आवश्यक है। ज्ञान-क्रिया उभय रूप जो परिणाम हैं, वह नोआगम रूप भाव-आवश्यक है। घडावश्यक के पर्याय और उसके अर्थाधिकार पर विचार किया गया है।

सामायिक पर चिन्तन करते हुए कहा है— समभाव ही सामायिक का लक्षण है। सभी द्रव्यों का आधार आकाश है, वैसे ही सभी सद्गुणों का आधार सामायिक है। सामायिक के दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन भेद

है। किसी महानगर में प्रवेश करने के लिए अनेक द्वार होते हैं, वैसे ही सामाजिक ग्रन्थयन के उपक्रम, निष्कैप, अनुगम और नव—ये चार द्वार हैं। इन चारों द्वारों का विस्तार से निरूपण किया गया है। सामाजिकश्रृत का सार सामाजिक है। चारित्र ही मुक्ति का साक्षात् कारण है। ज्ञान से वस्तु का यथार्थ परिज्ञान होने से चारित्र की विशुद्धि होती है। केवलज्ञान होने पर भी जीव मुक्त नहीं होता, जब तक उसे सर्व संवर का लाभ न हो जाये। सामाजिक का लाभ जीव को कब उपलब्ध होता है? इस पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि आठों कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितियों के रहते हुए जीव को सामाजिक का लाभ नहीं हो सकता। नाम, गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटा-कोटि सागरोपम है। मोहनीय की सत्तर कोटा-कोटि सागरोपम है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की लीस कोटा-कोटि सागरोपम है। आयुकर्म की तेतीस सागरोपम है। मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बंधती है, किन्तु आयुकर्म की स्थिति के लिए निश्चित नियम नहीं है। वह उत्कृष्ट और मध्यम और जघन्य तीनों प्रकार की स्थिति बन्ध सकती है। मोहनीय के अतिरिक्त ज्ञानावरण आदि किसी भी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होने पर मोहनीय या अन्य कर्म की उत्कृष्ट या मध्यम स्थिति का बन्ध होता है किन्तु आयुकर्म की स्थिति जघन्य भी बंध सकती है। सम्यक्त्व, श्रुत, देशद्रवत और सर्वव्रत, इन चार सामाजिकों में से जिसने उत्कृष्ट कर्म-स्थिति का बन्ध किया है, वह एक भी सामाजिक को प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु उसे पूर्वप्रतिपक्ष विकल्प से होती भी है और नहीं भी होती। जैसे अनुत्तरविमानवासी देव में पूर्वप्रतिपक्ष सम्यक्त्व, श्रुत होते हैं, शेष में नहीं। जिनकी ज्ञानावरण आदि की जघन्य स्थिति है, उनको भी इन चार सामाजिकों में से एक का भी लाभ नहीं होता, क्योंकि उसे पहले ही प्राप्त हो गई है। अतः पुनः प्राप्त करने का प्रश्न ही समुपस्थित नहीं होता। आयुकर्म की जघन्य स्थिति वाले को न पहले प्राप्त होती है और न वह प्राप्त ही कर सकता है।

इसके पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्ति के कारणों पर चिन्तन करते हुए ग्रन्थ-भेद का स्वरूप स्पष्ट किया है। आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति, देशन्यून कोटा-कोटि सागरोपम की अवशेष रहती है तब आत्मा सम्यक्त्व के अभिमुख होता है। उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। उसमें से पल्योपम पृथक्त्व का क्षय होने पर देशविरति—आदकत्व की प्राप्ति होती है। उसमें में भी संच्यात सागरोपम का क्षय होने पर सर्वविरति चारित्र की उपलब्धि होती है। उसमें से संच्यात सागरोपम का क्षय होने पर उपरमश्रेणी प्राप्त होती है। उसमें से भी संच्यात सागरोपम का क्षय होने पर अपक्षेणी प्राप्त होती है।

कथाय के उदय के कारण दर्शन आदि सामाजिक प्राप्त नहीं हो सकती। यदि कदाचित् प्राप्त भी हो गई तो वह पुनः नष्ट हो जाती है। जिससे कर्मों का लाभ हो वह कथाय है। अनन्तानुबन्धी-चतुर्ङ्क, अप्रत्याख्यानी-चतुर्ङ्क, प्रत्याख्यानी-चतुर्ङ्क इन बारह प्रकार के कथायों का क्षय, उद्यशम या क्षयोपशम होने से चारित्र की प्राप्ति होती है। सामाजिक में सावध योग का त्याग होता है। वह इत्वर और यावत्कथिक के रूप में दो प्रकार की है। इत्वर सामाजिक अल्पकालीन होती है और यावत्कथिक जीवनपर्यन्त के लिए। भाष्यकार ने सामाजिक, छेदोपस्थापना, परिहारविषुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथार्थात् चारित्र का विस्तार से विवेचन किया है।

सामाजिक चारित्र का उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल, पुरुष, कारण, प्रत्यय, लक्षण, नव, समवतार, अनुमत, किम्, कतिविद्य, कस्य, कुश, केषु, कथम्, कियच्चित्र, कति, सान्तर, अविरहित, भव, आकर्ष, स्पर्शन् और निष्कृति, इन छब्बीस द्वारों से वर्णन किया है। सामाजिक सम्बन्धी जितनी भी महत्वपूर्ण बातें हैं, वे सभी इन द्वारों में समाविष्ट हो गई हैं। तृतीय निर्गम द्वार में सामाजिक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए प्राचार्य ने भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों की चर्चा की है। सामाजिक के ग्यारहवें द्वार समवतार पर विवेचन करते

हुए आचार्य ने चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग के प्रधकरण की चर्चा की है तथा निष्क्रियों का भी वर्णन है। निष्क्रियाद पर विस्तार से चर्चा है। अन्त में "करेमि भन्ते" प्रादि सामाधिक सूत्र के मूल पदों पर विचार किया गया है।

जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण की प्रबल तार्किक शक्ति, अभिव्यक्तिकुशलता, प्रतिपादन की पटुता तथा विवेचन की विशिष्टता को निहार कर कौन येधादी मुग्ध नहीं होगा? भाव्यसाहित्य में विशेषावश्यकभाष्य का अनूठा स्थान है। विशेषावश्यकभाष्य आचार्य जिनभद्र की अन्तिम रचना है। उन्होंने इस पर स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखनी प्रारम्भ की थी, किन्तु पूर्ण होने से पहले ही उनका आयुष्य पूर्ण हो गया था, जिससे वह वृत्ति अपूर्ण ही रह गई। विज्ञों का अभिमत है कि जिनभद्र गणी का उत्तरकाल विक्रम संवत् ६५० से ६६० के आस-पास होना चाहिए।

चूणिसाहित्य

नियुक्ति और भाष्य की रचना के पश्चात् जैन मनीषियों के अन्तर्मानिस में आगमों पर गदात्मक व्याख्या साहित्य लिखने की भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने शुद्ध प्राकृत में और संस्कृत मिथित प्राकृत में व्याख्याओं की रचना की, जो आज चूणिसाहित्य के रूप में दिखत है। चूणिसाहित्य के निमत्ताओं में जिनदासगणि महत्तर का मूर्धन्य स्थान है। उन्होंने सात चूणियाँ लिखीं। उसमें आवश्यक चूणि एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

यह चूणि नियुक्ति के अनुसार लिखी गई है, भाष्य याथाओं का उपयोग भी यक्त्तव्य हुआ है। भुज्य रूप से भाषा प्राकृत है किन्तु संस्कृत के श्लोक, गदा व गद्य पंक्तियों भी उद्भूत की गई हैं। भाषा प्रवाहयुक्त है। यैली में लालित्य व ओज है। ऐतिहासिक कथाओं की प्रचुरता है। यह चूणि अन्य चूणियों से विस्तृत है। श्रोधनियुक्ति चूणि, गोविन्दनियुक्ति, वसुदेवहिण्डी प्रभुति अनेक ग्रन्थों का उल्लेख इसमें हुआ है। सर्वप्रथम मंगल की चर्चा की गई है। भावमंगल में ज्ञान का निरूपण है। श्रुतज्ञान की दृष्टि से आवश्यक पर निष्क्रेप दृष्टि से चिन्तन किया है। द्रव्यावश्यक और भावावश्यक पर प्रकाश ढाला है। श्रुत का प्रखण्ण तीर्थकर करते हैं। तीर्थकर कौन होते हैं—इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् महावीर का जीव मिथ्यात्व से किस प्रकार मुक्त हुआ, यह प्रतिपादन करने के लिये महावीर के पूर्व भवों चर्चा की गई है। महावीर का जीव मरीचि के भव में कृष्णभद्रे का पौत्र था। अतः भगवान् कृष्णभद्रे के पूर्वभव और कृष्णभद्रे के जीवन पर प्रकाश ढाला है। सन्नाद् भरत का भी सम्पूर्ण जीवन इसमें आया है। भगवान् महावीर का जीव अनेक भवों के पश्चात् महावीर बना। महावीर के जीवन में जो भी उपसर्ग आये, उसका सविस्तृत निरूपण चूणि में हुआ है। नियुक्ति की तरह निष्क्रियाद पर विचार की चर्चा है। उसके पश्चात् द्रव्य, पर्याय, नयदृष्टि से सामाधिक के भेद, उसका स्वामी, उसकी प्राप्ति का क्षेत्र, काल, दिशा, सामाधिक करने वाला, उसकी प्राप्ति के हेतु, आनन्द, कामदेव का दृष्टान्त, अनुकम्पा, इन्द्रनाग, पुण्यशाल, शिवराजिं गंगादत्त, दशार्थभद्र, इलामुत्र आदि के दृष्टान्त दिये हैं। सामाधिक की स्थिति, सामाधिक वालों की संख्या, सामाधिक का अन्तर, सामाधिक का आकर्ष, समभाव की महत्तर का प्रतिपादन करने के लिये दमदत्त एवं मेतार्थ का दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट किया गया है। इसके पश्चात् सूत्रस्पृशिक नियुक्ति की चूणि है। उसमें नमस्कार महामन्त्र, निष्क्रेप दृष्टि से स्नेह, राग व द्वेष के लिये कमशः श्रहेन्द्रक, धर्महचि तथा जमदग्नि का उदाहरण दिया गया है। श्रिरहन्तों व सिद्धों को नमस्कार, श्रोत्पत्तिकी आदि चारों प्रकार की बुद्धि, कर्म, समुद्घात, योगनिरोध, सिद्धों का अपूर्व आनन्द, आचार्य उपाध्यायों और साहुओं को

नंमस्कार एवं उसके प्रयोगन पर प्रकाश डाला है। उसके बाद सामायिक के पाठ 'करेमि भन्ते' की व्याख्या करके छह प्रकार के कर्म का विस्तृत निरूपण किया गया है।

चतुर्विशतिसूत्र में स्तव, लोक, उद्घोत, धर्म-न्तीर्थकर आदि पदों पर निष्क्रेप दृष्टि से चिन्तन किया है। शृंतीय चतुर्विशतिसूत्र में कन्दन के योग्य धर्मण के स्वरूप का प्रतिपादन किया है और चितिकर्म, कृतिकर्म पूजाकर्म, विनयकर्म को दृष्टान्त देकर समझाया गया है। अनन्य को बन्दन करने का निषेध किया गया है।

चतुर्थ अध्ययन में प्रतिकर्मण की परिभाषा प्रतिक्रामक, प्रतिक्रमण, प्रतिक्रान्तव्य इन तीन दृष्टियों से की गई है। प्रतिचरण, परिहरणा, बारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्ही, शुद्धि और आलोचना पर विवेचन करते हुए उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। कायिक, वाचिक, मानसिक, अतिचार, ईर्यापथिकी विराषना, प्रकाम शब्द्या, भिक्षाचर्या, स्वाध्याय आदि में लगने वाले अतिचार, चार विकाश, चार ड्यान, पांच क्रिया, पांच कामगुण, पांच महाव्रत, पांच समिति आदि का प्रतिपादन किया है। शिक्षा के ग्रहण और असेवन ये दो भेद किए हैं। अभ्यन्तु कुमार का विस्तार से जीवन-परिचय दिया है। साथ ही सज्जाट श्रेणिक, चेल्लणा, मुरसा, कोणिक, चेटक, उदायी, महापश्चान्त्र, शकड़ाल, वरहचि, स्थूलभृष्ट आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र भी दिये गये हैं। व्रत की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—प्रज्ञवलित श्रमित में प्रवेश करना थेयस्कर है, किन्तु व्रत का भंग करना अनुचित है। विशुद्ध कार्य करते हुए भरना अष्ट है, किन्तु शील से स्वलित हो कर जीवित रहना अनुचित है।

पञ्चम अध्ययन में कायोत्सर्ग का वर्णन है। कायोत्सर्ग एक प्रकार से आध्यात्मिक द्रष्टव्यकित्सा है। कायोत्सर्ग में काय और उत्सर्ग ये दो पद हैं। काय का नाम, स्थापना आदि बारह प्रकार के निष्क्रेपों से वर्णन किया है और उत्सर्ग का छह निष्क्रेपों से। कायोत्सर्ग के चेष्टाकायोत्सर्ग और अभिभवकायोत्सर्ग ये दो भेद हैं। गमन आदि में जो दोष लगा हो उसके पाप से निवृत्त होने के लिये चेष्टाकायोत्सर्ग किया जाता है। हृषि आदि से पराजित होकर जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह अभिभवकायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के प्रशस्त एवं अप्रशस्त ये दो भेद हैं और फिर उचित आदि नहीं भेद हैं। श्रुत, सिद्ध की सुति पर प्रकाश डालकर क्षामणा की विधि पर विचार किया है। अन्त में कायोत्सर्ग के दोष, फल आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।

षष्ठ अध्ययन में प्रत्याख्यान का विवेचन है। इसमें सम्यक्त्व के अतिचार, धावक के बारह व्रतों के अतिचार, दस प्रत्याख्यान, छह प्रकार की विशुद्धि, प्रत्याख्यान के मुण्ड, आगार आदि पर अनेक दृष्टान्तों के साथ विवेचन किया है।

इस प्रकार आदश्यकचूणि जिनदासगणी महत्तर की एक महनीय कृति है। धावश्यकनियुक्ति में आये हुए सभी विषयों पर चूणि में विस्तार के साथ स्पष्टता की गई है। इसमें अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन उट्टरदिक्षित किये गये हैं, जिनका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक महसूब है।

टीकासाहित्य

मूल आगम, नियुक्ति और भाष्यसाहित्य प्राकृत भाषा में निर्मित हैं। चूणिसाहित्य में प्रधान रूप से प्राकृत भाषा का और गीण रूप से संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है। उसके पश्चात् संस्कृतटीका का युग आया। जैन साहित्य में टीका का युग स्वर्णिम युग है। नियुक्ति में आगमों के ग्रन्थ की व्युत्पत्ति और व्याख्या है। भाष्यसाहित्य में विस्तार से आगमों के गम्भीर भावों का विवेचन है। चूणिसाहित्य में निरूढ़ भावों को लोक-कथाओं के आधार से समझाने का प्रयास है तो टीकासाहित्य में आगमों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण है। टीकाकारों ने ज्ञानीत

नियुक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्यों का तो अपनी टीकाओं में प्रयोग किया ही है साथ ही नये-नये हेतुओं द्वारा विषय को श्रौत अधिक पुष्ट बनाया है। टीकाओं के आश्वयन और परिशीलन से उस युग की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और भौगोलिक परिस्थितियों का भी सम्यक् परिज्ञान हो जाता है। टीकाकारों में सर्वप्रथम टीकाकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं। उन्होंने अपने विशेषावश्यकभाष्य पर स्वोपन्न वृत्ति लिखी पर यह वृत्ति वे अपने जीवनकाल में पूर्ण नहीं कर सके। वे छठे गणधर व्यक्त तक ही टीका लिख सके। उनकी शैली सरल, यरस और प्रसादगुण युक्त थी। उनकी प्रस्तुत टीका उनके पश्चात् कोटचाचार्य ने पूर्ण की। इसका संकेत कोटचाचार्य ने छठे गणधरवाद के अन्त में दिया है।

संस्कृत टीकाकारों में आचार्य हरिभद्र का नाम गौरव के साथ लिया जा सकता है। वे संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका सत्तान्समय विक्रम संवत् ७५७ से ८२७ का है। उन्होंने आवश्यकनियुक्ति पर भी वृत्ति लिखी किन्तु आवश्यकचूर्णि के पदों का उसमें प्रनुसारण न करके स्वतन्त्र रूप से विषय का प्रतिपादन किया है। प्रस्तुत वृत्ति को देखकर विज्ञों ने यह अनुमान किया है कि आचार्य हरिभद्र ने आवश्यकसूत्र पर दो वृत्तियां लिखी थीं। वर्तमान में जो टीका उपलब्ध नहीं है, वह टीका उपलब्ध टीका से बड़ी थी। क्योंकि आचार्य ने स्वयं लिखा है—‘व्यासार्थस्तु विशेषविवरणाद्वग्नितव्य इति।’ अन्वेषणा करने पर भी यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। वृत्ति में ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए आभिनिवैधिक ज्ञान का छह दूष्टियों से विवेचन किया है। श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान का भी ग्रेद आदि की दृष्टि से विवेचन किया है।

सामायिक आदि के तेबीस ढारों का विवेचन नियुक्ति के अनुसार किया गया है। सामायिक के निर्माण द्वार में कुलकरों के प्रति और उनके पूर्व भवों के सम्बन्ध में सूचन किया है। नियुक्ति और चूर्णि में जिन विषयों का संक्षेप में संकेत किया गया है उन्हीं का इसमें विस्तार किया गया है। ध्यान के प्रसंग में व्यानशतक की समस्त गाथाओं पर भी विवेचन किया है। परिस्थापनाविधि पर प्रकाश ढालते हुए सम्पूर्ण परिस्थापना सम्बन्धी नियुक्ति के पाठ को उद्धृत किया गया है। प्रस्तुत वृत्ति में प्राकृत भाषा में दृष्टान्त भी विषय की स्पष्ट करने के लिये दिये गये हैं। इस वृत्ति का नाम शिष्यहिता है। इसका ग्रन्थमान २२००० श्लोकप्रमाण है। लेखक ने अन्त में अपना संक्षेप में परिचय भी दिया है।

कोटचाचार्य ने आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अपूर्ण स्वोपन्न भाष्य को पूर्ण किया और विशेषावश्यक-भाष्य पर भी एक नवीन वृत्ति लिखी। पर लेखक ने उस वृत्ति में आचार्य हरिभद्र का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है। इससे यह जात होता है कि वे हरिभद्र के समकालीन या पूर्ववर्ती होंगे। कोटचाचार्य ने जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का अद्वास्तिकाध स्मरण किया है। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति में कोटचाचार्य का प्राचीन टीकाकार के रूप में उल्लेख किया है। प्रभावक चरित्रकार ने आचार्य शीलाङ्कु को और कोटचाचार्य को एक माना है। परन्तु शीलाङ्कु और कोटचाचार्य दोनों के समय एक नहीं हैं। कोटचाचार्य का समय विक्रम की आठवीं शती है तो शीलाङ्कु का समय विक्रम की नौवीं दशमी शती है। अतः वे दोनों पृथक्-पृथक् हैं। कोटचाचार्य का प्रस्तुत विशेषावश्यकभाष्य पर जो विवरण है वह न तो अतिसक्षिप्त है और न अतिविस्तृत ही है। विवरण में जो कथाएं उट्टकिल की गई हैं, वे प्राकृत भाषा में हैं। विवरण का ग्रन्थमान १३७०० श्लोक प्रमाण है।

आचार्य मलयगिरि उल्कष्ट प्रतिभा के धनी मूर्धन्य मनीषी थे। उन्होंने आगमयन्थों पर बहुत ही महत्वपूर्ण टीकाएं लिखी हैं। उन टीकाओं में उनका प्रकाण्ड पाण्डित्य स्पष्ट रूप से खलकता है। विषय की गहनता, भाषा की प्राज्ञता, शैली का लालित्य एवं विष्लेषण की स्पष्टता उनकी विशेषताएँ हैं। वे आगमसाहित्य के

गम्भीर जाता थे तो गणिनकासूत्र, दर्शनशास्त्र और कर्मसिद्धान्त में भी निष्णात थे। उन्होंने अनेक आगमों पर टीकाएं लिखीं। आवश्यकसूत्र पर भी उन्होंने आवश्यकविवरण नामक वृत्ति लिखी है। यह विवरण मूल सूत्र पर न होकर आवश्यकनियुक्ति पर है। यह विवरण अपूर्ण ही प्राप्त हुआ है। इसमें मंगल आदि पर विस्तार से विवेचन और उसकी उपयोगिता पर चिन्तन किया गया है। नियुक्ति की गाथाओं पर सरल और सुबोध जैली में विवेचन किया है। विवेचन की विशिष्टता यह है आचार्य ने विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओं पर स्वतन्त्र विवेचन त कर उनका सार अपनी वृत्ति में उट्ट किया कर दिया है। वृत्ति में जितनी भी गाथाएं गई हैं, वे वृत्ति के बताव्य को पुष्ट करती हैं। वृत्ति में विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञनवृत्ति का भी उल्लेख हुआ है साथ ही प्रज्ञाकरणात्, आवश्यक चूणिकार, आवश्यक मूल टीकाकार, आवश्यक मूल भाष्यकार, लघीयस्थ्रयालंकार, अकलाद्वृन्यायावतार वृत्तिकार प्रमृति का भी उल्लेख हुआ है। यथ-तत्र विषय को स्पष्ट करने के लिए कथाएं भी उद्घृत की गई हैं। कथाओं की भाषा प्राकृत है। वर्तमान में जो विवरण उपलब्ध है उसमें चतुर्दिशतिस्तव नामक द्वितीय ग्रन्थयन के 'थूंभं रथणविचित्रं कु'थुं' सुमिणमिम लेण कु'जिणो' के विवेचन तक प्राप्त होता है। उसके पश्चात् भगवान् अस्त्राय के उल्लेख के बाद का विवरण नहीं मिलता है। यह जो विवरण है वह चतुर्दिशतिस्तव नामक द्वितीय ग्रन्थयन तक है और वह भी अपूर्ण है। जो विवरण उपलब्ध है उसका ग्रन्थमान १८००० प्रलोक प्रमाण है।

मलधारी आचार्य हेमचन्द्र महान् प्रतिभासम्पन्न और आगमों के ज्ञाना थे। वे प्रबन्धनपटु और वाभी थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। आवश्यकवृत्ति प्रदेशव्याख्या आचार्य हरिभद्र की वृत्ति पर लिखी गई है, इसलिए उसका अपर नाम हारिभद्रोवावश्यक वृत्तिरूपिणीक है। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य ने प्रदेश-व्याख्याटिप्पण भी लिखा है।

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र की विशेषावश्यकभाष्य पर दूसरी वृत्ति खियहिता है। यह बहुतम कृति है। आचार्य ने भाष्य में जितने भी विषय आये हैं, उन सभी विषयों को बहुत ही सरल और गुणम दृष्टि से समझाने का प्रयास किया है। दार्शनिक चर्चाओं का प्राधान्य होने पर भी जैली में काठिन्य नहीं है। यह इसकी महान् विशेषता है। संस्कृत कथानकों से विषय में सरसता व सरलता आ गई है। यदि यह कह दिया जाये कि प्रस्तुत टीका के कारण विशेषावश्यकभाष्य के पठन-पाठन में सरलता हो गई तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

अन्य अनेक मनीषियों ने भी आवश्यकसूत्र पर वृत्तियां लिखी हैं। संखेप में उनका विवरण इस प्रकार है—जिनभट्ट, माणिक्यशेखर, कृलप्रभ, राजवल्लभ आदि ने आवश्यकसूत्र पर वृत्तियों का निर्माण किया है। इनके अतिरिक्त विक्रम संवत् ११२२ में नभि साधु ने, संवत् १२१२ में श्री चन्द्रसूरि ने, संवत् १४४० में श्री ज्ञान-सागर ने, संवत् १५०० में धीरसुन्दर ने, संवत् १५४० में शुभवद्वेनगिरि ने, संवत् १६१७ में हितरचि ने तथा सन् १९५८ में पूज्य घासीलालजी महाराज ने भी आवश्यकसूत्र पर वृत्ति का निर्माण कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। टीका युग समाप्त होने के पश्चात् जनसाधारण के लिये आगमों के अब्दार्थ करने वाली संक्षिप्त टीकाएं बनाई गईं जो स्तब्ध का टब्बा के नाम से विश्रुत हैं और वे लोकभाषाओं में सरल और सुबोध जैली में लिखी गईं। धर्मसिंह मुनि ने १८वीं शताब्दी में २७ आगमों पर वालावबोध टब्बे लिखे थे। उनके टब्बे मूलस्पर्शी अर्थ को स्पष्ट करने वाले हैं। उन्होंने आवश्यक पर भी टब्बा लिखा था। टब्बों के पश्चात् अनुवाद युग का प्रारम्भ हुआ। मुख्य रूप से आगम साहित्य का अनुवाद तीन भाषाओं में उपलब्ध है—अंग्रेजी, गुजराती और हिन्दी। आवश्यकसूत्र का अंग्रेजी अनुवाद नहीं हुआ है, गुजराती और हिन्दी में ही अनुवाद हुआ है। शोध प्रधान युग में आवश्यकसूत्र पर पंडित सुखलालजी सिंधवी तथा उपाध्याय शमरमुनिजी प्रभृति विज्ञों ने विषय का विश्लेषण करने के लिये हिन्दी में शोध निवन्ध भी प्रकाशित किये हैं।

आधुनिक युग मुद्रण का युग है। इस युग में विराट् साहित्य मुद्रित होकर जनता-जनादेन के कर-कमलों में पहुंचा है। आगमों के प्रकाशन का कार्य चिभिन्न संस्थाओं द्वारा समय-समय पर हुआ है। आवश्यकसूत्र और उसका व्याख्यासाहित्य इस प्रकार प्रकाशित हुआ है—

सन् १९२८ में आगमोदय समिति बम्बई ने आवश्यकसूत्र भद्रबाहुनियुक्ति और मलयगिरि वृत्ति के साथ प्रथम भाग प्रकाशित किया। उसका द्वितीय भाग सन् १९३२ में तथा तृतीय भाग सन् १९३६ में देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सूरत से प्रकाशित हुए।

सन् १९१६-१७ में आवश्यक भद्रबाहुनियुक्ति हारिभद्रीया वृत्ति के साथ आगमोदय समिति बम्बई से प्रकाशित हुई।

सन् १९२० में आवश्यकसूत्र मलयारी हेमचन्द्र विहित प्रदेशाव्याख्या के साथ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बम्बई ने प्रकाशित किया।

सन् १९३९ और १९४१ में भद्रबाहुकृत आवश्यकनियुक्ति की माणिक्यशेखर विरचित दीपिका विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत से प्रकाशित हुई।

सन् १९२८ और सन् १९२९ में आवश्यकचूणि जिनदासरचित ऋषः पूर्व भाग और उत्तर भाग प्रकाशित हुआ है। पौर दंडू २४२३ से २४४१ के दीपिका विरचित भिरहितार्थ वृहद्वृत्ति, मलयारी आचार्य हेमचन्द्र की टीका सहित, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस से प्रकाशित हुआ। सन् १९२३ में 'विशेषावश्यक-गाथानामकारादिक्रमः तथा विशेषावश्यकविवरणामनुक्रमः' आगमोदय समिति बम्बई से प्रकाशित हुए।

सन् १९६६ में विशेषावश्यकभाष्य स्वीपञ्जवृत्ति सहित लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर से तीन भागों में प्रकाशित हुआ है।

सन् १९३६ और १९३७ में कोटधाचार्य कृत विशेषावश्यकभाष्य विवरण का प्रकाशन ऋषभदेवजी के सरीमलजी प्रचारक संस्था रतलाम से हुआ। सन् १९३६ में ही आवश्यक नमिसार वृत्ति विजयदान सूरीश्वर ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित हुई।

सन् १९५८ में पुज्य घासीलालजी महाराजकृत आवश्यकसूत्र संस्कृत व्याख्या हिन्दी व गुजराती अनुवाद से साथ जैनकास्त्रोद्धार समिति राजकोट ने प्रकाशित किया।

सन् १९०६ में आवश्यकसूत्र गुजराती अनुवाद के माथ श्रीमसी माणेक बम्बई ने और सन् १९२४ से २७ तक आगमोदय समिति बम्बई ने गुजराती अनुवाद प्रकाशित कर अपनी साहित्यिक सूचि का परिचय दिया। और संवत् २४४६ में आचार्य अमोलकक्षयिजी ने ३२ आगमों का जो हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया, उस लड़ी की कड़ी में आवश्यकसूत्र भी प्रकाशित हुआ।

आवश्यकसूत्र का मूल पाठ भी अनेक स्थलों से प्रकाशित हुआ है। गुणांव छावनी से सन् १९५४ में मुनि फूलचन्दजी 'पुष्कभिक्खु' ने सुत्तगमे का प्रकाशन करवाया, उस में तथा सैलाना से सन् १९८४ में प्रकाशित 'अंगपविद्वसुलाणि' में मूल पाठ प्रकाशित हुआ है। आगमप्रभावक मुनि पुण्यविजयजी महाराज ने जैन आगम ग्रन्थमाला के अन्तर्गत 'इस्वी सन् १९७७ में श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई से 'दसवेयालियसुत्त उत्तरज्ञक्षणाइ आवस्यसुत' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। यह अनेक ग्रन्थों के टिप्पण, सूत्रानुक्रम, शब्दानुक्रम, विशेषतामानुक्रम आदि अनेक परिशिष्टों के साथ प्रकाशित है। शोधार्थियों के लिये बहुत ही उपयोगी है।

संवत् २००७ में सन्मानित ज्ञानपीठ आमरा से सामायिकसूत्र और श्रमणगुरु हिन्दी विवेचन सहित प्रकाशित हुआ है।

प्रस्तुत संस्करण और सम्पादन

समय-समय पर आवश्यकसूत्र पर बहुत लिखा गया है और विभिन्न स्थानों से उसका प्रकाशन भी हुआ है। उसी प्रकाशन की धब्बल परम्परा में प्रस्तुत प्रकाशन भी है। श्रमण संघ के युवाचार्य स्वर्गीय पण्डितप्रबर मधुकर मिश्रीमलजी महाराज की यह हार्दिक इच्छा थी कि आगमवत्तीसी का प्रकाशन हो। उनके संयोजकत्व और प्रधान सम्पादकत्व में आगम प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ हुआ। स्वल्प समय में ही अनेक भ्रागमों के आनंदार प्रकाशन हुए। पर परिचाप है कि युवाचार्यश्री की कमनीय कल्पना उनके जीवनकाल में पूर्ण नहीं हो सकी। सन् १९८३ में उनका स्वर्गवास हो गया। उनके स्वर्गवास से एक महामनीषी सन्तरत्न की क्षति हुई। उनकी हार्दिक इच्छा को मूर्ति रूप देने का उत्तरदायित्व सम्पादक मण्डल और प्रकाशन समिति का था। प्रसन्नता है सम्पादक मण्डल और प्रकाशन समिति ने अपना उत्तरदायित्व निष्ठा के साथ निभाया है और अनेक मूर्धन्य मनीषियों के सहयोग से इस कार्य को सम्पन्न करने का संकल्प किया है। आवश्यकसूत्र के सम्पादन का श्रेय परम विदुपी साध्वीरत्न उमरावकुंवरजी 'शर्वना' की सुशिष्या विदुषा महासती श्री सुप्रभाजी एम. ए., साहित्यरत्न, सिद्धान्ताचार्य को है। इसमें शुद्ध मूल पाठ, विशिष्ट शब्दों का अर्थ, भावार्थ और साथ ही आवश्यक विवेचन दिया गया है, अतएव यह संस्करण सर्वसाधारण के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। उन्होंने बहुत ही लगन के साथ इस अन्यरत्न का सम्पादन किया है। साध्वी सुप्रभाजी उद्दोयमान लेखिका तथा विविध विषयों का ज्ञाता हैं। महामनीषी, आगमप्रकाशन माला के प्राण पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने अपनी कलम के स्पर्श से सम्पादन की निजारा है। भारिल्ल जी की पैती दृष्टि से सम्पादन में चार-चांद लग गये हैं। आशा है अन्य भ्रागमों की भाँति यह आगम भी जनमानस में समादृत होगा।

आवश्यकसूत्र पर बहुत ही विस्तार से प्रस्तावना लिखने का ऐरा विचार वा पर अन्यान्य ग्रन्थों के लेखन में अस्त होने से संक्षेप में ही कुछ लिख गया है, उसका सारा श्रेय महामहिम विश्वसन्त अध्यात्मयोगी पूज्य गुद्धेव उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज की महती कृपा-दृष्टि को है। उनकी महान् कृपा से ही मैं लेखन के क्षेत्र में कुछ कार्य कर सका हूँ। आवश्यकसूत्र के रहस्य को समझने के लिये यह प्रस्तावना कुछ उपयोगी होगी तो मैं अपना अम सार्थक समझूँगा। आज भौतिकचार की आधी मैं मानव बहिर्मुखी होता चला जा रहा है। वह अपने-आप को भूलकर पर-पदार्थों को प्राप्त करने के लिये ललक रहा है और उसके लिये अन्याय, अत्याचार और भ्रष्टाचार को अपना रहा है, जिससे वह स्वयं अशांत है, परिवार, समाज और राष्ट्र में सर्वश्र अशांति की ज्वाला धधक रही है। उससे मानव व्यथित है, समाज परेशान है और राष्ट्र चिन्तित है। यह प्रगति नहीं, उसके नाम पर पत्तपने वाला अम है। आज आवश्यकता है, जो अतिक्रमण हुआ है उससे पुनः स्वभाव की ओर लौटने की। आवश्यकसूत्र साधक को परभाव से हटाकर निजभाव में लाने का सन्देश प्रदान करता है। उस सन्देश को हम जीवन में उतार कर अपने को पावन बनाए, यही आन्तरिक कामना !

जीव स्थानक
दीर्घनगर, दिल्ली-७
१८-७-८५

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

आठाम प्रकाशन समिति, डयावर

(कार्यकारिणी समिति)

१.	श्रीमान् सागरमलजी बेताला	अध्यक्ष	इन्दौर
२.	“ रतनचन्दजी मोदी	कार्यवाहक अध्यक्ष	ब्यावर
३.	“ धनराजजी विभायकिया	उपाध्यक्ष	ब्यावर
४.	“ एम० पारसमलजी चोरड़िया	उपाध्यक्ष	मद्रास
५.	“ हुक्मीचन्दजी पारख	उपाध्यक्ष	जोधपुर
६.	“ दुलीचन्दजी चोरड़िया	उपाध्यक्ष	मद्रास
७.	“ जसराजजी पारख	उपाध्यक्ष	दुर्ग
८.	“ जी० सायरमलजी चोरड़िया	महामन्त्री	मद्रास
९.	“ अमरचन्दजी मोदी	मन्त्री	ब्यावर
१०.	“ ज्ञानराजजी मूथा	मन्त्री	पाली
११.	“ ज्ञानचन्दजी विनायकिया	सह-मन्त्री	ब्यावर
१२.	“ जंवरीलालजी शिक्षोदिया	कोषाध्यक्ष	ब्यावर
१३.	“ आर० प्रशान्तचन्द्रजी चोरड़िया	कोषाध्यक्ष	मद्रास
१४.	“ श्री माणकचन्दजी सचेती	परामर्शदाता	जोधपुर
१५.	“ एस० सायरमलजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
१६.	“ मोतीचन्दजी चोरड़िया	”	मद्रास
१७.	“ मूलचन्दजी सुराणा	”	तांगौर
१८.	“ तेजराजजी भण्डारी	”	महामन्दिर
१९.	“ भंवरलालजी गोठी	”	मद्रास
२०.	“ प्रकाशचन्दजी चोपड़ा	”	ब्यावर
२१.	“ जलनराजजी मेहता	”	मेड़तासिटी
२२.	“ तनसुखचन्दजी बोहरा	”	दुर्ग
२३.	“ चन्दनमलजी चोरड़िया	”	मद्रास
२४.	“ सुमेरमलजी मेड़तिया	”	जोधपुर
२५.	“ आसूलालजी बोहरा	”	महामन्दिर

आवश्यक सूत्रम् : विषयानुक्रमणिका

गुह्यवन्दनसूत्र	३	तीन गौरव	३७
नमस्कारसूत्र	४	तीन विराघना	३८
प्रथम अध्ययन : सामाजिक		चार कषाय	३८
प्रतिज्ञासूत्र	५	चार संज्ञा	३९
भंगलसूत्र	६	चार विकाय	३९
उत्तम चतुष्डय	७	चार ध्यान	३९
शरण-सूत्र	८	पाँच क्रिया	३९
(संक्षिप्त) प्रतिक्रमण-सूत्र	९	पाँच कामगुण	३९
ऐपिधिक-सूत्र	१०	पाँच महाक्रत	३९
विशिष्ट शब्दों का स्पष्टीकरण	११	पाँच समिति	३९
आगम-सूत्र	१२	छह जीवनिकाय	३९
ज्ञान में अतिचारों का पाठ	१३	छह लेश्या	३९
द्वितीय अध्ययन : चतुविश्विस्तव		सात भयस्थान	३९
चतुविश्विस्तव का पाठ	१४	शाठ भद्रस्थान	३९
तृतीय अध्ययन : वन्दन		नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति	३९
इच्छापि शामासमणो	१५	दस श्रमणधर्म	३९
वन्दन विधि	१६	श्यारह उपासकप्रतिभा	३९
प्राणात्माओं के तेतीस प्रकार	१७	बारह भिक्षुप्रतिभा	३९
चतुर्थ अध्ययन : प्रतिक्रमण		तेरह क्रियास्थान	३९
अतिचारों का पाठ	१८	चौदह भूतग्राम	३९
शश्यासूत्र	१९	पन्द्रह परमाणुमिक	३९
भिक्षादोषनिवृत्ति-सूत्र	२०	सोलह गायाषोडशक	३९
स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना-दोषनिवृत्तिसूत्र	२१	सत्रह ग्रसंयम	३९
तेतीस बोल का पाठ	२२	अठारह एत्रह्यचर्य	३९
एक असंयम	२३	उच्चीस शातासूत्र-अध्ययन	३९
दो बंधन	२४	बीस असमाधिस्थान	३९
तीन दंड	२५	इक्कीस शबलदोष	३९
तीन गुप्ति	२६	बाइस परीषह	३९
तीन शल्य	२७	तेह्सि सूत्रकृतोग अध्ययन	३९
	२८	चौबीस देव	३९
	२९	पचास भावना	३९

छब्बीस दशाधुतस्कन्ध,	४०	६. दिवदत के अतिचार	१०१
वृहत्कल्प, व्यवहारसूत्र		७. उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत के अतिचार	१०२
थ्री के छब्बीस अध्ययन		८. अनवैद्यविरमणव्रत के अतिचार	१०४
संताईस अनगारगुण	४०	९. सामाधिकव्रत के अतिचार	१०५
अट्टाईस आचारणकल्प	४०	१०. देशावकाशिकव्रत के अतिचार	१०५
उनतीस पापश्रुतप्रसंग	४०	११. पौष्ठव्रत के अतिचार	१०६
तीस महामोहनीयस्थान	४०	१२. अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार	१०६
इकतीस सिद्धगुण	४०	पंचम अध्ययन : कायोत्सर्ग	
बत्तीस योगसंग्रह	४०	कायोत्सर्ग का स्पष्टीकरण	१०८
ठेतीस आशातना	४१	षष्ठाध्ययन : प्रस्थाल्यान	
प्रतिशासूत्र (निर्यन्त्र-प्रवचन का पाठ)		६५. प्रत्याल्यान के प्रकार	११०
बड़ी संलेखना का पाठ	६६	८६. नमस्कारसहित सूत्र	१११
पाँच पदों की वस्त्रना	६६	८८. पौष्टीसूत्र	११२
दर्शनसम्यकत्व का पाठ	६८	९०. पूर्वार्धसूत्र	११३
गुरु-गुणस्मरणसूत्र	९०	९०. एकाशनसूत्र	११४
आमणासूत्र	९२	९२. एमट्राण पञ्चक्षण	११५
चौरासी लाख जीवयोनि का पाठ	९३	९३. आचाम्ल—आयविल प्रत्याल्यानसूत्र	११६
कुलकोडी खमानि का पाठ	९३	९३. अभक्ताय—उपवाससूत्र	११७
प्रणियात्रसूत्र	९८	९८. दिवसत्रिमसूत्र	११८
श्रतों की उपर्योगिता	९९	११९. अभिग्रहसूत्र	११९
बारह श्रतों के अतिचारी का प्रतिक्रमण	१०१	१२०. निविकृतिकसूत्र	१२०
१. अहिंसाणुव्रत के अतिचार	१०१	१२०. प्रत्याल्यान पारणासूत्र	१२०
२. मृत्यावाद विरमण व्रत के अतिचार	१००	परिशिष्ट	
३. अदत्तादान विरमणाणुव्रत के अतिचार	१००	१०१. आवश्यक की विधि	१२२
४. ब्रह्माचर्याणुव्रत के अतिचार	१००		
५. परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार	१०१		



ॐ वैश्यवं दाम्

गुरुवन्दनसूत्र

तिक्षुतो भ्रायाहिणं पयाहिणं करेभि, बंदामि, नमंसामि, सप्तकारेमि, सम्माणेमि, कल्पाणं
मंगलं वेदयं चेद्यं पञ्जुबासामि मत्थएण बंदामि ।

भावार्थ—हे गुरु महाराज ! मैं अञ्जलिपुट को तीन बार दाहिने हाथ की ओर से प्रारंभ करके फिर दाहिने हाथ की ओर तक धुमाकर आपने ललाटप्रदेश पर रखता हुआ प्रदक्षिणापूर्वक स्तुति करता हूँ, पांच अंग भुकाकर बन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सत्कार करता हूँ, (वस्त्र, अष्ट आदि से) सम्मान करता हूँ, आप कल्याण-रूप हैं, मंगल-स्वरूप हैं, आप देवतास्वरूप हैं, चैत्य अर्थात् ज्ञानस्वरूप हैं ।

अतः हे गुरुदेव ! मैं मन, वचन और शरीर से आपकी पर्युपासना—सेवाभक्ति करता हूँ तथा विनय-पूर्वक मस्तक भुकाकर आपके चरण-कमलों में बन्दना करता हूँ ।

विशेषन—भारतीय संस्कृति में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि जीवन में सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त न हो तो प्रभु-दर्शन भी कठिन हो जाता है। प्रत्येक मंगलकार्य के प्रारंभ में भक्ति एवं श्रद्धा के साथ गुरु को बन्दन किया जाता है।

एक दृष्टि से भगवान् से भी सद्गुरु का महत्व अधिक है। एक वैदिक ऋषि ने तो यहाँ तक कहा है—भगवान् यदि रुष्ट हो जाय तो सद्गुरु बचा सकता है पर सद्गुरु रुष्ट हो जाय तो भगवान् की शक्ति नहीं, जो उसे उबार सके ।

हरी रुष्टे गुरुस्नाता, गुरी रुष्टे न वै शिवः ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, गुरुमेव प्रसादयेत् ॥

वस्तुतः सद्गुरु का महत्व अपरम्पार है। दीपक को प्रकाशित करने के लिये जैसे तेल की आवश्यकता है, घड़ी को चलाने के लिए चाबी की जरूरत है, शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए भोजन आवश्यक है, वैसे ही जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है। सद्गुरु ही जीवन के सच्चे कलाकार हैं। अतः गुरुदेव ही भव-सिन्धु में नौका स्वरूप हैं, जो भव्य प्राणियों को किनारे लगाते हैं। अज्ञानरूप अन्धकार में भटकते हुए प्राणी के लिए गुरु प्रदीप के समान प्रकाशदाता हैं। विश्व में गुरु से बढ़कर अन्य कोई भी उपकारी नहीं है। अनेक भक्तों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि—“गुरु न तजूँ हरि को तज ढालूँ ।” क्योंकि हिताहित का बोध कराने वाले गुरु ही होते हैं। ऐसे परम उपकारी गुरुदेव की चरण-बन्दना, सेवा, अर्चना आदि शिष्य समर्पण भाव से करे तब ही वह जीवन और जगत् का रहस्य समझ सकता है।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ

तिक्खुलो—त्रिकृत्वः—तीन बार।

आयाहिण—दाहिनी ओर से। इसका 'आदक्षिण' संस्कृत रूप बनता है।

पथाहिण—का संस्कृत रूप 'प्रदक्षिणम्' होता है। अर्थात् दाहिनी ओर से प्रदक्षिणापूर्वक।

बन्दामि—बन्दन करता है। बन्दन का अर्थ है स्तुति करना।

नमस्कार—नमस्कार करता है। इसका संस्कृत रूप 'नमस्कारम्' है। बन्दना और नमस्कार में अन्तर है। बन्दना अर्थात् मुख से गुणगान करना, स्तुति करना और नमस्कार अर्थात् काया से नम्रीभूत होना, प्रणमन करना।

कल्याण—कल्य अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाले या शांति प्रदान करने वाले।

मंगलं—शुभ, क्षेम, प्रशस्त एवं शिव।

आवश्यकनियुक्ति के आधार पर आचार्य हरिभद्र ने दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा की टीका में लिखा है—

"मंग्यते -अधिगम्यते हितमनेन इति मंगलम्" अर्थात् जिसके द्वारा साधक को हित की प्राप्ति हो वह मंगल है।

"मां गालयति भवादिति मंगलम्-संसारादपनयति" जो मुझे (आत्मा को) संसार के बन्धन से अलग करता है, छुड़ाता है, वह मंगल है। विशेषावश्यकभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीहेमचन्द्राचार्य कहते हैं— "मङ्ग्यते-अलंक्रियते आत्मा येनेति मंगलम्" जिसके द्वारा आत्मा शोभायमान हो वह मंगल है। अथवा जिसके द्वारा स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्त किया जाता है या पाप का विनाश किया जाता है, उसे मंगल कहते हैं।

नमस्कारसूत्र

नमो अरिहृताणं, नमो तिद्वाणं, नमो आयरियाणं।

नमो उवज्ञायाणं, नमो लोए सञ्चसाहूणं ॥

आचार्य— अरिहृतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, मानव-लोक में विद्यमान समस्त साधुओं को नमस्कार हो।

एसो पञ्च नमोवकारो, सञ्च-पात्र-पृष्णासणो ।

मंगलाणं च सञ्चेत्सि, पढ्मं हृष्ट मंगलं ॥

आचार्य— उपर्युक्त पांच परमेष्ठी—महान् आत्माओं को किया हुआ यह नमस्कार सब प्रकार के पापों को पूर्णतया नाश करने वाला है और विश्व के सब मंगलों में प्रथम मंगल है।

विवेचन— भारतीय-संस्कृति में जैनसंस्कृति का और जैनसंस्कृति में भी जैनधर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। जैनपरम्परा में नमस्कारमंत्र या नवकारमंत्र से बढ़कर दूसरा कोई मंत्र नहीं है। जैनधर्म अध्यात्म-प्रधान धर्म है। अतः उसका मंत्र भी अध्यात्मभावना से ओतप्रोत है।

नवकारमंत्र के संबंध में जैनपरम्परा की मान्यता है कि यह सम्पूर्ण जैन वाङ्मय अथवा चौदह पूर्वों का सार है, निचोड़ है। जैन साहित्य का सर्वश्रेष्ठ मंत्र नवकारमंत्र है। वह दिव्य समझाव का प्रमुख प्रतीक है। इसमें विना किसी साम्प्रदायिक भेदभाव के, विना किसी देश, जाति अथवा धर्म की विशेषता के केवल गुण-पूजा का महत्व बताया गया है। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में नवकारमंत्र का द्वूसरा नाम परमेष्ठीमंत्र भी है। जो महान् आत्माएँ परम पद में अर्थात् उच्च स्वरूप में स्थित हैं, वे परमेष्ठी कहलाती हैं।

नवकारमंत्र के नमस्कारमंत्र, परमेष्ठीमंत्र आदि अनेक नाम हैं। परन्तु सबसे प्रसिद्ध नाम नवकारमंत्र ही है। नवकारमंत्र में नी पद है, अतः इसे नवकारमंत्र कहते हैं। पांच पद मूल पदों के हैं और शेष चार पद चूलिका के हैं। अरिहन्त आदि पांच पद साधक तथा सिद्ध की भूमिका के हैं और अन्तिम चार पद महामंत्र की महिमा के निदर्शक हैं।

मुमुक्षु मानवों ने नमस्कार को बहुत महत्वपूर्ण माना है। नमस्कार, नम्रता एवं गुणग्राहकता का विशुद्ध प्रतीक है। अपने से श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ आत्माओं को नमस्कार करने की परंपरा अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। अरिहन्तों के बारह, सिद्धों के ध्राठ, आचार्यों के छत्तीस, उपाध्यायों के पच्चीस एवं साधुओं के सत्ताईस गुण हैं। इन गुणों से युक्त इन पांचों पदों के बाच्य महान् आत्माओं को किया गया नमस्कार इस नश्वर संसार से सदा के लिए छुटकारा दिलाकर शाश्वत शिव-सुख का प्रदाता है।

प्रथम पद अरिहन्त का है। अरिहन्त में दो शब्द हैं—‘अरि’ और ‘हन्त’। अरि का अर्थ है—राग-द्वेष आदि अन्दर के शत्रु और हन्त का अर्थ है—नाश करने वाला।

अरिहन्त पद का द्वूसरा अर्थ इस प्रकार है—जिसने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घनधातिक कर्मों का नाश करके केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त कर लिया है, वह जीवन्मुक्त परमात्मा अरिहन्त है।

अरिहन्त पद के आचार्यों ने अनेक पाठान्तरों का उल्लेख किया है, यथा अरहन्त, अर्हन्त, अरहन्त, अरोहन्त आदि। जिनके लिये जगत् में कोई रहस्य नहीं रह गया है, जिनके केवलज्ञान-दर्शन से कुछ छिपा नहीं है, वे अरहन्त हैं। जो अशोकवृक्ष आदि प्रतिहार्यों से पूजित हैं, वे अर्हन्त हैं। जिन्हें फिर कभी जन्म नहीं लेना है अर्थात् जो जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा पा चुके हैं, उन्हें ‘अरहन्त’ या ‘अरोहन्त’ कहते हैं।

दूसरा पद ‘नमो सिद्धाण्ड’ है। सिद्ध का अर्थ है—पूर्ण अर्थात् जिनकी साधना पूरी हो चुकी है। जो महान् आत्मायें कर्म-मल से सर्वथा मुक्त होकर जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये छुटकारा पाकर अजर, अमर, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं, वे सिद्ध पद से सम्बोधित होते हैं। सिद्धों का सिद्धत्व बीद्र मान्यता के अनुसार दीपक बुझ जाने की तरह अभावस्वरूप नहीं है और न किसी विराट् सत्ता में विलीन हो जाना है, अपितु सद्भाव स्वरूप है। सिद्धों के सुख अपार है। चक्रवर्ती आदि मनुष्यों को तथा समस्त देवों को भी सुख प्राप्त है पराश्रित है किन्तु उससे भी अनुपम, अनन्त अव्याबाध एवं अनिर्वचनीय आध्यात्मिक सुख सिद्धों को सदैव प्राप्त रहता है। विस्तार से उस सुख का वर्णन जानने के लिये औपपातिक सूत्र (आगम प्रकाशन समिति व्यावर, पृ. १८०-१८१) देखना चाहिये।

तीसरा पद 'नमो आयरियाण' है। आचार्य भारतीय संस्कृति का सच्चा संरक्षक है, पथप्रदर्शक है तथा आलोक-स्तंभ है। आचार्य कोई साधारण साधक न होकर एक विशिष्ट साधक है। आचार्य को धर्म-प्रधान श्रमण-संघ का पिता कहा है। "आचार्यः परमः पिता।" तीर्थकर तो नहीं पर तीर्थकर सदृश है। वह ज्ञानाचार, दर्शनाचार आदि पांच आचारों का स्वयं दृढ़ता से पालन करता है तथा अन्य साधकों को दिशा-दर्शन देता है। दीपक की तरह स्वयं जलकर दूसरे आत्म-दीपों को प्रदीप्त करता है। साधु, साध्वी आवक और आविका यह चतुविध संघ है। इसकी आध्यात्मिक-साधना के नेतृत्व का भार आचार्य पर ही होता है। "नमो आयरियाण" इस पद के द्वारा अनन्त-अनन्त भूत, वर्तमान एवं अनागत आचार्यों को नमस्कार किया जाता है।

चतुर्थ पद में उपाध्यायों को नमस्कार किया गया है। यह पद भी बहुत ही महत्वपूर्ण है। साधक-जीवन में विवेक-विज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है। भेद-विज्ञान के द्वारा जड़ और चेतन के, धर्म और अधर्म के, उत्थान एवं पतन के, संसार और मोक्ष के पृथक्करण का भान होने पर ही साधक अपना उच्च एवं आदर्श जीवन बना सकता है और साधना के सर्वोत्तम शिखर पर पहुंच सकता है। अतः आध्यात्मिक विद्या के शिक्षण का कर्तृत्व उपाध्याय पर है।

"उप-समीपेऽधीयते यस्मात् इति उपाध्यायः।" उपाध्याय मानव-जीवन की अन्तग्रन्थियों को सूक्ष्म पद्धति से सुलझाते हैं और पापाचार के प्रति विरक्ति की तथा सदाचार के प्रति अनुरक्ति की शिक्षा देने वाले हैं। "नमो उवज्ञकायाण" इस पद द्वारा अनन्तानन्त भूत, वर्तमान एवं आगमी काल के उपाध्यायों को बन्दना की जाती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र से युक्त तथा सूत्र पढ़ाने के कारण उपकारी होने से उपाध्याय नमस्कार के योग्य हैं।

पांचवें पद में साधुओं को नमस्कार किया गया है। निर्वाण-साधक को अर्थात् सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नों और इनके द्वारा मोक्ष को साधने वाले अथवा सब प्राणियों पर समभाव रखने वाले, मोक्षाभिलाषी भव्यों के सहायक तथा अद्वाई द्वीप रूप लोक में रहे हुए सभी सर्वज्ञ आज्ञानुवती साधुओं को नमस्कार होता है। "साधयति मोक्षमार्गमिति साधुः" अर्थात् जो सम्यग्ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र रूप रत्नश्रय की, मोक्षमार्ग की साधना करते हैं, वे साधु हैं।



[१]

प्राणा अद्यथङ्क : सामायिक

प्रतिज्ञासूत्र

करेमि भंते ! सामाइयं सब्वं सावज्जं जोगं पच्चक्षामि जावज्जीवाए, तिविहुं तिविहेण—
मणेण, वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि, करतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते !
एडिष्टकमामि, निदामि गरिहामि अप्पाणं बोसिरामि ।

भावार्थ - भगवन् ! मैं सामायिक यत् ग्रहण करता हूँ । अतः सावद्य-पाप कर्म वाले
ब्यापारों का त्याग करता हूँ ।

जीवन पर्यन्त मन, वचन और शरीर—इन तीनों योगों से पाप कर्म न मैं स्वयं करूँगा, न
दूसरों से कराऊंगा और न करने वालों का अनुमोदन ही करूँगा ।

भंते ! पूर्वकृत पापों से निवृत्त होता हूँ, अपने मन से पापों को बुरा मानता हूँ, आपकी
साक्षी से उनकी गहरी—निन्दा करता हूँ, अतीत में कृत पापों का पूर्णरूप से परित्याग करता हूँ ।

विवेचन—जब मोक्षाभिलाषी साधक, गृहस्थ जीवन से सर्वविरति-साधुता की ओर अग्रसर
होता है, तब यह सामायिकसूत्र बोला जाता है । विश्व-हितंकर संत के पद पर पहुँचने के लिये
इस सामायिक सूत्र का आलम्बन लेना जन परम्परा के अनुसार अनिवार्य है ।

सामायिक का उद्देश्य समभाव की साधना है । प्राणिमात्र पर समभाव रखना महान्
उच्च आदर्श है । शास्त्रकार कहते हैं—

‘जो समो सब्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ।’—अनुयोगद्वार

केवली भगवान् ने कहा है—जो (साधक) समस्त अस और स्थावर जीवों के प्रति समभाव
धारण करता है, उसी को सामायिक की प्राप्ति होती है ।

जैनधर्म समताप्रधान धर्म है, समता की साधना को ही सामायिक कहते हैं । सामायिक
शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है ‘समस्य आयः समायः, सः प्रयोजनं यस्य तत् सामायिकम्’ अर्थात्
वह अनुष्ठान जिसका प्रयोजन जीवन में समता लाना है । गृहस्थ श्रावक सामायिक स्वीकार करते
समय दो करण और तीन योग से साधारणतया एक मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनिट के लिए सावद्ययोग
का त्याग करता है । जैनधर्म में जो भी प्रत्याख्यान अथवा नियम किया जाता है उसमें करण और
योग का होना आवश्यक है । करण का अर्थ है—प्रवृत्ति । उसके तीन रूप हैं—(१) स्वयं करना,
(२) दूसरे से कराना और (३) अनुमोदन करना । योग का अर्थ है मन, वचन और शरीर ।

सर्वश्रेष्ठ त्याग तीनों करणों और तीनों योगों से होता है। मुनि की सामायिक तीन करण तीन योग से होती है, अतः सर्वोत्कृष्ट त्याग मुनि का माना गया है। गृहस्थ की सामायिक दो करण तीन योग से होती है। सामायिक पाठ का उच्चारण करते समय यदि कोई गृहस्थ श्रावक स्वयं लामायिक ब्रत ग्रहण कर रहा है अथवा साधु उसे ब्रत ग्रहण करवा रहा है तो 'दुविहं तिविहेण' पाठ बोला जाएगा और 'जावज्जीवाए' के स्थान पर 'जावनियम' कहा जाएगा।

जैनधर्म में पतन के दो कारण माने गये हैं—योग और कषाय। योग का अर्थ है—मन, वचन और काया की हलचल। कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों आत्मा की वैषम्यपूर्ण अवस्थाएँ हैं। क्रोध उस अवस्था का नाम है, जब हम दूसरे को घृणा या द्वेष की दृष्टि से देखते हैं और हानि पहुँचाना चाहते हैं। मान की अवस्था में द्वेष भावना न्यून होने पर भी उस रूप में भेदबुद्धि रहती है, हम स्वयं को ऊँचा मानते हैं और दूसरे को नीचा, स्वयं को बड़ा और दूसरे को छोटा, अपने को धर्मतिमा एवं दूसरे को पापी, अधम मानते हैं। माया का अर्थ है स्वार्थ को दूसरे के द्वारा कृपा कराना पूर्ण करने की भावना। लोभ अर्थात् अधिक लाभ की इच्छा। लोभ-राजकूल-रूप से या कृपा के द्वारा पूर्ण करने की भावना। लोभ अर्थात् अधिक लाभ की इच्छा। लोभ-राजकूल-रूप से स्वयं के स्वार्थ को जितना महत्व दिया जाता है, उतना दूसरे के स्वार्थ को नहीं। सामायिक वस्था में स्वयं के स्वार्थ को जितना महत्व दिया जाता है, उतना दूसरे के स्वार्थ को नहीं। इन्हीं अशूभ योगों और कषायों से ऊपर उठने की साधना है।

इन्होंने अषुभ यात्रा आर किया। स ऊपर उठन का लाभ है। सामायिक पूर्ण करते समय गहस्थ संभावित भूलों का चिन्तन करता है, जिन्हें जैन परिभाषा में 'अतिचार' कहते हैं। वे अतिचार पांच प्रकार के हैं—१. मनोदुष्प्रणिधान, २. वचो-दुष्प्रणिधान, ३. कायदुष्प्रणिधान, ४. समृत्यन्तधनि, ५. अनवस्थितता। प्रणिधान का अर्थ है—विनियोग, जिसे अंग्रेजी में Investment कहा जाता है। दुष्प्रणिधान का अर्थ है—गलत विनियोग (Wrong Investment)। मन, वचन और काया प्रत्येक साधक की बहुमूल्य सम्पत्ति है। समृत्यन्तधनि (Samyantadhani) का अर्थ है—इस बात को भूल जाना कि मैं सामायिक में हूँ और व्यर्थ की बातों में लगना। साधक को सदा जागरूक रहना चाहिये। अनवस्थितता का अर्थ है—चंचलता अथवा अन्यमनस्कता। जितने समय के लिये व्रत लिया है, उसे स्थिरता के साथ पूरा करना चाहिये।

मंगलवार

चत्तारि संगल-

अस्तित्व मंगलं,

सिद्धा मंगल

साह मंगले,

ਕੇਵਲ-ਪਣਜੀ ਥਰਮੀ ਸੰਗਲ੍ ।

भाविष्य—संसार में चार मंगल हैं—

(२) श्रिहन्त भगवान् संगल हैं।

(२) सिद्ध भगवान् मंगल है ।

(३) साधु-महाराज मंगल हैं।

(४) सर्वजप्रलिपित धर्म मंगल है।

विवेचन—मंगल दो प्रकार के हैं—लौकिक मंगल और लोकोत्तर मंगल दीदी, श्रद्धा, पुष्प माला।

आदि लौकिक मंगल माने गए हैं। सूत्रोक्त अरिहन्त आदि लोकोत्तर मंगल हैं। लौकिक मंगल एकान्त और आत्मनिति के मंगल नहीं होते। अतः अड्यात्मनिष्ठ आत्माओं महापुरुषों ने लौकिक मंगल से पृथक् अलौकिक मंगल की शोध की है। अलौकिक मंगल कभी अमंगल नहीं होता है। सांसारिक उलझनों से भरे लौकिक मंगल से आज दिन तक न तो किसी ने स्थायी शान्ति प्राप्त की है और न भविष्य में ही कोई कर पाएगा। स्थायी आनन्द जब तक न मिले, तब तक वह मंगल कैसा ? अतः अलौकिक मंगल ही वास्तविक मंगल है।

प्रस्तुत चार मंगलों में प्रथम दो मंगल आदर्श रूप हैं। हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्रमशः अरिहन्त और अन्त में सिद्ध पद की प्राप्ति करना ही है। अरिहन्त और सिद्ध पूर्ण आत्मविशुद्धि अर्थात् सिद्धता के आदर्श होने से आदर्श मंगल हैं, जबकि साधु साधकता के आदर्श मंगल हैं। साधु पद में आचार्य और उपाध्याय भी समाहित हो जाते हैं।

सबसे अन्त में धर्म-मंगल आता है। इसी के प्रभाव से या धर्म के फलस्वरूप ही पूर्ववर्ती अन्य पदों की प्रतिष्ठा है। धर्म की शक्ति सर्वोपरि है।

उत्तमचतुष्टय

चत्तारि लोगुत्तमा—

अरिहन्ता लोगुत्तमा,

सिद्धा लोगुत्तमा,

साधु लोगुत्तमा,

केवलि-पण्णसो धर्मो लोगुत्तमो ।

माधार्थ—संसार में चार उत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं—

१. अरिहन्त भगवान् लोक में उत्तम हैं,
२. सिद्ध भगवान् लोक में उत्तम हैं,
३. साधु महाराज लोक में उत्तम हैं,
४. सर्वज्ञप्ररूपित धर्म लोक में उत्तम है।

विवेचन—आगमकारों ने कहा है कि उत्तम चार हैं। अनंत काल से भटकती हुई भव्य आत्माओं को उत्थान के पथ पर ले जाने वाले अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म ये चार ही उत्तम हैं तथा जो उत्तम होता है, वही मंगल होता है। यह बात विश्व-विद्यात है कि आज संसार का प्रत्येक प्रबुद्ध प्राणी उत्तम की शोध में लगा हुआ है, चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो, राजनीतिक क्षेत्र हो अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र हो। चार उत्तमों में अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा के रूप में उत्तम हैं। कर्ममंगल के दूर हो जाने के बाद आत्मा का शुद्ध ज्योति रूप हो जाना ही परमात्मत्व है। साधु पद में आचार्य, उपाध्याय और मुनि, महात्मा के रूप में उत्तम हैं। आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बनने के लिये धर्म ही एक मात्र उत्तम एवं उत्कृष्ट साधन है। कहा भी है- 'धारणाद् धर्मः' अर्थात् दुर्गति में गिरती हुई आत्माओं को जो धारण करता है, वहांता है, वही उत्तम धर्म है।

आगमकार ने इसी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है कि धर्म सब मंगलों का मूल है। यदि

पुण्य में सुगन्ध न हो, अग्नि में उष्णता न हो, जल में शीतलता न हो, मिसरी में मिठास न हो तो उनका क्या स्वरूप रहेगा ? कुछ भी नहीं । ठीक यही दशा धर्महीन मानव की है । कहा भी है—“धर्मेण हीनः पशुभिः समानाः” अर्थात् धर्महीन मानव और पशु में कोई अन्तर नहीं—दोनों समान हैं । धर्म की साधना शुभ की साधना है । साधना दो प्रकार की है—१. नीति की साधना और २. धर्म की साधना । नीति की साधना, पुण्य की साधना है । यह साधना केवल नीतिकता तक ले जा सकती है और धर्म-प्राप्ति की नींव का काम करती है । धर्म की साधना मुक्ति तक ले जाती है ।

शरणसूत्र

चत्तारि सरणं पवज्जामि—

अरिहंते सरणं पवज्जामि,

सिद्धे सरणं पवज्जामि,

साधु सरणं पवज्जामि,

केवलि-पण्णते धर्मं सरणं पवज्जामि ।

भावार्थ में चार की शरण स्वीकार करता हूँ—

१. अरिहंतों की शरण स्वीकार करता हूँ,

२. सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ,

३. साधुओं की शरण स्वीकार करता हूँ,

४. सर्वज्ञप्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ ।

विवेचन—विश्व का कोई भी भौतिक पदार्थ मानव को वास्तविक रूप में शरण नहीं दे सकता है । चाहे माता हो, पिता हो, पुत्र हो, पत्नी हो, धन-वैभव हो अथवा अन्य कोई स्वजन-परिजन हो । किन्तु इस तथ्य को न जानकर अज्ञानी मानव दुनिया के मैत्री पदार्थों को ही शरण समझता है ।

वास्तविकता यह है कि विश्व में सिवाय अरिहंत, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञप्ररूपित धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई शरणदाता नहीं है । जितने भी अतीत एवं वर्तमान में दुष्ट जन शिष्ट बने हैं, वे चार शरण स्वीकार करने पर ही बने हैं । मनुष्य धर्म की शरण में आना चाहता है । धर्म में शरण देने की क्षमता है “धर्मो दीवो पद्मांडा णं” अर्थात् धर्म एक दीप है—प्रकाशपुंज है, एक प्रतिष्ठा है—एक आधार है, एक गति है । शरण देने वाले और भी अनेक हो सकते हैं किन्तु वही उत्तम शरण है जो हमें वाण देता है । संकटों से उबारता है, भय से बिमुक्त करके निर्भय बनाता है । संसार का कौन-सा पदार्थ है जो हमें सदा के लिए मृत्यु के भय से बचा सके ? पाप-कर्मों के अनिष्ट विपाक से हमारी रक्षा कर सके ? यह शक्ति सूत्रोक्त चार की शरण ग्रहण में ही है । अतएव यही चार पारमार्थिक दृष्टि से शरण-भूत हैं ।

प्रतिक्रमण-सूत्र

इच्छामि ठामि काउस्समं जो मे वेवसिद्धो अइयारो कथो काइशो, वाइशो, माणसिद्धो,

उत्सुक्तो, उत्समग्नो, अकल्पो, अकरणिज्ञो, बुजभास्त्रो, दुष्विचितिज्ञो अणायारो, अजिजिठयव्यो, असमणपाउम्नो, नाणे तहु दंसणे चरित्ते सुए सामाइए, तिणहु गुसीण, छउण्ह कसायाण, पंचण्ह महूब्याण, छण्ह जीवनिकायाण, सत्तण्ह घिडेसणाण, अटुण्ह पवयणमाऊण, नवण्ह बंभचेरगुसीण, वसविहे समणधम्नमे, समणाण जोगाण आं खण्डियं जं विराहियं तस्स मिच्छा भि दुक्कडं ॥

भावार्थ—हे भद्रन्त ! मैं चित्त को स्थिरता के साथ, एक स्थान पर स्थिर रहकर, ध्यान-मी । के सिवाय अन्य सभी व्यापारों वा गणियना वह कायोहसर्ग करता है । [परन्तु इसके पहले शिष्य अपने दोषों की आलोचना करता है—] ज्ञान में, दर्शन में, चारित्र में तथा विशेष रूप से श्रुतधर्म में, सम्यकत्व रूप तथा चारित्र रूप, सामायिक में 'जो मे देवसिङ्गो' अर्थात् मेरे द्वारा प्रमादवश दिवस सम्बन्धी (तथा रात्रि सम्बन्धी) संयम मर्यादा का उल्लंघन रूप जो अतिचार किया गया हो, चाहे वह कायिक, वाचिक अथवा मानसिक अतिचार हो, उस अतिचार का पाप मेरे लिए निष्फल हो ।

वह अतिचार सूत्र के विरुद्ध है, मार्ग अर्थात् परम्परा से विरुद्ध है, अकल्प—आचार से विरुद्ध है, नहीं करने योग्य है, दुष्यनि-आत्मध्यान रूप है, दुष्विचित्ति—रौद्रध्यान रूप है, नहीं आचरने योग्य है, नहीं चाहने योग्य है, संक्षेप में साधुवृत्ति के सर्वथा विपरीत है—साधु को नहीं करने योग्य है ।

योग-निरोधात्मक तोन गुप्ति, चार, कषायों की निवृत्ति, पांच महाव्रत, छह पृथिवीकाय, जलकाय आदि जीवनिकायों की रक्षा, सात पिण्डेषणा—(१. असंसृष्टा, २. संसृष्टा, ३. उद्धूता, ४. अत्पलेपा, ५. अवगूहीता, ६. प्रगूहीता, तथा ७. उज्जितधर्मिका), आठ प्रवचन माता (पांच समिति, तीन गुप्ति), नी ब्रह्मचर्यंगुप्ति, दशविध श्रमणधर्म (श्रमण-सम्बन्धी कर्तव्य) यदि खण्डित हुए हों, अथवा विराधित हुए हों, तो वह सब पाप मेरे लिए निष्फल हो ।

विवेचन—मानव, देव एवं दानव के बीच की कड़ी है । वह अपनी सद्वृत्तियों के द्वारा देवत्व को प्राप्त कर सकता है और असद्वृत्तियों के द्वारा दानव जैसी निम्न कांटि में भी पहुँच सकता है । मनुष्य के पास तीन महात् शक्तियाँ हैं— मन, वचन एवं काय । इन शक्तियों के बल पर वह प्रशस्त-अप्रशस्त चाहे जैसा जीवन बना सकता है । सन्तो-मुनिजनों को तो कदम-कदम पर मन, वचन और शरीर की शुभाशुभ चेष्टाओं का ध्यान रखना ही चाहिये । इस विषय में जरा भी असावधानी भवंकर पतन का कारण बन सकती है । प्रस्तुत प्रतिक्रमण-सूत्र के पाठ द्वारा इन्हीं तीन शक्तियों— धोरों से रात-दिन में होने वाली भूलों का परिमार्जन किया जाता है और भविष्य में सावधान रहने की सुदृढ़ धारणा बनाई जाती है । यह प्रतिक्रमण का प्रारम्भिक सूत्र है । इसमें आचार-विचार सम्बन्धी भूलों का संक्षेप में प्रतिक्रमण किया गया है ।

कुछ पारिभाषिक शब्दों का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'उत्सुक्तो'—उत्सुक्तो का संस्कृत रूप 'उत्सूत्र' होता है । उत्सूत्र का अर्थ है—सूत्र अर्थात् आगम से विरुद्ध आचरण ।

‘उन्मग्नो’— उन्मार्गी रूप वर्णन् आयोगमिक भाव का जलवृत्त करके श्रीदयिक भाव में संकरण करना उन्मार्ग है। चारित्रावरण कर्म का जब क्षयोपशम होता है, तब चारित्र का आविभवि होता है और जब चारित्रावरण कर्म का उदय होता है तब चारित्र का घात होता है। अतः साधक को प्रतिपल उदय भाव से क्षयोपशमिक भाव में संचरण करते रहना चाहिये। मार्ग का अर्थ परम्परा भी है।

‘अकप्पो’—चरण एवं करण रूप धर्मव्यापार कल्प अर्थात् आचार कहलाता है। चरण-करण के विरुद्ध आचरण करना अकल्प है।

‘सुए’— अर्थात् श्रुत का अर्थ है श्रुतज्ञान। वीतराग तीर्थकर भगवान् के श्रीमुख से सुना हुआ होने से आगम-साहित्य को श्रुत कहा जाता है। लिपिबद्ध होने से पूर्व आगम श्रुतिपरम्परा से ही ग्रहण किए जाते थे, अर्थात् गुरु अपने शिष्य को और शिष्य अपने शिष्य को मौखिक रूप में आगम प्रदान करता था। इस कारण भी आगम ‘श्रुत’ कहलाता है। श्रुत-सम्बन्धी अतिचार का आशय है— श्रुत की विपरीत श्रद्धा एवं प्ररूपण।

‘सत्तण्हं पिङ्डेसणाण’—दोष रहित शुद्ध प्रासुक आहार-पानी ग्रहण करना एषणा है। पिङ्डेषण के सात प्रकार हैं—

१. असंसृष्टा—देय भोजन से विना सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना।
२. संसृष्टा—देय भोजन से सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना।
३. उद्भूता—वर्तम से थाली आदि में गृहस्थ ने अपने लिए जो भोजन निकाल रखा हो, वह लेना।
४. अल्पलेपा—जिनमें चिकमाहट न हो, अतएव लेप न लग सके, इस प्रकार के भूने हुए चने आदि ग्रहण करना।

५. अवगृहीता—भोजनकाल के समय भोजनकर्ता ने भोजनार्थ थाली आदि में जो भोजन परोस रखा हो, किन्तु अभी भोजन शुरू न किया हो, वह आहार लेना।

६. प्रगृहीता—थाली में भोजनकर्ता द्वारा हाथ आदि से प्रथम बार तो प्रगृहीत हो चुका हो, पर दूसरी बार ग्रास लेने के कारण झूठा न हुआ हो, वह आहार लेना।

७. उजिभतधर्मा—जो आहार अधिक होने अथवा अन्य किसी कारण से फेंकने योग्य समझकर डाला जा रहा हो, वह ग्रहण करना।

‘अद्वण्हं पद्धयणमाऊण’—पांच समिति और तीन गुप्ति मिलकर आठ प्रबचन-भाताएँ हैं। सम्पूर्ण अमणाचार की आधारभूमि पांच समिति और तीन गुप्ति ही हैं। समीचीन यतनापूर्वक प्रबृत्ति समिति और योगों का सम्यक् नियम हुप्ति कहलाता है।

पांच समिति—१. ईर्यासमिति, २. भाषासमिति, ३. एषणासमिति, ४. आयाण-भंडमत्तनिक्खेवणासमिति, ५. उच्चारणासवण्डिल-जलल-संधाण-परिद्वावणियासमिति।

तीन गुप्ति—१. मनोगुप्ति, २. वचनगुप्ति एवं ३. कायगुप्ति।

‘जं खंडियं जं विराहियं’—जो खंडित हुआ हो और विराधित हुआ हो। किसी ब्रत का अल्पशिन उल्लंघन खण्डन कहलाता है और सविशेष अतिक्रमण को विराधना कहते हैं। कहीं-कहीं सर्वांशि नहीं किन्तु अधिकांश के उल्लंघन को विराधना कहा गया है।

‘मिच्छा मि दुःखकड़’—मेरा दुष्कृत मिथ्या निष्फल हो। ‘मिच्छा मि’ इस पद का ‘मि’ ‘च्छा’ ‘मि’ ऐसा पदच्छेद करके इस प्रकार अर्थ करते हैं—यथा ‘मि’—कायिक और मानसिक अभिमान को छोड़कर, ‘छा’—असंयमरूप दोष को ढैंक कर, ‘मि’—चारित्र की मर्यादा में रहा हुआ मैं।

‘दु’ ‘क’ ‘ड़’—

‘दु’—सावद्यकारी आत्मा की निन्दा करता हूँ, ‘क’—किये हुए सावद्य कर्म को, ‘ड़’—उपशम द्वारा त्यागता हूँ। अर्थात् इवं भाव से नम्र तथा चारित्रमर्यादा में स्थित होकर मैं सावद्य कियोकारी आत्मा की निन्दा करता हूँ और किये हुए दुष्कृत (पाप) को उपशम भाव से हटाता हूँ। किन्तु यह एक बिलष्ट कल्पना है।

ऐयपिथिकसूत्र

इच्छामि पडिकमिउ इरियावहियाए विराहणाए गमणागमणे पाणकमणे श्रीय-कमणे, हरिय-कमणे, ओसा-उर्त्तिगपणग-दग-मट्टी-पक्कडा-संताणा-संकमणे,

जे मे जीवा विराहिया—एगिदिया, वेहंदिया, वेहंदिया, चउरिदिया, पंचिदिया, अमिह्या, वत्तिया, लेसिया, संधाइया, संधट्रिया, परियाविया, किलामिया, उद्विया, ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ बबरोविया,

तस्त मिल्ला मि दुःखकड़ ।

भावार्थ—मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। मार्ग में चलते हुए अथवा संयमधर्म पालन करते हुए लापरवाही अथवा असावधानी के कारण किसी भी जीव की किसी प्रकार की विराधना अर्थात् हिसा हुई हो तो मैं उस पाप से निवृत्त होना चाहता हूँ।

स्वाध्याय आदि के लिये उपाध्य से बाहर जाने में और फिर लौटकर उपाध्य आने में अथवा मार्ग में कहीं गमनागमन करते हुए प्राणियों को पैरों के नीचे या किसी अन्य प्रकार से कुचला हो, सचित जौ, गेहूं या किसी भी तरह के बीजों को कुचला हो, घास अंकुर आदि हरित वनस्पति को मसला हो, दबाया हो, आकाश से रात्रि में गिरने वाली ओस, उर्त्तिग अर्थात् कीड़ी आदि के बिल, पांचों ही रंग की सेवाल—काई, सचित जल, सचित पृथ्वी और मकड़ी के सचित जालों को दबाया हो, मसला हो तो मेरा वह सब अतिचारजन्य पाप मिथ्या हो—निष्फल हो तथा एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय तक किसी भी जीव की विराधना—हिसा की हो, सामने आते हुए को रोका हो, धूल आदि से ढैंका हो, जमीन पर या आपस में मसला हो, एकत्रित करके ऊपर नीचे ढेर किया हो, असावधानी से क्लेशजनक रीति से छुया हो, परितापित अर्थात् दुःखित किया हो, थकाया हो, त्रस्त—हैरान किया हो, एक जगह से दूसरी जगह बदला हो, जीवन से रहित किया हो, तो मेरा वह सब पाप मिथ्या हो—निष्फल हो ।

विवेकन—मनुष्य भ्रमणशील है। वह सदा-सर्वदा घूमता रहता है। कभी शरीर से घूमता है, कभी बाणी से दुनिया की सैर करता है, तो कभी मन से आकाश-पाताल को नापता है। उसका एक योग निरंतर गतिशील रहता है। उसकी यात्रा जिन्दगी की पहली सांस से प्रारम्भ होती है और अन्तिम सांस तक चलती रहती है। साधु तो विशेष रूप से घूमकड़ है। तात्पर्य यह है कि जीवन में गमनागमन करना अनिवार्य किया है और उससे अन्य प्राणियों को पीड़ा होना भी स्वाभाविक है।

प्रस्तुत ऐरपिथिक सूत्र में गमनागमन आदि प्रबृत्तियों में किस प्रकार और किन-किन जीवों को पीड़ा पहुँच जाती है? इसका अत्यन्त सूक्ष्मता एवं विशदता से वर्णन किया गया है। एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी सूक्ष्म एवं स्थूल जीवों को हुई पीड़ा के लिये हृदय से पश्चात्ताप करके शुद्ध-विशुद्ध बनाने का प्रभावशाली विधान इस पाठ में किया गया है।

जैनधर्म विवेकप्रधान धर्म है। विश्व में जितने भी धर्म के व्याख्याकार हुए हैं, उन्होंने प्रत्येक साधना को, चाहे वह लघु हो, चाहे महान्, चाहे सामान्य हो, चाहे विशिष्ट, विवेक की कसोटी पर कसकर देखा है। जिस साधना में विवेक है, वह सम्यक् साधना है, शुभ योग वाली साधना है और जिसमें अविवेक है, वह असम्यक् और अशुभ योग वाली साधना है। आचाराङ्गसूत्र में स्पष्ट कहा है—'विवेगे धर्मपाहिष' अर्थात् विवेक में ही धर्म है, विवेक सत्यासत्य का परीक्षण करने वाला दिव्य नेत्र है। हेतु क्या है, जेतु क्या है, उपादेय क्या है, कर्तव्य क्या है, अकर्तव्य क्या है? विवेकी पुरुष इन सब बातों का विवेक से ही निर्णय करता है। यातना अर्थात् विवेकपूर्वक चलने के किरने, खड़े होने, बैठने, सोने, आदि से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता, क्योंकि पाप-कर्म के बन्धन का मूल कारण अयतना है। दशवंकालिक सूत्र में कहा है—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये ।

जयं भुजंतो भासंतो, पाव-कर्मं न बंधई ॥ —वश. ४ । ८

प्रस्तुत पाठ हृदय की कोमलता का ज्वलन्त उदाहरण है। विवेक और यतना के संकल्पों का जीता जागता चित्र है। आवश्यक प्रवृत्ति के लिए इधर-उधर आना-जाना हुआ हो और उपयोग रखते हुए भी यदि कहीं असाधानीवश किसी जीव को पीड़ा पहुँची हो तो उसके लिये प्रस्तुत सूत्र में पश्चात्ताप प्रकट किया गया है।

'इच्छामि पद्मिकमिति इरियादहियाए विराहणाए'

यह प्रारम्भ का सूत्र आज्ञासूत्र है। इसके द्वारा गुरुदेव से ऐरपिथिक प्रतिक्रमण को आज्ञा ली जाती है।

'इच्छामि' शब्द से इच्छित होता है कि साधक पर बाहर का कोई दबाव नहीं है। वह स्वेच्छापूर्वक अन्तर की प्रेरणा से ही आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करना चाहता है। इसके लिए गुरुदेव से आज्ञा मांग रहा है। प्रायश्चित्त और दण्ड में यही अन्तर है। प्रायश्चित्त में अपराधी स्वयं अपने अपराध को स्वीकार करके पुनः आत्मशुद्धि के लिये प्रायश्चित्त करने को तत्पर रहता है। दण्ड में स्वेच्छा के लिए कोई स्थान नहीं है।

‘गमणागमणे’ से लेकर ‘जीवियाओ व्यवरोविया’ तक का पाठ्यशा आलोचनासूत्र है। आलोचना का अर्थ है गुरु महाराज के समक्ष अपने अपराध को एक के बाद एक कमशः प्रकट करना। अपनी भूल स्वीकार करना बहुत बड़ी बात है, और फिर उसे गुरु के समक्ष निष्कपट भाव से यथावृत् रूप में निवेदन करना तो और भी बड़ी बात है। आत्मशोधन की आन्तरिक कामना रखने वाले साहसी वीर पुरुष ही ऐसा कर सकते हैं।

विशिष्ट शब्दों का स्पष्टीकरण

‘अभिहृपा’—इसका संस्कृत रूप ‘अभिहृताः’ बनता है, जिसका अर्थ है सम्मुख आते हुए को रोका हो। अर्थात् सामने आते प्राणियों को रोककर उनकी स्वतन्त्र गति में बाधा डाली हो।

‘वसिया’—(वतिताः) अर्थात् धूल आदि से ढंके हों।

‘लेसिया’ का अर्थ है जीवों को भूमि पर मसलना और संघटिया का अर्थ है जीवों का स्पर्श करके पीड़ित करना।

‘उत्तिग’—का अर्थ चीटियों का नाल अथवा चीटियों का बिल किया गया है। आचार्य हरिभद्र ने इनका अर्थ ‘गर्दभ’ की आङ्गृति का जीव विशेष भी किया है, उत्तिगा गर्दभाङ्गतयो जीवाः, कीटिकानगराणि वा।’ आचार्य जिनदास महत्तर के उल्लेख से मालूम होता है कि यह भूमि में गड़ा करने वाला जीव है। ‘उत्तिगा नाम गर्दभाकिती जीवा भूमीए खड़ुयं करेति’—आवश्यकचूणि। ‘दग’—सचित् जल। ‘मद्गी’—सचित् पृथ्वी। ‘ठाणाओ ठाणं संकामिया’ एक स्थान से दूसरे स्थान पर धकेला हो। ‘व्यवरोविया’—धात किया हो।

आगारसूत्र

तस्य उत्तरीकरणेण पायच्छिष्टकरणेण विसोहीकरणेण विसल्लोकरणेण पावाणं कम्माणं निरधायणद्वाए ठामि काडस्सगं,

अश्वत्थ ऊससिएणं, नीससिएणं, खासिएणं, छीएणं, जंसाइएणं, उद्गुएणं, वार्णनिसमेणं, भमलीए, पित्तमुच्छाए,

सुहुमेयि अंग-संचालेहि,
सुहुमेहि खेल-संचालेहि,
सुहुमेहि विट्ठि-संचालेहि
एवमाइएहि आगारेहि,
अभग्नो अविराहिओ, हुञ्ज मे काउस्सगो,
जाव अरिहृताणं भगवंताणं,
नमुवकारेणं न पारेमि,
ताव कायं ठाणेणं मोणेषं
भाणेणं, अप्याणं योसिरामि ।

भावार्थ—आत्मा की विशेष उत्कृष्टता, निर्मलता या श्रेष्ठता के लिये, प्रायश्चित्त के लिए, शत्यरहित होने के लिए, पाप कर्मों का पूर्णतया विनाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

कायोत्सर्ग में कायव्यापारों का परित्याग करता है, निश्चल होता है। परन्तु जो शारीरिक क्रियाएँ अशब्दपरिहार होने के कारण स्वभावतः हरकत में आ जाती हैं उनको छोड़कर। (वे क्रियाएँ इस प्रकार हैं—)

ॐ चा श्वास, नीचा श्वास, खासी, छींक, उबासी, डकार, अपान वायु का निकलना, चक्कर आना, पित्तविकार-जन्य मूच्छी, सूक्ष्म रूप से अंगों का हिलना, सूक्ष्म रूप से कफ का निकलना, सूक्ष्म रूप से नेत्रों की हरकत से अथवा संचार से, इत्यादि आगारों से भेरा कायोत्सर्ग भग्न न हो एवं विराघना रहित हो।

जब तक श्रिरहंत भगवानों को नमस्कार न कर लूँ, तब तक एक स्थान पर स्थिर रह, मौन रहकर, धर्मध्यान में चित्त को स्थिर करके अपने शरीर को पापव्यापारों से अलग करता है।

विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में अतिचारों की विशेष शुद्धि के लिये विधिपूर्वक कायोत्सर्ग का स्वरूप बताया गया है।

यहाँ पर 'तस्स' पद से अतिचारयुक्त आत्मा को ग्रहण किया गया है। कोई-कोई 'तस्स' इस पद से अतिचार का ग्रहण करते हैं, लेकिन वह उचित नहीं है। वास्तव में उसका सम्बन्ध 'तस्स मिच्छा मि दुक्कड़' इस पद के साथ है। 'उत्तरीकरणेण' और 'विसल्लीकरणेण' के साथ उसका सम्बन्ध नहीं बैठता। कारण यह है कि न तो अतिचारों को उत्कृष्ट बनाने के लिये कायोत्सर्ग किया जाता है और न उसमें माया आदि शल्य होते हैं। मायादि शल्य तो आत्मा के विभाव परिणाम हैं, अतः स्पष्ट है कि 'तस्स' का अर्थ आत्मा ही हो सकता है। आत्मविकास की प्राप्ति के लिये शरीर सम्बन्धी समस्त चंचल व्यापारों का त्याग करना ही इस सूत्र का प्रयोजन है।

यह उत्तरी-करण सूत्र है। इसके द्वारा ऐयीपथिक प्रतिक्रमण से शुद्ध आत्मा में बाकी रही हुई सूक्ष्म मलीनता को भी दूर करने के लिये विशेष परिष्कार—स्वरूप कायोत्सर्ग का संकल्प किया जाता है। प्रस्तुत उत्तरीकरण पाठ के सम्बन्ध में संक्षिप्त में हम कह सकते हैं कि व्रत एवं आत्मा की शुद्धि के लिये प्रायशिच्चत् आवश्यक है। प्रायशिच्चत् विना भाव की शुद्धि के नहीं हो सकता। भाव-शुद्धि के लिए शल्य (माया, निदान, मिथ्यादर्शन) का त्याग जरूरी है। शल्य का त्याग और पापकर्मों का नाश कायोत्सर्ग से ही हो सकता है, अतः कायोत्सर्ग करना परमावश्यक है।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ

'तस्स'—अतिचारों से दूषित आत्मा की। 'उत्तरीकरणेण'—उत्कृष्टता या निर्मलता के लिए, 'विसल्लीकरणेण'—शल्यरहित करने के लिये। 'ठामि'—करता है। उद्भूषण—डकार आने से। 'भमलीए'—चक्कर आ जाने से। 'खेलसंचालेहि'—खेल-श्लेष्म-कफ के संचार से।

ज्ञान के अतिचार का पाठ

आगमे तिविहे पण्ठत्ते, तं जहा—सुत्तागमे, अत्यागमे तदुभयागमे ।^१

जं वाहङ्गं, वच्चामेलिंगं, होणक्खरं, अच्चक्खरं पयहीणं, विणयहीणं, ऊगहीणं, घोसहीणं,

१. इस तरह तीन प्रकार के आगम रूप ज्ञान के विषय में कोई अतिचार लगा हो तो आलोकः।

सुट्ठुदिष्टं, बुट्ठु पडिच्छियं, अकाले कश्चो सज्जभाश्चो, काले न कश्चो सज्जभाश्चो, असज्जभाए सज्जभाइयं, सज्जभाए न सज्जभाइयं, ' तस्स मिच्छा मि दुष्कर्ण ॥

भावार्थ आगम तीन प्रकार का है—

१. सुलागम,
२. अत्थागम,
३. तदुभयागम ।

जिसमें अक्षर थोड़े पर अर्थ सर्वव्यापक, सारगम्भित, सन्देहरहित, निर्दोष तथा विस्तृत हो उसे विद्वान् लोग 'सूत्र' कहते हैं ।

सूत्र रूप आगम 'सूत्रागम' कहलाता है तथा जो मुमुक्षुओं से प्राप्ति हो उसे 'अथगम' कहते हैं । केवल सूत्रागम से प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए सूत्र और अर्थ रूप 'तदुभयागम' कहा है ।

इस आगम का पाठ करने में जो अतिचार—दोष लगा हो, उसका फल मिथ्या हो । वे अतिचार इस प्रकार हैं—

१. सूत्र के अक्षर उलट-पलट पढ़े हों ।

२. एक ही शास्त्र में अलग-अलग स्थानों पर आये हुए समान अर्थ वाले पाठों को एक स्थान पर लाकर पढ़ा हो अथवा अस्थान में विराम लिया हो या अपनी बुद्धि से सूत्र बनाकर सूत्र में ढालकर पढ़े हों ।

३. हीन अक्षर युक्त अर्थात् कोई अक्षर कम करके पढ़ा हो ।

४. अधिक अक्षर युक्त पढ़ा हो ।

५. पदहीन पढ़ा हो,

६. विनयरहित पढ़ा हो,

७. योगहीन (मन की एकाग्रता से रहित) पढ़ा हो । अथवा जिस शास्त्र के अध्ययन के लिए जो आयंबिल आदि करने रूप योगोद्वहन—तपश्चरण विहित है, उसे न करके पढ़ा हो ।

८. उदात्त आदि स्वरों से रहित पढ़ा हो ।* अथवा पात्र-अपात्र का विवेक किए विना पढ़ाया हो ।

९. 'सुट्ठुदिष्टं' — शिष्य में शास्त्र प्रहृण करने की जितनी शक्ति हो उससे अधिक पढ़ाया हो ।

१०. आगम को दुष्ट भाव से प्रहृण किया हो ।

११. जिन सूत्रों के पठन का जो काल शास्त्र में कहा है, उससे भिन्न दूसरे काल में उन सूत्रों का स्वाध्याय किया हो ।

१. भणतां गुणतां विचारतां ज्ञान और ज्ञानवंत की भाषातना की हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुष्कर्ण ।'

२. स्वर के तीन भेद हैं उदात्त, अनुदात्त, स्वरित । 'उच्चैरुपलङ्घयमान उदात्तः, नीर्वैरनुदात्तः, समवृत्त्या स्वरितः', अर्थात्—तीव्र उच्चारण पूर्वक बोलना उदात्त, धीमे बोलना अनुदात्त तथा मध्यमरूप से बोलना स्वरित कहलाता है ।

१२. स्वाध्याय के शास्त्रोक्त काल में स्वाध्याय न किया हो ।

१३. अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय किया हो ।

१४. स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न किया हो, उससे उत्पन्न हुआ मेरा सर्व पाप निष्फल हो ।

विवेचन—जो ज्ञान तीर्थीकर भगवान् के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण शंकारहित एवं अलोकिक हैं तथा भव्य जीवों को चकित कर देने वाला है अथवा जो ज्ञान अर्हन्त भगवान् के मुख से निकलकर गणधर देव को प्राप्त हुआ तथा भव्य जीवों ने सम्बक्ष भाव से जिसको माना उसे 'आगम' कहते हैं ।

मूल पाठ रूप, अर्थ रूप एवं मूल पाठ और अर्थ-उभय रूप, इस तरह तीन प्रकार के आगम-ज्ञान के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ । यदि सूत्र कमपूर्वक न पढ़ा गया हो, यथा—'नमो अरिहंताणं' की जगह 'अरिहंताणं नमो' ऐसा पढ़ा हो । अक्षरहीन पड़ा हो, जैसे 'अनल' शब्द का अकार कभ कर दिया जाय तो 'नल' बन जाता है तथा 'कमल' शब्द के 'क' को कम कर देने से 'मल' बन जाता है इत्यादि; इस विषय में विद्याधर और अभयकुमार का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

उड़ते-गिरते किसी विद्याधर के विमान को देखकर अपने पुत्र अभयकुमार के साथ राजा श्रेणिक ने भगवान् से पूछा—भन्ते ! यह विमान इस प्रकार उड़-उड़ कर बयाँ गिर रहा है ? तब भगवान् ने फरमाया—यह विद्याधर अपनी विद्या का एक अक्षर भूल गया है, जिससे यह विमान बिना पांख के पक्षी की तरह बार-बार गिरता है ।

ऐसा सुनकर राजा श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार ने अपनी पदानुसारिणी-लब्धि द्वारा उसके विमानचारण मंत्र को पूरा करके उसके मनोरथ को सिद्ध किया और उस विद्याधर से आकाशगामिनी विद्या की सिद्धि का उपाय सीख लिया ।

अधिक अक्षर जोड़कर पढ़ा जाए तो—यथा 'नल' शब्द के पहले 'अ' जोड़कर पढ़ा जाए तो 'अनल' बन जाता है, जिसका अर्थ अग्नि है । पद को न्यून या अधिक करके बोला गया हो, विनय-रहित पढ़ा गया हो, योगहीन पढ़ा हो, उदात्तादि स्वर रहित पढ़ा हो, शक्ति से अधिक पढ़ाया हो, पढ़ा हो, आगम को बुरे भाव से ग्रहण किया हो ।

अकाल में स्वाध्याय किया हो और स्वाध्याय के लिए नियत काल में स्वाध्याय न किया हो, अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय किया हो, स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न किया हो तथा पढ़ते समय, विचरते समय ज्ञान तथा ज्ञानवन्त पुरुषों की अविनय-आशातना की हो तो मेरा वह सब पाप निष्फल हो ।

॥ प्रथम सामायिकावश्यक सम्पाद ॥



द्वितीय अध्यायन : चाटुविंशतिस्तव

लोगस्त उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
 अरिहंते कितहसं, चडबीसं पि केवली ॥१॥

उत्तमजियं च वंदे, संभवमभिण्वणं च सुमझे च ।
 पउमप्पहं सुपासं, जिणं च अंदप्पहं वंदे ॥२॥

सुविहं च पुण्यवंतं, सीयल-सिञ्जंस-वासुपूज्ञं च ।
 विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संति च वंदामि ॥३॥

कुंथुं शरं च मल्ल, वंदे मुणिसुखवयं नमिजिणं च ।
 वंदामि रिदुमेमि, पासं तह चढुमाणं च ॥४॥

एवं मए अभिषुआ, विहूयरयमला पहोणजरमरणा ।
 चडबीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥५॥

कित्तिय-वंदिय-महिया, जे ए लोगस्त उत्तमा सिद्धा ।
 आरुग-बोहि लाभं, समाहि-वरमुक्तमं वितु ॥६॥

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
 सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धि मम विसंतु ॥७॥

भावार्थ - अखिल विश्व में धर्म या सम्यग्ज्ञान का उद्योत करने वाले, धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले, रागद्वेष को जीतने वाले, अन्तरंग शत्रुओं को नष्ट करने वाले केवलज्ञानी चौबीस तीर्थकरों का मैं कीर्तन करूँगा अर्थात् स्तुति करूँगा या करता हूँ ॥१॥

श्री ऋषभदेव को और अजितनाथ को वन्दन करता हूँ । सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपाश्वं और रागद्वेष के विजेता चत्वरप्रभ जिन को नमस्कार करता हूँ ॥२॥

श्री पुष्पदन्त (सुविधिनाथ), शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमलनाथ, रागद्वेष के विजेता अनन्त, धर्मनाथ तथा श्री शान्तिनाथ भगवान् को नमस्कार करता हूँ ॥३॥

श्री कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लनाथ, मुनिसुब्रत एवं नमिनाथजिन को वन्दन करता हूँ । इसी प्रकार भगवान् अरिष्टनेमि, पाश्वनाथ और वर्धमान स्वामी को भी नमस्कार करता हूँ ॥४॥

जिसकी मैंने नामनिर्देशपूर्वक स्तुति की है, जो कर्म रूप रज एवं मल से रहित है, जो जरा-

मरण—दोनों से सर्वथा मुक्त हैं, वे आन्तरिक शत्रुओं पर विजय पाने वाले धर्मप्रवर्तक चौबीस तीर्थकर मुझ पर प्रसन्न हों ॥५॥

यिन्हीं इन्द्रादि देवों तक गुल्मी ने स्तुति की है, बन्दना की है, भाव से पूजा की है और जो सम्पूर्ण लोक में सबसे उत्तम है, वे तीर्थकर भगवान् मुझे आरोग्य अर्थात् आत्म-स्वास्थ्य या सिद्धत्व अर्थात् आत्म-शान्ति, बोधि—सम्यक् दर्शनादि रत्नत्रय का पूर्ण लाभ तथा श्रेष्ठ समाधि प्रदान करें ॥६॥

जो चन्द्रमाश्रों से भी विशेष निर्मल हैं, जो सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान हैं, जो स्वयंभूरभूषण जैसे महासमुद्र के समान गम्भीर हैं, वे सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि प्रदान करें, अर्थात् उनके आलम्बन से मुझे सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो ।

विवेचन—पहले अध्ययन में सावद्य योग की निवृत्ति रूप सामाधिक का निरूपण करके अब चतुर्विंशतिस्तव रूप इस दूसरे अध्ययन में समस्त सावद्य योगों की निवृत्ति का उपदेश होने से सम्यक्त्व की विशुद्धि तथा जन्मान्तर में भी बोधि और सम्पूर्ण कर्मों के नाश के कारण होने से परम उपकारी तीर्थकर भगवन्तों का गुण-कीर्तन अर्थात् स्तवन किया गया है ।

जो केवलज्ञान रूपी सूर्य अथवा ज्ञान के द्वारा देखा जाय उसे व्युत्पत्ति की उपेक्षा से 'लोक' कहते हैं । यहाँ जैन परिभाषा के अनुसार 'लोक' शब्द से पञ्चास्तिकाय का ग्रहण है । शास्त्र में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप चतुर्विंशति लोक का भी कथन है । यहाँ इन सभी का ग्रहण समझ लेना चाहिये । इस समस्त लोक को प्रबचन रूपी दीपक द्वारा प्रकाशित करने वाले, प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर सुगति में धारण करने वाले, धर्म रूप तीर्थ की स्थापना करने वाले, रागादि कर्मशत्रुओं को जीतने वाले चौबीस तीर्थकरों की मैं स्तुति करता हूँ ।

इस प्रकार चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करने की सामान्य रूप से प्रतिज्ञा करने के पञ्चात् नामग्रहणपूर्वक विशेष रूप से स्तुति की गई है । जो लोकालोक के स्वरूप को जानने वाले, परम पद को प्राप्त होने वाले, भव्य जनों के आधारभूत, धर्म रूपी बगीचे को प्रबचन रूप जल से सीचने वाले तथा दृष्टि से युक्त हैं, ऐसे श्री शृष्टभद्रेव स्वामी को मैं बन्दन करता हूँ ॥

जो रागद्वेष को जीतने वाले हैं तथा जब वे गर्भ में आये तब चौपड़ सेलते समय माता की हार न होने से जिनका नाम 'अजित' पड़ा है, उन श्री अजितनाथ को मैं बन्दन करता हूँ ।

जो अनन्त सुख स्वरूप है, और जिनके गर्भ में आते ही धान्यादि के अधिक संभव होने से दुष्कृति मिटकर सुधिकर हो गया ऐसे श्री संभवनाथ को बन्दन करता हूँ ।

जो भव्य जीवों को हरित करने वाले हैं और गर्भ में आने पर जिनका इन्द्र ने बार-बार स्तवन-अभिनन्दन किया, उन श्री अभिनन्दन स्वामी को मैं बन्दन करता हूँ ।

इसी प्रकार विभिन्न विशेषताओं से युक्त केवलज्ञानियों में श्रेष्ठ चौबीस तीर्थकर हैं, वे मुझ पर प्रसन्न हों । 'चउबीसंपि' में 'अपि' शब्द से महाविदेह क्षेत्र में विहरमान तीर्थकर ग्रहण किए गए हैं । उन सबको भी बन्दन करता हूँ ।

कलिपथ शब्दों का स्पष्टीकरण—कित्तिय—पृथक्-पृथक् नाम से कीर्तित अथवा स्तुत, बंदिय—बन्दित-मन वबन तथा काय से स्तुत, महिया—मूजित, ज्ञानातिशय आदि गुणों के कारण सब प्राणियों द्वारा सम्मानित। पूजा का शर्य रुक्षार एवं लग्नार कहारा है। आधारों ने पूजा के दो भेद किए हैं—द्रव्यपूजा एवं भावपूजा। प्रभुपूजा के लिए पुष्पों की आवश्यकता होती है, किन्तु वे निरवद्य अचित्त भाव-पूष्प ही होने चाहिये। इसके विषय में जैन-जगत् प्रसिद्ध आचार्य हरिभद्र ने अष्टक प्रकरण में प्रभुपूजा के योग्य भाव-पूष्पों का वर्णन इस प्रकार किया है—

अहिसा सत्यमस्तेयं, ऋह्यचर्यमसंगता ।

गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं, सत्युष्णाणि प्रचक्षते ॥

—अष्टक प्रकरण ३।६

अर्थात्—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ऋह्यचर्य, अनासक्ति, भक्ति, तप एवं ज्ञान रूपी प्रत्येक पुष्प जीवन को महका देने वाला है। ये हृदय के भाव पूष्प हैं।

आरुग्म—अर्थात् आरोग्य आत्म-स्वास्थ्य या आत्म-शांति। आरोग्य दो प्रकार का होता है—द्रव्यारोग्य और भावारोग्य। द्रव्य-आरोग्य यानी ज्वर आदि रोगों-विकारों से रहित होना। भाव-आरोग्य यानी कर्म-विकारों से रहित होना। अर्थात् आत्म-शांति मिलना, आत्मस्वरूपस्थ होना या सिद्ध होना। प्रस्तुतसूत्र में 'आरोग्य' का मूल अभिप्राय भाव-आरोग्य से है। भाव-आरोग्य की साधना के लिए द्रव्य-आरोग्य भी अपेक्षित है, क्योंकि जब तक शरीर एवं मन स्वस्थ नहीं होगा, तब तक आत्म साधना का होना कठिन होगा, किन्तु वह यहाँ विवक्षित नहीं है। अथवा 'आरुग्मबोहिलाभं पद का अर्थ है—आरोग्य अर्थात् मोक्ष के लिए वीधि सम्यग्दर्शनादि का लाभ।

संसार-सागर से पार कराने वाला एवं दुर्गति से बचाने वाला धर्म ही सच्चा तीर्थ है—जो अहिसा, सत्य आदि धर्म-तीर्थों की स्थापना करते हैं, वे तीर्थकर कहलाते हैं। चौबीसों ही तीर्थकरों ने अपने-अपने समय में धर्म की स्थापना की है, धर्म से ढिगती हुई जनता को पुनः धर्म में स्थिर किया है।

प्रस्तुत धाठ में अन्तिम शब्द आते हैं—सिद्धि मम विसंतु—इसका अर्थ है—सिद्ध भगवान् पुर्खे सिद्धि प्रदान करें। यहाँ शंका हो सकती है कि—सिद्ध भगवान् तो वीतराग है, कृत-कृत्य है, किसी को कुछ देते-लेते नहीं, फिर उनसे इस प्रकार की याचना की क्यों गई है? समाधान यह है कि वस्तुतः इसका आशय यह है कि भक्त भगवान् का आलम्बन लेकर ही सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

॥ द्वितीय आवश्यक समाप्त ॥



[३]

तृतीय अध्यायन : टन्दन

इच्छामि खमासणो

इच्छामि खमासणो ! बंदिं जावणिङ्गजाए निसीहियाए, अणुजाणह मे मितगाहु, निसीहि अहोकायं कायसंकासं, खमणिङ्गजो भे किलामो, अप्पकिलंतार्ण, बहुसुभेण मे विवसो बहुकंतो ? जत्ता भे ? जदणिङ्गजं च भे ? खामेमि खमासमणो ! देवसिं बहुकमं, आवस्तियाए पडिकमामि । खमासमणार्ण देवसिङ्गाए आसायणाए तित्तीसल्लयराए जं किञ्चि मिच्छाए मणदुककडाए बयदुककडाए कायदुककडाए कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए, सब्बकालियाए सञ्चमिष्ठोवयराए सञ्चधम्माइकमणाए आसायणाए, जो मे देवसिङ्गो अह्यारो कश्रो तस्स खमासमणो ! पडिकमामि निदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि ।

आदर्थ—इच्छा निवेदन—हे क्षमावान् श्रमण ! मैं आपने शरीर को पाप-क्रिया से हटाकर यथाकृति बन्दना करना चाहता हूँ ।

अनुज्ञापना—इसलिए मुझको परिमित भूमि (अवग्रह) में प्रवेश करने की आज्ञा दीजिये ।

पाप क्रिया को रोककर मैं आपके चरणों का आपने मस्तक से स्पर्श करता हूँ । मेरे ढारा छूने से आपको बाधा हुई हो तो उसे क्षमा कीजिये ।

शरीरयात्रा-पृच्छा—आपने अग्लान अवस्था में रहकर बहुत शुभ क्रियाओं से दिवस विताया है ?

संयमयात्रा-पृच्छा—आपकी संयमयात्रा तो निर्बाध है ? और आपका शरीर, मन तथा हृदियों की फीड़ा से तो रहित है ?

अपराध-क्षमापना—हे क्षमावान् श्रमण ! मैं आपको दिवस सम्बन्धी अपराध के लिए खमाता हूँ और आवश्यक क्रिया करने में जो विपरीत अनुष्ठान हुआ है उससे निवृत्त होता हूँ । आप क्षमाश्रमण की दिवस में की हुई तेतीस में से किसी भी आशातना ढारा मैंने जो दिवस सम्बन्धी अतिचार सेवन किया हो^१ उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ तथा किसी भी मिथ्या भाव से की हुई, दुष्ट मन से, वचन से और काया से की हुई, क्रोध, मान, माया, और लोभ से की हुई, मूतकालादि सर्वकाल सम्बन्धी सर्व मिथ्योपचार से की गई, धर्म का उल्लंघन करने वाली आशातना के ढारा जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार सेवन किया हो, तो हे क्षमाश्रमण ! उससे मैं निवृत्त होता हूँ, उसकी मैं निन्दा करता हूँ और विशेष निन्दा करता हूँ, गुरु के समक्ष निन्दा करता हूँ और आत्मा को (आपने आपको) पाप सम्बन्धी व्यापारों से निवृत्त करता हूँ ।

१. रात्रि प्रतिक्रमण करते समय

विवेचन—दूसरे अध्ययन में प्राणातिपात आदि सावद्य योग की निवृतिरूप सामायिक व्रत के उपदेशक तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। तीर्थंकरों से उपदिष्ट वह सामायिक व्रत गुरु महाराज की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। इस कारण, तथा गुरुवन्दनपूर्वक ही प्रतिक्रमण करने का शिष्टाचार होने से गुरुवन्दन करना आवश्यक है। जटपूत 'गुरुवन्दन' नामक तृतीय अध्ययन प्रारम्भ करते हैं—

'इच्छामि'—जैनधर्म इच्छाप्रधान धर्म है। साधक प्रत्येक साधना अपनी स्वयं की इच्छा से करता है, उस पर किसी का दबाव नहीं रहता है। चित्त की प्रसन्नता के अभाव से अरुचिपूर्वक या दबाव से की जाने वाली साधना, वस्तुतः साधना न होकर एक तरह से दण्ड रूप हो जाती है। दबाव से या भय के भार से लदी हुई निष्प्राण धर्मक्रियाएं साधक के जीवन को उन्नत बनाने के बदले कुचल देती हैं। यही कारण है कि जैनधर्म की साधना में सर्वत्र 'इच्छामि खमासमणो', 'इच्छामि पडिक्कमामि' आदि रूप में सर्वप्रथम 'इच्छामि' का प्रयोग होता है। इच्छामि का अर्थ है—मैं चाहता हूँ अर्थात् मैं अन्तःकरण की प्रेरणा से यह क्रिया करने का अभिलाषी हूँ।

'खमासमणो'—शमणः, शमनः, समनाः, समणः, इन चारों शब्दों का प्राकृत में 'शमणो' रूप बनता है। इन चारों के शब्दार्थ में किंचित् भिन्नता होने पर भी भावार्थ में भेद नहीं है।

१. 'शमण'—बारह प्रकार की तपस्या में शम अर्थात् परिश्रम करने वाले, अथवा इन्द्रिय एवं मन का दमन करने वाले को 'शमण' कहते हैं।

२. 'शमन'—क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय एवं नोकपाय रूपी अभिन को शान्त करने वाले को 'शमन' कहते हैं।

३. 'समन'—शत्रु तथा मित्र पर समझाव रखने वाले को 'समन' कहते हैं।

४. 'समण'—अच्छी तरह से जिनवाणी का उपदेश देने वाले, अथवा संयम के बल से कषाय को जीतकर रहने वाले को 'समण' कहते हैं।

'शमु' धातु तग और खेद अर्थ में ब्यवहृत होती है। अतः जो तपश्चरण करता है एवं संसार से सर्वथा निलिप्त रहता है, वह शमण कहलाता है। क्षमाप्रधान शमण क्षमाथमण होता है।

अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के छह प्रकार बताए गए हैं—

'सामाइयं चउवीसत्यग्रो, वंदयगं, पडिक्कमणं, क्षाउस्तमणो पच्चक्खाणं ।'

इनमें बन्दना तीसरा आवश्यक है। इसमें शिष्य गुरुदेव को बन्दन कर सम्बोधन करके कहता है—हे क्षमाथमण गुरुदेव ! मैं अपनी शक्ति के अनुसार प्राणातिपात आदि सावद्य व्यापारों से रहित काय से बन्दना करना चाहता हूँ, अतः आप मुझे मितावश्रह (जहाँ गुरु महाराज विराजित हों, उनके चारों ओर की साढ़े तीन हाथ भूमि) में प्रवेश करने की आज्ञा दीजिये।

गुरु शिष्य को 'अनुजानामि' अर्थात् आज्ञा देता हूँ, कहकर प्रवेश की आज्ञा देते हैं। आज्ञा पाकर शिष्य कहता है—हे गुरु महाराज ! मैं सावद्य व्यापारों को रोककर मस्तक और हाथ से आपके चरणों का स्पर्श करता हूँ। इस तरह बन्दना करने से मेरे द्वारा आपको किसी प्रकार का कष्ट पहुँचा हो तो आप उसे क्षमा करें।

खामेमि खमासमणो ! देवसियं वद्वक्कमं प्रावसिसयाए पडिक्कमामि—अर्थात् हे खमा-
श्रमण ! दिवस सम्बन्धी जो कुछ अपराध हो चुका है उसके लिये खमा चाहता हूँ और भविष्य में
आपकी आज्ञा की प्राराधना रूप आवश्यक किया के द्वारा अपराध से अलग रहूँगा, अर्थात् अपराध
नहीं करने का प्रयत्न करूँगा ।

अन्वयना विधि

‘इच्छिद्वय एवात्मके लक्षितं ज्ञावणिभजाए निसीहियाए’—वन्दना के समय उपर्युक्त सूत्रांश
बोलकर अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा के लिये अवग्रह से बाहर ही खड़ा रहकर दोनों हाथ लताट-
सदैव मस्तक पर वहन करने के लिए कृतप्रतिज्ञ है ।

प्रथम के तीन आवर्त—‘अहो’-‘काय’-‘काय’—इस प्रकार दो-दो अक्षरों से पूरे होते हैं। कमलमुद्रा से अंजलिबद्ध दोनों हाथों से गुरु-चरणों को स्पर्श करते हुए मन्द स्वर से ‘अ’ अक्षर पहला आवर्तन है। इसी प्रकार ‘का....य’ और ‘का....य’ के बीच दो आवर्त भी किए जाते हैं।

पहला आवितन है। इस प्रकार कानून जारी करें।

अगले तीन आवर्त—१. 'जता भे,' २. 'जवणि,' ३. 'जं च भे'—इस प्रकार तीन-तीन अक्षरों के होते हैं। कमल-मुद्रा से अंजलि बाँधि हुए दोनों हाथों से गुहचरणों को स्पर्श करते हुए अनु-दात्त मन्द स्वर से 'ज' अक्षर कहना चाहिये। पुनः हृदय के पास अञ्जलि लाते हुए स्वरित-मध्यम दात्त मन्द स्वर से 'ता' अक्षर कहना चाहिए। फिर अपने मस्तक को छूते हुए उदात्त स्वर से 'भे' अक्षर कहना स्वर से 'ता' अक्षर कहना चाहिए। यह प्रथम आवर्त है। इसी पद्धति से 'ज ... व ... णि' और 'जं ... च ... भे' ये शेष दो आवर्त चाहिए। प्रथम 'खमासमणे' छह और इसी प्रकार दूसरे 'खमासमणे' के छह, कुल बारह आवर्त होते हैं।

इस प्रकार शिष्य, अवग्रह के बाहर प्रथम इच्छा-निवेदन-स्थान में यथाजात मुद्रा से दोनों हाथों में रजोहृषण लिए हुए आधा शरीर भुकाकर नमन करता है और 'इच्छामि खमासमणो' से लेकर 'निसीहियाए' तक का पाठ पढ़कर बन्दनकर्ता शिष्य बन्दन करने की इच्छा निवेदन करता है। शिष्य के इस प्रकार निवेदन करने के पश्चात् अवग्रह से बाहर रहकर ही 'तिकखुत्तो' के पाठ से बन्दन कर लेना चाहिए। अथवा गुरु 'छन्देण' ऐसा शब्द कहते हैं, जिसका अर्थ है—इच्छानुसार बन्दन करने की सम्मति देना।

गुरुदेव की तरफ से उपर्युक्त पढ़ति के द्वारा बन्दन करने की आज्ञा मिल जाने पर शिष्य आगे बढ़कर, अवग्रहक्षेत्र के बाहर, किन्तु पास ही 'अवग्रह-प्रवेशाज्ञा-याचना' नामक दूसरे स्थान में पुनः अद्विनत होकर नमन करता है और गुरुदेव से 'अणुजाणह' में मिडग्रह 'इस पाठ के द्वारा कहुकर आज्ञा प्रदान करते हैं।

कहकर आज्ञा प्रदान करते हैं। आज्ञा मिलने के बाद 'यथाजात मुद्रा' अर्थात् दीक्षा अंगीकार करते समय शिष्य की जैसी मुद्रा होती है, वैसी, दोनों हाथ अंजलिबद्ध कपाल (मस्तक) पर रखने की मुद्रा से 'निसीहि-निसीहि' पद कहते हुए अवग्रह में प्रवेश करना चाहिये। बाद में रजोहरण से भूमि प्रमार्जन कर गुरुदेव के

पास उकड़ू अर्थात् गोदुहासन से बैठकर प्रथम के तीन आवर्त 'अहो-कायं-कायं' पूर्वोक्त विधि के अनुसार करके 'संफास' कहते हुए गुरु-चरणों में मस्तक लगाना चाहिये ।

तत्पश्चात् 'खमणिज्जो भे किलामो' पाठ के द्वारा चरण-स्पर्श करते समय गुरुदेव को जो बाधा होती है, उसकी क्षमा माँगी जाती है । तदनन्तर 'अप्पकिलंताण वहुसुभेण भे दिवसो वइकंतो ?' कहकर दिवस संबंधी कुशल-क्षेम पूछा जाता है । फिर गुरु भी 'तथा' कहकर अपने शिष्य का कुशल-क्षेम पूछते हैं ।

अनन्तर शिष्य 'ज त्ता भे' 'ज ब णि' 'ज्जं च भे'—इन तीनों आवर्तों की क्रिया करे एवं संयम-यात्रा तथा शरीर संबंधी शांति पूछे । उत्तर में गुरुदेव भी शिष्य से उसकी यात्रा और यापनीय सम्बन्धी सुख-शान्ति पूछें । इसके बाद 'आवस्तियाए' कहते हुए अवग्रह से बाहर आना चाहिये ।

प्रस्तुत पाठ में जो 'वहुसुभेण भे दिवसो वइकंतो' में 'दिवसो वइकंतो' पाठ है, उसके स्थान में राशि-प्रतिक्रमण के समय 'राहि वइकंता', पाक्षिक प्रतिक्रमण में 'पक्खो वइकंतो', चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में 'चाउम्भासी वइकंता' तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 'संवल्लरो वइकंतो' ऐसा पाठ बोलना चाहिए ।

द्वयदायांग पूज के १८वें संग्रह में वन्दन के रूपरूप का प्ररूपण करते हुए भगवान् महावीर ने वन्दन की २५ विधियां बतलाई हैं—

दुश्मोण्यं जहाजायं, कितिकम्भं बारसावयं ।

चउसिरं तिगुतं च, बुपवेसं एग निक्षमणं ॥

अर्थात् दो अवनत, एक यथाजात, बारह आवर्त, चार शिर, तीन गुण्ठि, दो प्रवेश और एक निष्क्रमण इस प्रकार कुल पच्चीस आवश्यक हैं ।

आवश्यक-क्रिया में तीसरे वन्दन आवश्यक का महत्वपूर्ण स्थान है । गुरुदेव को विनम्र हृदय से वन्दन करना तथा उनकी दिन तथा रात्रि सम्बन्धी सुख-शान्ति पूछना शिष्य का परम कर्तव्य है, क्योंकि अरिहन्तों के पश्चात् गुरुदेव ही आध्यात्मिक साम्राज्य के अधिपति हैं, उनको वन्दन करना भगवान् को वन्दन करने के समान है । वन्दन करने से विनम्रता आती है । प्राचीन भारत में प्रस्तुत विनय के सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया गया है । कहा भी है 'विणयो जिण-सासणमूलम्' अर्थात् विनय जिनशासन का मूल है । जैनसिद्धान्तदीपिका में कहा है 'अनाशातना बहुमानकरणं च विनयः (' अशातना नहीं करना तथा बहुमान करना विनय है ।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ जावणिज्जाए—शक्ति की अनुकूलता से, शक्ति के अनुसार । निसीहियाए—सावद्य व्यापार की निवृत्ति से । अणुजाणह—अनुमति दीजिये । मितगाह—मित्रवग्रह अर्थात् गुरु महाराज जहाँ विराजमान हों, उसके चारों ओर की साढे तीन हाथ चौड़ी भूमि । अहो कायं—अधःकाय शरीर का भाग, चरण । कायसंफासं काय अर्थात् हाथ से, (चरणों का) सम्यक् स्पर्श । खमणिज्जो—क्षमा के योग्य । जे आपके द्वारा । अप्पकिलंताण—जागीरिक श्रम या बाधा से रहित । 'अप्प' (अल्प) शब्द यहाँ 'प्रभाव' का वाचक है । वइकंतो—व्यतीत हुआ । जत्ता-संयम रूप यात्रा । जवणिज्जं—(यापनीयम्) इन्द्रियादि की बाधा से रहित । वइकमं—अतिचार ।

आवस्थित्या—अवश्य करने योग्य चरण-करण रूप किया। आसायणा—अवश्या, अनादर। तेत्तीसप्त-यराए—तेतीस प्रकार (की आशातना) में से कोई भी। सम्बकालियाए—सर्व-भूत, वर्तमान, भविष्यत् काल संबंधी। सम्बन्धिक्षयाराए—सदौशतः मिथ्या उपचारों से युक्त।

आशातनाएं तेतीस हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. शैक्ष (नवदीक्षित या अल्प दीक्षा-पर्याय वाला) साधु रात्निक (शैक्षिक दीक्षा पर्याय वाले) साधु के अति निकट होकर गमन करे। यह शैक्ष की (शैक्ष हारा की गई) पहली आशातना है।

२. शैक्ष साधु रात्निक साधु के आगे गमन करे। यह शैक्ष की दूसरी आशातना है।

३. शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ बराबरी से चले। यह शैक्ष की तीसरी आशातना है।

४. शैक्ष साधु रात्निक साधु के आगे खड़ा हो। यह शैक्ष की चौथी आशातना है।

५. शैक्ष साधु रात्निक साधु के बराबरी से खड़ा हो। यह शैक्ष की पांचवीं आशातना है।

६. शैक्ष साधु रात्निक साधु के अति निकट खड़ा हो। यह शैक्ष की छठी आशातना है।

७. शैक्ष साधु रात्निक साधु के आगे बैठे। यह शैक्ष की सातवीं आशातना है।

८. शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ बराबरी से बैठे। यह शैक्ष की आठवीं आशातना है।

९. शैक्ष साधु रात्निक साधु के अति समीप बैठे। यह शैक्ष की नवीं आशातना है।

१०. शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ बाहर विचार भूमि को निकलता हुआ यदि शैक्ष रात्निक साधु से पहले आचमन (शौच-शुद्धि) करे तो यह शैक्ष की दसवीं आशातना है।

११. शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ बाहर विचार भूमि को या विहार भूमि को निकलता हुआ यदि शैक्ष रात्निक साधु से पहले आलोचना करे और रात्निक पीछे करे तो यह शैक्ष की एवाहनी आशातना है।

१२. कोई साधु रात्निक साधु के साथ पहले से बात कर रहा हो, तब शैक्ष साधु रात्निक साधु से पहले ही बोले और रात्निक साधु पीछे बोल पावे। यह शैक्ष की बारहवीं आशातना है।

१३. रात्निक साधु रात्नि में या विकाल में शैक्ष से पूछे कि आर्य ! कौन सो रहे हैं और कौन जाग रहे हैं ? यह सुनकर भी शैक्ष अनसुनी करके कोई उत्तर न दे तो यह शैक्ष की तेरहवीं आशातना है।

१४. शैक्ष साधु अशन, पान, खादिम या स्वादिम लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष के सामने आलोचना करे पीछे रात्निक साधु के सामने, तो यह शैक्ष की चौदहवीं आशातना है।

१५. शैक्ष साधु अशन, पान, खादिम या स्वादिम लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष को दिखावे पीछे रात्निक साधु को दिखावे, तो यह शैक्ष की पन्द्रहवीं आशातना है।

१६. शैक्ष साधु अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष को भोजन के लिये निमंत्रण दे और पीछे रात्निक साधु को निमंत्रण दे, तो यह शैक्ष की सोलहवीं आशातना है।

१७. शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ अशन, पान, खादिम, स्वादिम आहार को लाकर रात्निक साधु से बिना पूछे जिस किसी को दे, तो यह शैक्ष की सत्तरहवीं आशातना है।

१८. शैक्ष साधु अशन, पान, खादिस, स्वादिम आहार लाकर रात्निक साधु के साथ भोजन करता हुआ यदि उत्तम भोज्य पदार्थों को जल्दी-जल्दी बड़े-बड़े कपलों से खाता है, तो वह शैक्ष की अठारहवीं आशातना है।

१९. रात्निक साधु द्वारा कुछ कहे जाने पर यदि शैक्ष उसे असुन्नी करता है, तो वह शैक्ष की उन्हींसवीं आशातना है।

२०. रात्निक साधु के द्वारा कुछ कहे जाने पर यदि शैक्ष अपने स्थान पर बैठे हुए सुनता है, तो यह शैक्ष की बीसवीं आशातना है।

२१. रात्निक साधु के द्वारा कुछ कहे जाने पर 'क्या कहा' इस प्रकार से यदि शैक्ष कहे तो यह शैक्ष की इक्कीसवीं आशातना है।

२२. शैक्ष रात्निक साधु को 'तुम' कह कर (तुच्छ शब्द से) बोले तो यह शैक्ष की बाईसवीं आशातना है।

२३. शैक्ष रात्निक साधु से यदि चप-चप करता हुआ उट्टाता से बोले तो यह शैक्ष की तेझीसवीं आशातना है।

२४. शैक्ष, रात्निक साधु के कथा करते हुए की 'जी, हाँ' आदि शब्दों से अनुमोदना न करे तो यह शैक्ष की चौबीसवीं आशातना है।

२५. शैक्ष रात्निक द्वारा धर्मकथा करते समय 'तुम्हे स्मरण नहीं' इस प्रकार से बोले तो यह शैक्ष की पच्चीसवीं आशातना है।

२६. शैक्ष रात्निक के द्वारा धर्मकथा करते समय 'बस करो' इत्यादि कहे तो यह शैक्ष की छब्बीसवीं आशातना है।

२७. शैक्ष रात्निक के द्वारा धर्मकथा करते समय यदि परिषद् को भेदन करे, तो यह शैक्ष की सत्ताईसवीं आशातना है।

२८. शैक्ष रात्निक साधु के धर्मकथा कहते हुए उस सभा के नहीं उठने पर दूसरी या तीसरी बार भी उसी कथा को कहे, तो यह शैक्ष की अट्ठाईसवीं आशातना है।

२९. शैक्ष यदि रात्निक साधु के शय्या, संस्तारक को पेर से ठुकरावे, तो यह शैक्ष की उनतीसवीं आशातना है।

३०. शैक्ष यदि रात्निक साधु के शय्या या आसन पर छड़ा होता, बैठता, सोता है, तो यह शैक्ष की तीसवीं आशातना है।

३१, ३२. शैक्ष यदि रात्निक साधु से ऊंचे या समान आसन पर बैठता है, तो यह शैक्ष को इक्कीसवीं, बत्तोसवीं आशातना है।

३३. रात्निक के कुछ कहने पर शेष अपने आसन पर बैठा-बैठा उत्तर दे, यह शेष की तेतीसवीं आशातना है ।

विवेचन—नवीन दीक्षित साधु का कर्तव्य है कि वह अपने आचार्य, उपाध्याय और दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ साधु का चलते, उठते, बैठते समय उनके द्वारा कुछ पूछने पर, गोचरी करते समय, सदा ही उनके विनय-सम्मान का ध्यान रखे । यदि वह अपने इस कर्तव्य में चूकता है, तो उनकी आशातना करता है और अपने मोक्ष के साधनों को खंडित करता है । इसी बात को ध्यान में रखकर तेतीस आशातनाएँ कही गई हैं । प्रकृत सूत्र में चार आशातनाओं का निर्देश कर शेष की यात्-पद से सूचना की गई है । उनका दशाश्रुतस्कंध के अनुसार स्वरूप-निरूपण किया गया है ।

॥ तृतीय आवश्यक सम्पन्न ॥



[४]

चतुर्थ अध्ययन : प्रतिक्रमण

अतिचारों का पाठ

पहिली इतिहासमिति के विषय जो कोई अतिचार लाय्यो होय तो आलोऊं, द्रव्य थकी थे काया का जीव जोइने न चाल्यो होऊं, क्षेत्र थकी साढ़ा तीन हाथ प्रमाणे जोइने न चाल्यो होऊं, काल थकी दिन को देखे विना रात को पूँजे विना चाल्यो होऊं, भाव थकी उपयोग सहित जोइने न चाल्यो होऊं, गुण थकी संवरगुण पहिली इतिहासमिति के विषय जो कोई पाप दोष लाय्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

दूसरी भाषासमिति के विषय जो कोई अतिचार लाय्यो होय तो आलोऊं, द्रव्य थकी भाषा कर्कशकारी, कठोरकारी, निश्चयकारी, हिंसाकारी, छेदकारी, भेदकारी, परजीव को पीड़ाकारी, सावज्ज सब्दपापकारी कूड़ी मिश्रभाषा बोल्यो होऊं, क्षेत्र थकी रस्ते चालतां बोल्यो होऊं, काल थकी पहर रात्रि गवा पीछे गाढ़े गाढ़े शब्द बोल्यो होऊं, भाव थकी रागद्वेष से बोल्यो होऊं, गुण थकी संवर गुण, दूसरी भाषा समिति के विषय जो कोई पाप दोष लाय्यो होय तो देवसिय संबंधि तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

तीसरी एषणासमिति के विषय जो कोई अतिचार लाय्यो होय तो आलोऊं, द्रव्य थकी सोने उद्गमण का दोष, सोने उत्पात का दोष, दश एषणा का दोष इन बयालीस दोष सहित आहार पाणी लायो होय, क्षेत्र थकी दो कोश उपरांत ले जाई ने भोगव्यो होय, काल थकी पहेला पहर को छेला पहर में भोगव्यो होय, भाव थकी पांच मांडला का दोष न टाल्या होय, गुण थकी संवर गुण, तीसरी एषणासमिति के विषय जो कोई पाप दोष लाय्यो होय, तो देवसिय संबन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

चौथी आयाणभंडमत्तनिक्षेपणा समिति के विषय जो कोई अतिचार लाय्यो होय तो आलोऊं, द्रव्य थकी भाण्डोपकरण अजयणा से लीझा होय, अजयणा से रख्या होय, क्षेत्र थकी गृहस्थ के घर आंगणे रख्या होय, काल थकी कालोकाल पड़िलेहणा न की होय, भाव थकी ममता मूर्छा सहित भोगव्या होय, गुण थकी संवर गुण, चौथी समिति के विषय जो कोई पाप दोष लाय्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ॥४॥

पांचवीं उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिध्वाण-परिद्वावणियासमिति के विषय जो कोई अतिचार लाय्यो होय तो आलोऊं, द्रव्य थकी ऊंची जगह परठव्यो होय, क्षेत्र थकी गृहस्थ के घर आंगणे परठव्यो होय, भाव थकी जाता आवसही आवसही न करी होय, परिठवते पहले शकेन्द्र महाराज की आज्ञा नहीं ली होय, थोड़ी पूँजी ने घणो परिठव्यो होय, परठने के बाद तीन बार ओसिरे ओसिरे न किन्हो होय, आवता निःसही न करी होय, ठिकाणे आई ने काऊसगग न कर्यो होय, गुण थकी

संवर गुण पांचवीं समिति के विषय जो कोई पाप, दोष लाभ्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ॥५॥

मनगुप्ति के विषय जो कोई अतिचार लाभ्यो होय तो आलोऊं, आरंभ-समारंभ, विषय-कषाय के विषय खोटो मन प्रवर्तन्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ॥६॥

वचनगुप्ति के विषय जो कोई अतिचार लाभ्यो होय तो आलोऊं, वचन आरंभ, सारंभ, समारंभ, राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा, भत्तकथा इन चार कथा में से कोई कथा की होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ॥७॥

कायगुप्ति के विषय जो कोई अतिचार लाभ्यो होय तो आलोऊं, काया आरंभ, सारंभ समारंभ, बिना पूज्या अजयणापणे असावधानपणे, हाथ-पग पसारया होय, संकोच्या होय, बिना पूज्या भीतादिक को ओटीगणो (सहारा) लीधो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ॥८॥

पृथ्वीकाय में मिट्टी, मरडो, खड़ी, गेह, हिंगलू, हड्डताल, हड्डमची, लूण, भोडल पत्थर इत्यादि पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ॥९॥

अप्काय में ठार को पाणी, ओस को पाणी, हिम को पाणी, घड़ा को पाणी, तलाब को पाणी, निवाण को पाणी, संकाल को पाणी, मिथ पाणी, वर्षादि को पाणी इत्यादि अप्काय के जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

तेउकाय में खीरा, अंगीरा, भोभल, भड़साल, भाल, टूटती भाल, विजली, उल्कापात इत्यादि तेउकाय के जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

बाउकाय में उक्कलियावाय, मंडलियावाय, घणवाय, घणगूजवाय, तणवाय, शुद्धवाय, सपटवाय, वीजणे करी, तालिकरो, चमरीकरो इत्यादि बाउकाय के जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

बनस्पतिकाय में हरी तरकारी, बीज, अंकुर, कण, कपास, गुम्मा, गुच्छा, लत्ता, लीलण, फूलण इत्यादि बनस्पतिकाय के जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

बेइन्द्रिय में लट, गिडोला, श्रलसिया शंख, संखोलिया, कोडी, जलोक इत्यादि बेन्द्रिय जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

सेइन्द्रिय में कीड़ी मकोड़ी, जूँ, लींख, चांचण, माकण, गजाई, खजूरीया, उधई, धनेरिया इत्यादि सेइन्द्रिय जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

चतुरिन्द्रिय में तोड, पतंगिया, मक्खी, मच्छर, भंवरा, तिगोरी, कसारी, बिच्छु इत्यादि चतुरिन्द्रिय जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

पंचेन्द्रिय में जलचर, थलचर, खेचर, उरपर, भुजपर सन्नी असन्नी, गर्भज, समुच्छम, पर्याप्ता अपयाप्ता इत्यादि पंचेन्द्रिय जीवों की विराधना की होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

पहिला महाब्रत के विषय जो कोई अतिचार लायो होय तो आलोड़, (१) इन्द्रथावरकाय (२) ब्रह्मथावरकाय (३) सिप्पथावरकाय (४) सम्मतीधावरकाय (५) पायावचथावरकाय (६) जंगमकाय द्रव्य से इनकी हिंसा की होय, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जावजीव तक भाव से तीन करण तीन योग से महाब्रत के विषय जो कोई पाप दोष लायो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

दूसरा महाब्रत के विषय जो कोई अतिचार लायो होय तो आलोड़, कोहा वा, लोहा वा, हासा वा, क्रीडा कुतुहलकारी द्रव्य से भूठ बोल्यो होड़, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जावजीव तक, भाव से तीन करण तीन योग से दूसरा महाब्रत के विषय जो कोई पाप दोष लायो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

तीसरा महाब्रत के विषय जो कोई अतिचार लायो होय तो आलोड़, कामराग, दृष्टिराग देवता सम्बन्धी, मनुष्य तिर्यच सम्बन्धी द्रव्य से काम-भोग सेव्या होय, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जावजीव तक, भाव से तीन करण तीन योग से चौथा महाब्रत के विषय कोई पाप दोष लायो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

पांचवां महाब्रत के विषय जो कोई अतिचार लायो होय तो आलोड़, सचित्परिग्रह, अचित्परिग्रह, मित्रपरिग्रह, द्रव्य से छति वस्तु पर मूर्छा की होय, पर वस्तु की इच्छा की होय, सुई कुसग धातु मात्र परिग्रह राख्यो होय, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जावजीव तक, भाव से तीन करण तीन योग से पांचवां महाब्रत के विषय जो कोई दोष लायो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

छट्ठा रात्रिभोजन त्याग के विषय जो कोई अतिचार होय तो आलोड़, चार आहार असर्ण, पाण, खाइय, साइम, सीतमात्र, लेपमात्र, रातवासी राख्यो होय, रखायो होय, राखता प्रत्ये भलो जाण्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी वस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

अठारह पाप (१) प्राणातिपात (२) मूषावाद (३) अदत्तादान (४) मेथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) व्रेष (१२) कलह (१३) अभ्यार्थ्यान (१४) पैशुन्य (१५) परपरिवाद (१६) रति-अरति (१७) मायामोसो (१८) मिथ्यादर्शनशालय ये छट्ठारह पाप सेव्या होय, सेवाया होय, सेवता प्रत्ये भलो जाण्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

पांच मूलगुण महाब्रत के विषय जो कोई पाप, दोष लायो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ । इस उत्तरगुण पञ्चक्षणाण के विषय जो कोई पाप, दोष लायो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ । तेतीस आशातना में गुरु की, बड़ों की, कोई भी आशातना हुई हो तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

शब्दासूत्र

इच्छामि पदिक्षमिडं, पगामसिज्जाए, निगामसिज्जाए, संयाराउष्वद्वृणाए, परिथद्वृणाए, आउंटणाए, पसारणाए, छप्पईसंघद्वृणाए, कूहए, कक्कराइए, छीए, जंभाइए, आमोसे ससरखामोसे

आउलमाउलाए, सोदणवत्तियाए, इस्थीविष्परियासियाए^३ दिट्ठिविष्परियासियाए, मणविष्परिया-सियाए, पाण-भोयण-विष्परियासियाए, जो मे देवसिंहो अइयारो काहो, तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ॥

भावार्थ—मैं शयन सम्बन्धी प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। शयन काल में यदि देर तक सोता होऊँ या बार-बार बहुत काल तक सोता रहा होऊँ, अयतना के साथ एक बार करवट ली हो, या बार-बार करवट बदली हो, हाथ और पैर आदि अंग अयतना से समेटे हों तथा पसारे हों, षट्पदी—जूँ आदि क्षुद्र जीवों को कठोर स्पर्श के द्वारा पीड़ा पहुँचाई हो, बिना यतना के अथवा जोर से खांसा हो, यह शय्या बड़ी कठोर है, आदि शय्या के दोष कहे हों, अयतना से छीक एवं जंभाई ली हो, बिना हो जे शरीर को खुजलाया हो अथवा किसी भी वस्तु का स्पर्श किया हो, सचित रजयुक्त वस्तु का स्पर्श किया हो (ये सब शयनकालीन जागते समय के अतिचार हैं।)

अब सोते समय स्वप्न-अवस्था सम्बन्धी अतिचार कहे जाते हैं—स्वप्न में युद्ध, विवाहादि के अवलोकन से आकुलता-व्याकुलता रही हो, स्वप्न में मन भ्रान्त हुआ हो, स्वप्न में स्त्री के साथ कुशील सेवन किया हो, स्त्री आदि को अनुराग की दृष्टि से देखा हो, मन में विकार आया हो, स्वप्न-दशा में रात्रि में आहार-पानी का सेवन किया हो या सेवन करने की इच्छा की हो, इस प्रकार मेरे द्वारा शयन सम्बन्धी जो भी अतिचार किया हो ‘तस्स मिच्छा मि दुक्कड’ अर्थात् वह सब मेरा पाप निष्फल हो ।

दिवेचन - हमारी आत्मा का प्रत्येक प्रदेश जड़ से आबद्ध-प्रतिबद्ध है। प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर कर्मकीट के अनन्त पटल लगे हैं और उस कर्म-कालिमा से आत्मा कलुषित बनी हुई है। जब तक कर्म-कालिमा बनी रहेगी, तब तक जन्म-मरण रोग-शोक और संयोग-वियोगादि दुःख भी बने रहेंगे। अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है। आत्म-बद्ध कर्म-कीट को हटाकर आत्मा को निर्भल शुद्ध बनाने से ही दुःख-परम्परा नष्ट हो सकती है। 'जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः' की उक्ति के अनुसार बूद्ध-बूद्ध से घट भर जाता और पाई-पाई जोड़ते हुए तिजोरी भर जाती है। धर्म-साधना के लिए भी ठीक यही बात है।

यद्यपि सभी धर्मप्रवर्तकों एवं प्रचारकों ने अपनी अपनी दृष्टि से धर्मसाधना के लिए अनिवार्य विवेक का विवेचन किया है, फिर भी जितना सूक्ष्म एवं भावपूर्ण विवेचन एवं विश्लेषण जैनागमों में किया गया है वैसा अन्यत्र नहीं। जैन संस्कृति की प्रत्येक क्रिया विवेकमय है। दशवै-कालिक सूत्र में कहा है—

जयं जारे, जयं चिट्ठे, जयसासे, जयं सये ।

जासुं भर्जन्तो भासन्तो, पावकम् न घंधह ॥

जो साधक यतना से चलता है, यतना से खड़ा होता है, यतना से बैठता है, यतना से सोता है, यतना से भोजन करता और बोलता है, वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता।

साधारण से साधारण साधक भी छोटी-छोटी साधनाओं पर लक्ष्य देता रहे, विवेक-यतना को विस्मृत न करे तो एक दिन वह बहुत ऊँचा साधक बन सकता है और इसके विपरीत साधारण-सी

४. स्त्री साधक 'इत्थीविष्परियासिआए' के स्थान पर 'पुरिसविष्परियासिआए' पढ़ें।

भूलों की उपेक्षा करने से तथा दिक्षेण नहीं रखने से उच्चतर श्रेणी के साधक का भी अधिष्ठन हो सकता है। यही कारण है कि जैन आचारशास्त्र सूक्ष्म भूलों पर भी ध्यान रखने का संकेत करता है।

प्रस्तुत सूत्र शब्दन सम्बन्धी अतिचारों का प्रतिक्रमण करने के लिये है। सोते समय जो भी शारीरिक, बाचिक एवं मानसिक किसी भी प्रकार की भूल हुई हो, संयम का अतिक्रमण किया हो किसी भी प्रकार का भाव-विपर्यास हुआ हो, उस सबके लिये पश्चात्ताप करने का—‘मिच्छा मि दुक्कड़’ देने का विधान प्रस्तुत शब्द्या-सूत्र में किया गया है।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ—पगामसिज्जाए—का संस्कृत रूप ‘प्रकामशब्द्या’ होता है। प्रकाम-शब्द्या का अर्थ है—मर्यादा से अधिक सोना। **निगामसिज्जाए—**बार-बार अधिक काल तक सोते रहना, निकामशब्द्या है। **कूइए—खाँसते हुए। कक्कराइए—‘कर्करायित’** शब्द का अर्थ है—कुङ्कुङ्डाना। शब्द्या विषम हो या कठोर हो तो साधु को समता एवं शान्ति के साथ उसका सेवन करना चाहिये। साधक को शब्द्या के दोष कहते हुए कुङ्कुङ्डाना-बड़बडाना नहीं चाहिये। **आभोसे—**प्रमार्जन किए बिना शरीर या अन्य वस्तु का स्पर्श करना। **ससरबखामोसे—**सचित रज से युक्त वस्तु को छूना। **आउलमाउलाए—आकुलता-व्याकुलता** से। **सोवणवत्तियाए—**स्वप्न के प्रत्यय—निमित्त से।

प्रस्तुत शब्द्या-सूत्र को, जब भी साधक सोकर उठे, अवश्य पढ़ना चाहिये। इसे निद्रा-दोषनिवृत्ति का पाठ भी कहा जाता है। यह पाठ पढ़कर बाद में एक लोगस्स अथवा चार लोगस्स का पाठ भी पढ़ना चाहिये।

भिक्षादोषनिवृत्तिसूत्र

पदिकमामि गोयरगच्छरियाए, भिक्षादरियाए उग्घाडकवाड-उग्घाडणाए, साणावद्धादारासंघट्णाए, मण्डी-पाहुडियाए, बलिपाहुडियाए, उवणपाहुडियाए, संकिए, सहसागारे, अणेसणाए, पाणेसणाए पाणमोयणाए, बीयभोयणाए, हरियभोयणाए, पच्छाकम्मयाए, पुरेकम्मयाए, अविद्वहाए, वगसंसद्वहाए, रयसंसद्वहाए, पारिसाडणियाए, पारिद्वावणियाए, ओहासण-भिक्षाए, जै उग्मसेण, उप्पायणेसणाए अपरिसुङ्ग परिग्रहियं, परिभूतं वा जं न परिद्वियं, तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

आवार्थ—गोचरचर्चार्या रूप भिक्षाचर्चार्या में, यदि ज्ञात अथवा अज्ञात किसी भी रूप में जो भी अतिचार-दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

अर्धे खुले किवादों को खोलना, कुत्ते बछड़े और बच्चों का संघट्टा—स्पर्श करना, मण्डी-प्राभृतिक अग्रपिण्ड लेना, बलिप्राभृतिका—बलि के लिए तेयार किया हुआ भोजन लेना, अथवा साधु के आने पर बलिकर्म करके दिया हुआ भोजन लेना, स्थापनाप्रभृतिका—भिक्षुओं को देने के उद्देश्य से अलग रखा हुआ भोजन लेना, आधाकर्म आदि की शंका बाला आहार लेना, सहसाकार—बिना सोचे-विचारे शीघ्रता से आहार लेना, विना एषणा—च्छान-बीन किए लेना, पान—भोजन-पानी आदि पीने योग्य वस्तु की एषणा में किसी प्रकार की त्रुटि करना, जिम्मे कोई प्राणी हो, ऐसा भोजन लेना,

बीजभोजन—बीजों वाला भोजन लेना, हरित-भोजन—सचित्त बनस्पति वाला भोजन, पश्चात्-कर्म साधु को आहार देने के बाद तदर्थं सचित्त जल से हाथ या पात्रों को धोने आदि के कारण लगने वाला दोष, पुरःकर्म .. साधु को आहार देने से पहले सचित्त जल से हाथ या पात्र धोने आदि से लगने वाला दोष, अदृष्टाहृत—विना देखा लाया भोजन लेना, उदकसंसृष्टाहृत—सचित्त जल के साथ स्पर्श वाली वस्तु लेना, सचित्त रज से स्पृष्ट वस्तु लेना, पारिशाठनिका—देते समय मार्ग में गिरता-विखरता हुआ वस्तु लेना, पारिष्ठापनिका—आहार देने के पात्र में पहले से रहे हुए किसी भोजन दिया जाने वाला आहार लेना, पारिष्ठापनिका—आहार देने के पहले से रहे हुए किसी भोजन को डालकर दिया जाने वाला अन्य भोजन लेना, अथवा विना कारण ‘परठने-योग्य’ कालातीत अयोग्य वस्तु ग्रहण करना। विना कारण माँगकर विशिष्ट वस्तु लेना, उद्गम—आधाकर्म आदि १६ अयोग्य वस्तु ग्रहण करना। विना कारण माँगकर विशिष्ट वस्तु लेना, उत्पादन—धात्री आदि १६ साधु की तरफ से लगने वाले उत्पादन उद्गम दोषों से युक्त भोजन लेना, उत्पादन—धात्री आदि १० साधु की तरफ से लगने वाले उत्पादन दोषों सहित आहार लेना। एषणा-ग्रहणैषणा संबंधी शक्ति आदि १० दोषों से सहित आहार लेना।

उपर्युक्त दोषों वाला अशुद्ध—साधुमयदा के विपरीत आहार-पानी ग्रहण किया हो, ग्रहण किया हुआ भोग लिया हो, किन्तु दूषित जानकर भी परठा न हो, तो मेरा समस्त पाप मिथ्या हो ।

विवेचन—जैन धर्म अहिंसाप्रधान धर्म है। अहिंसक करुणा का सागर, दया का आगार, सद्भावना का सरोबर, सरसता का स्रोत तथा अनुकम्पा का उत्स होता है। वह प्रत्येक साधना में उपयोग-सावधानी रखता है तथा साधना की प्रगति के लिए खान-पान, आचार-विचार, आहार-विहार की विशुद्धि को बड़ा महत्व देता है।

जिन दोषों से बचना है, वे दोष इस पाठ में प्राप्तपादित हैं—

जैन भिक्षु के लिए नवकोटि-परिषुद्ध आहार ग्रहण करने का विधान किया गया है। नवकोटि
इस प्रकार है—न स्वयं भोजन पकाना, न अपने लिए दूसरों से कहकर पकवाना, न पकाते हुए का
अनुमोदन करना। न खुद बना-बनाया खरीदना, न अपने लिए दूसरों से खरीदवाना और न खरीदने
वाले का अनुमोदन करना। न स्वयं किसी को पीड़ा देना, न दूसरे से पीड़ा दिलवाना और न पीड़ा
देने वाले का अनुमोदन करना। इस प्रकार जैन धर्म में बहुत सूक्ष्म अहिंसा की मर्यादा का ध्यान
रखा गया है।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ—गोचरचर्चर्या—अर्थात् जिस प्रकार एक गाय वन में घास का तिनका जड़ से न उखाड़ कर, ऊपर से ही खाती हुई छूमती—आगे बढ़ जाती है और अपनी क्षुधानिवृत्ति कर लेती है, इसी प्रकार मुनि भी किसी गृहस्थ को पीड़ा न देता हुआ थोड़ा-थोड़ा भोजन ग्रहण करके अपनी क्षुधानिवृत्ति करता है। दशवैकालिक सूत्र में इसके लिए मधुकर अर्थात् भ्रमर की उपमा दी गयी है। भ्रमर भी फूलों को विना कुछ हानि पहुँचाए थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण करता हुआ, आत्मनृप्ति कर लेता है।

कपाटोद्घाटन—गृहस्थ के घर के छार के बंद किवाड़ खोलकर आहार-पानी लेना सदोष है, क्योंकि बिना प्रमार्जन किए कपाट-उद्घाटन से जीव-विराधना की सम्भावना रहती है। इस प्रकार घर में प्रवेश करके आहार लेने से साधक की असम्भवता भी प्रतीत होती है, क्योंकि गृहस्थ अपने घर के अन्दर किसी विशेष कार्य में संलग्न हो और साधु अचानक किवाड़ खोलकर अन्दर जाए तो यह उचित नहीं है। यह उत्सर्ग मार्ग है। यदि किसी विशेष कारण से आवश्यक वस्तु लेनी हो तथा यतनापूर्वक किवाड़ खोलने हों तो स्वयं खोले अथवा किसी अन्य से खुलवाये जा सकते हैं। यह अपवाद मार्ग है।

मंडीप्राभूतिका—अर्थात् अग्रपिड लेना। तैयार किए हुए भोजन के कुछ अग्र-अंश को पुण्यार्थ निकाल कर जो रख दिया जाता है, वह अग्रपिड कहलाता है।

बलिप्राभूतिका—देवी-देवता आदि की पूजा के लिए तैयार किया हुआ भोजन बलि कहलाता है। ऐसा आहार लेना साधु को नहीं कल्पता है।

संकिए—आहार लेते समय भोजन के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भी आधाकर्मादि दोष की आशंका से युक्त; ऐसा आहार कदापि नहीं लेना चाहिये।

सहस्राकार—'उतावला सो वावला' शीघ्रता में कार्य करना, क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर दोनों ही दृष्टियों से अहितकर है।

अदृष्टाहृत—गृहस्थ के घर पर पहुँच कर साधु को जो भी वस्तु लेनी हो, वह जहाँ रखी हो, स्वयं अपनी आंखों से देखकर लेनी चाहिये। बिना देखे ही किसी वस्तु को ग्रहण करने से अदृष्टाहृत दोष लगता है। भाव यह है कि देय वस्तु न मालूम किसी सचित्त वस्तु पर रखी हुई हो, अतः उसके ग्रहण करने से जीव-विराधना दोष लग सकता है। अतएव बिना देखे किसी भी वस्तु को लेना ग्राह्य नहीं है।

अवभाषण मिक्षा—भोजन में किसी विशिष्ट वस्तु की याचना करना।

स्वाध्याय तथा प्रतिलेखनावोषनिवृत्ति सूत्र

पडिक्कमामि चाउक्कालं सज्जायस्स अकरणयाए, उभओ कालं भांडोकगरणस्स अप्पडिलेहणाए, दुप्पडिलेहणाए, अप्पमउज्जणाए, दुप्पमउज्जणाए, अहूकमे, बहूकमे, अइपारे, अणायारे जो मे देवसिंहो अइयारो कथो तस्स मिच्छा मि दुक्कडे।

भावार्थ—स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना सम्बन्धी प्रतिक्रमण करता है। यदि प्रमादवश दिन और रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहर रूप चारों कालों में स्वाध्याय न किया हो, प्रातः तथा सन्ध्या दोनों काल में वस्त्र-पात्र आदि भाष्ठोपकरण की प्रतिलेखना न की हो अथवा सम्यक्-प्रकार से प्रतिलेखना न की हो, प्रमार्जना न की हो, अथवा विधिपूर्वक प्रमार्जना न की हो, इन कारणों से अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार अथवा अनाचार लगा हो तो वे सब मेरे पाप मिथ्या निष्फल हों।

विवेचन—

(प्र.) कालपडिलेहणयाए एं भते ! जीवे कि जाणयहू ?

(उ.) कालपडिलेहणयाए एं नाणावरणिङ्गं कम्मं खवेहू ।

हे भगवन् ! काल की प्रतिलेखना करने से क्या फल होता है ?

काल की प्रतिलेखना से ज्ञानावरणकर्म का क्षय होता है और ज्ञान गुण की प्राप्ति होती है ।
—उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९

उपर्युक्त सूत्र काल-प्रतिलेखना का है । आगम में कथन है कि दिन के पूर्व भाग तथा उत्तर भाग में, इसी प्रकार रात्रि के पूर्व भाग तथा उत्तर भाग में, अर्थात् दिवस एवं रात्रि के चारों कालों में नियमित स्वाध्याय करना चाहिये । साथ ही वस्त्र पात्र रजोहरण आदि की प्रतिलेखना भी में नियमित स्वाध्याय करना चाहिये । यदि प्रमादवश उक्त दोनों आवश्यक कर्तव्यों में भूल हो जाय तो उसकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करने का विधान है ।

प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने, टिकाये रखने, नष्ट करने और संयुक्त को वियुक्त तथा वियुक्त को संयुक्त करने में काल का महत्त्वपूर्ण योग है । अतः जीवन की प्रगति के प्रत्येक अंग को अलोकित का संयुक्त करने में काल का महत्त्वपूर्ण योग है । अर्थात् काल का ध्यान रखना अतीव आवश्यक है । जिस रखने के लिए काल की प्रतिलेखना करना अर्थात् काल का ध्यान रखना अतीव आवश्यक है । जिस सूत्र में शास्त्रकार ने साधुओं के लिए कालक्रम (Time Table) निर्धारित कर दिया है । साथ ही यह सूत्र में शास्त्रकार ने साधुओं के लिए कालक्रम (Time Table) निर्धारित कर दिया है । साथ ही यह भी निर्दिष्ट कर दिया है —‘काले कालं समायरे’—अर्थात् प्रत्येक कार्य नियत समय पर ही करना भी निर्दिष्ट कर दिया है । दिवस और रात्रि का प्रथम और अन्तिम प्रहर स्वाध्याय के लिए निश्चित किया गया चाहिये । दिवस और रात्रि का प्रथम और अन्तिम प्रहर स्वाध्याय के लिए निश्चित किया गया है । इस प्रकार अहोरात्र में स्वाध्याय के लिए काल है ।

स्वाध्याय परम तप है । नवीन ज्ञानार्जन के लिए, अर्जित ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए तथा ज्ञानावरणकर्म की निर्जरा के लिए स्वाध्याय ही एक सबल साधन है । स्वाध्याय की एक बड़ी विशेषता है—चित्त की एकाग्रता । स्वाध्याय से चंचल चित्त की दीड़धूप रुक जाती है और वह केन्द्रित हो जाता है । यही कारण है कि उसके लिए चार प्रहर नियत किए गए हैं ।

स्थानांगसूत्र के टीकाकार अभ्यदेवसूरि ने स्वाध्याय का अर्थ करते हुए लिखा है—
अलोभाति मर्यादा के साथ अध्ययन करना स्वाध्याय है—‘सुष्टु आमर्यादिया अधीयते इति स्वाध्याय ।
—स्थानांग २ स्था. १३०

शास्त्रकारों ने स्वाध्याय को नन्दनवन की उपमा दी है । जिस प्रकार नन्दनवन में प्रत्येक दिशा के भव्य से भव्य दृश्य मन को आनन्दित करने के लिए होते हैं, वहाँ जाकर मानव सब प्रकार के कष्टों को भूल जाता है, उसी प्रकार स्वाध्याय रूप नन्दनवन में भी एक से एक सुन्दर एवं शिक्षाप्रद दृश्य देखने को मिलते हैं तथा मन दुनियावी झंझटों से मुक्त होकर एक अलोकिक लोक में विचरण करने लगता है । स्वाध्याय हमारे अन्धकारपूर्ण जीवनपथ के लिए दीपक के समान है ।

प्रतिलेखना—साधु के पास जो भी वस्त्र पात्र आदि उपधि हो, उसकी प्रातःकाल एवं सायंकाल प्रतिलेखना करनी होती है । उपधि को बिना देखे पूँजे उपयोग में लाने से हिसा का दोष लगता है । प्रतिलेखना न करना, शास्त्रविषिद्ध समय पर करना, स्वाध्याय या प्रतिलेखना न करना, शास्त्रोक्त समय पर स्वाध्याय या प्रतिलेखना करना उपधि हो, उसकी प्रातःकाल एवं सायंकाल

एवं प्रतिलेखना पर शब्दा न रखना तथा इस सम्बन्ध में मिथ्या प्रस्तुपणा करना, या उचित विधि से न करना आदि स्वाध्याय एवं प्रतिलेखन रूप अतिचार-दोष हैं।

यह काल-प्रतिलेखना सूत्र स्वाध्याय तथा प्रतिलेखन करने के बाद पढ़ना चाहिये।

प्रस्तुत पाठ में आये हुए अतिक्रम आदि का अर्थ इस प्रकार है—

१. अतिक्रम—गृहीत व्रत या प्रतिज्ञा को भंग करने का विचार करना।

२. अविक्रम—व्रतभंग के लिए उद्यत होना।

३. अतिचार—आंशिक रूप से व्रत को खंडित करना।

४. अनाचार—व्रत को पूर्ण रूप से भंग करना।

तेतीस बोल का पाठ

पडिकमामि एगविहे असंजमे। पडिकमामि दोहिं बंधणेहि—रागबंधणेण, दोस-बंधणेण।
पडिकमामि तिहि बंडेहि—मणदंडेण, वयदंडेण, कायदंडेण।

पडिकमामि तिहि गुस्तीहि—मणगुस्तीए, वयगुस्तीय, कायगुस्तीए।

पडिकमामि तिहि सल्लेहि—मायासल्लेण, नियाणसल्लेण, मिछावंसणसल्लेण।

पडिकमामि तिहि गारवेहि—इड्डोगारवेण, रसगारवेण, सायागारवेण।

पडिकमामि तिहि विराहणाहि—नाणविराहणाए, वंसणविराहणाए, चरित्तविराहणाए।

भावार्थ—अविरति रूप एकविधि असंयम का आचरण करने से जो भी अतिचार-दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

दो प्रकार के बन्धनों से लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ, अर्थात् उनसे पीछे हटता हूँ। दो प्रकार के बन्धन हैं—१. रागबन्धन एवं २. द्वेषबन्धन।

तीन प्रकार के दण्डों से लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन दण्ड—

१. मनोदण्ड, २. वचनदण्ड एवं ३. कायदण्ड।

तीन प्रकार की गुप्तियों से अर्थात् उनका आचरण करते हुए प्रमादवश जो भी गुप्तियों वचनगुप्ति एवं कायगुप्ति।

तीन प्रकार के शल्यों से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन शल्य—मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य।

तीन प्रकार के गौरव—अभिमान से लगने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन गौरव—१. आचार्य आदि पद की प्राप्ति रूप कृदि का अहंकार—कृदि-गौरव। २. मधुर आदि रस की प्राप्ति का अभिमान—रस-गौरव तथा ३. साता-गौरव—साता का अर्थ है आरोग्य एवं शारीरिक सुख। आरोग्य, शारीरिक सुख तथा वस्त्र, पात्र शयनासन आदि सुख-साधनों के मिलने पर अभिमान करना और न मिलने पर उनकी आकौशा करना साता-गौरव है।

तीन प्रकार की विराधनाओं से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता है। वे इस प्रकार हैं—

१. ज्ञान की तथा ज्ञानी की निदा करना, ज्ञानार्जन में आलस्य करना, अकाल स्वाध्याय करना आदि ज्ञानविराधना है।

२. सम्यक्त्व एवं सम्यक्त्वधारी साधक की विराधना करना दर्शनविराधना है।

३. अहिंसा, सत्य आदि चारित्र का सम्यक् पालन न करना, उसमें दोष लगाना चारित्रविराधना है।

पडिक्कमामि चउहि कसाएहि—कोहकसाएण, माणकसाएण, मायाकसाएण, लोभकसाएण।

पडिक्कमामि चउहि सब्राहि—आहारसश्चाए, भयसश्चाए, मेहुणसश्चाए, परिग्रहसश्चाए।

पडिक्कमामि चउहि विकहाहि—इत्थीकहाए, भत्तकहाए, देसकहाए, रायकहाए।

पडिक्कमामि चउहि भाणेहि—अट्टेण भाणेण, रहेण भाणेण, धम्मेण भाणेण, सुक्केण भाणेण।

भावार्थ—कषायसूत्र—चार कषायों के द्वारा होने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण करता है। चार कषाय—ओधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय और लोभकषाय।

संज्ञासूत्र—चार प्रकार की संज्ञाओं के द्वारा जो अतिचार-दोष लगा, उसका प्रतिक्रमण करता है। चार संज्ञाएँ—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा।

विकथासूत्र—स्वीकथा, भक्त्तकथा, देशकथा और राजकथा, इन चार विकथाओं के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता है।

ध्यानसूत्र—आर्तध्यान तथा रोद्रध्यान के करने से तथा धर्मध्यान एवं षुक्लध्यान के न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता है।

पडिक्कमामि पंचहि किरियाहि—काह्याए, अहिंगरणियाए, पात्रितावणियाए, पाणाइवायकिरियाए।

पडिक्कमामि पंचहि कामगुणेहि—सहेण, रुबेण, गंधेण, रसेण, फासेण।

पडिक्कमामि पंचहि भृष्टवेष्टहि—सञ्चाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सञ्चाओ मुसावायाओ वेरमणं, सञ्चाओ अदिक्षादाणाओ वेरमणं, सञ्चाओ मेहुणाओ वेरमणं, सञ्चाओ परिग्रहाओ वेरमणं।

पडिक्कमामि पंचहि समिईहि—इरियासमिईए, भासासमिईए, एसणासमिईए, आयाण-भंडमत्तनिक्षेपणासमिईए, उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिघाण-परिद्वावणियासमिईए।

भावार्थ—क्रियासूत्र कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी, इन पांचों क्रियाओं के करने से जो भी अतिचार लगा हो उनका प्रतिक्रमण करता है।

कामगुणसूत्र—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पांचों कामगुणों के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता है।

भहावतसूत्र—सर्वप्राणातिपातविरमण—अहिंसा, सर्वभृषावादविरमण—सत्य, सर्वग्रदत्तादानविरमण—अस्तेय, सर्वमंथुनविरमण—ब्रह्मचर्य, सर्वपरिग्रहविरमण—अपरिग्रह, इन पांचों महाव्रतों में कोई भी अतिचार-दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

समितिसूत्र—इयसमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-भाण्डमात्र-निक्षेपणासमिति, उच्चार-प्रथवण-श्लेष्म-जल्ल-सिद्धाण-परिष्ठापनिकासमिति, इन पांचों समितियों का सम्यक् पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

पडिकमामि छहि जीवनिकाएहि—पुढविकाएण, आउकाएण, तेउकाएण, घाउकाएण, बणस्सइकाएण, तसकाएण ।

पछिकमामि छहि लेसाहि—किण्हलेसाए, नीललेसाए, काउलेसाए, तेउलेसाए, पउमलेसाए, सुक्कलेसाए ।

जीवनिकायसूत्र—पृथ्वीकाय, अपूर्काय, अग्निकाय, बायुकाय, बनस्पतिकाय और ऋसकाय, इन छहों जीवनिकायों की हिंसा करने से जो अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

लेइयासूत्र—कुण्णलेश्या, नोललेश्या, कापोतलेश्या, तेजालेश्या, पद्मलेश्या और शुबललेश्या, इन छहों लेश्याओं के द्वारा अर्थात् प्रथम तीन अधर्म लेश्याओं का आचरण करने से और अन्त की तीन धर्मलेश्याओं का आचरण न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

पडिकमामि सत्तहि भयठाणेहि,

प्रहुहि मयटाणेहि,

नवर्हि बंभवेरगुत्तीहि,

दसविहे समणधर्मे—

एकारसर्हि उद्यासगपाडिमाहि,

धारसहि भिक्खुपडिमाहि,

तेरसर्हि किरिथाठाणेहि,

घउद्दवसर्हि भूयगमेहि,

पश्चरसर्हि परमाहुम्मिएहि,

सोलसर्हि गाहासोलसएहि,

सत्तरसविहे असंजमे,

अट्टारसविहे अवंभे,

एगूणवीसाए नायउभयणेहि,

बीसाए असमाहिठाणेहि—

इक्कवीसाए सबलेहि, बावीसाए परीसहेहि,

तेवीसाए सूयगजभयणेहि, घउवीसाए वेवेहि, पणवीसाए भावणाहि,

छत्तीसाए दसाकप्पवहाराणं उद्देसणकालेहि,
सत्तावोसाए अणगारगुणेहि
प्रद्वादोसाए आयारप्पकप्पेहि ।
एगूष्मतोसाए पावसुयप्पसंगेहि,
तीसाए महामोहणीयद्वाणेहि,
एगतीसाए सिद्धाइगुणेहि,
बत्तीसाए जोग-संगहेहि,
तेत्तीसाए आसायणाहि—

१. अरिहंताणं आसायणाए, २. सिद्धाणं आसायणाए, ३. आयरियाणं आसायणाए,
४. उद्गज्ञायाणं आसायणाए, ५. साहूणं आसायणाए, ६. साहुणीणं आसायणाए, ७. सावयाणं
आसायणाए, ८. सावियाणं आसायणाए, ९. देवाणं आसायणाए, १०. देवीणं आसायणाए,
११. हह्लोगस्स आसायणाए, १२. परलोगस्स आसायणाए, १३. केवलि-पञ्चस्सस्स घम्मस्स आसायणाए,
१४. सदेव-मणुयासुरस्स स्लोगस्स आसायणाए, १५. सव्वापाण-भूय-जीव-सत्ताणं आसायणाए,
१६. कालस्स आसायणाए, १७. सुग्रस्स आसायणाए, १८. सुयदेवयाए आसायणाए, १९. वायणा-
परियस्स आसायणाए, जं २०. वाइहू, २१. वच्चामेलियं, २२. हीणक्षुरं, २३. अच्चक्षुरं
२४. पयहीणं, २५. विणयहीणं, २६. जोग-हीणं, २७. घोसहीणं, २८. सुट्ठुदिन्नं, २९. दुट्ठुधिच्छियं,
३०. अकाले कश्चो सज्जभाष्टो, ३१. काले न कश्चो सज्जभाष्टो, ३२. असज्जभाइए सज्जभाइयं, ३३. सज्जभाए
न सज्जभाइयं, तस्स मिच्छा भि बुक्कड़े ।

भावार्थ—प्रतिश्रमण करता हूँ सात भय के स्थानों अर्थात् कारणों से, आठ मद के स्थानों
से, नी अहाचर्य की गुप्तियों से अर्थात् उनका सम्यक् पालन न करने से, दसविध क्षमा आदि श्रमण
घर्म की विराधना से,

स्थारह उपासक प्रतिमा—श्रावक की प्रतिज्ञाओं से अर्थात् उनकी अश्रद्धा तथा विपरीत
प्ररूपणा से, बारह भिक्षु की प्रतिमाओं से—उनकी अश्रद्धा अथवा विपरीत प्ररूपणा से, तेरह क्रिया
के स्थानों के सेवन से, चौदह जीवों के समूह से अर्थात् उनकी हिसा से, पन्द्रह परमाधार्मिकों से
अर्थात् उन जैसा भाव रखने या आचरण करने से, सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के गाया
अध्ययन सहित सोलह अध्ययनों से, सत्तरह प्रकार के असंयम में रहने से, अठारह प्रकार के अबहुचर्य
में वर्तने से, ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों से अर्थात् उनकी विपरीत श्रद्धा प्ररूपणा करने से, बीस
असमाधि के स्थानों से,

इक्कीस शब्दों से, बाईस परिषहों से अर्थात् उनको सहन न करने से, सूत्रकृतांगसूत्र के
तेईस अध्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से या विपरीत श्रद्धा-प्ररूपणा करने से, चौबीस
देवों से अर्थात् उनकी अवहेलना करने से, या पांच महाब्रतों की पच्चीस भावनाओं (कायथावत् पालन
करने) से, दशाश्रुतस्कन्ध, बूद्धकल्प और व्यवहार—जक्त सूत्रत्रयी के छब्बीस उद्देशन कालों से,

सत्ताईस साधु के गुणों से, आचारप्रकल्प—आचारांग तथा निशीषसूत्र के अट्टाईस अध्ययनों से, उनतीस पापश्रुत के प्रसंगों से, महामोहनीय कर्म के तीस स्थानों से,

सिद्धों के इकतीस आदि या सर्वोत्कृष्ट गुणों से, बत्तीस योगसंभ्रहों से, तेतीस आशातनामों से, यथा—अर्द्धित, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, आदक, आविका, देव, देवी, इहलोक, परलोक, केवलि-प्ररूपित धर्म, देव-मनुष्य-असुरों सहित समय लोक, समस्त प्राण—विकलञ्चय, भूत—बनस्पति, जीव—पञ्चेन्द्रिय, सत्त्व—पृथ्वीकाय आदि चार स्थावर, तथेव काल, श्रुत-शास्त्र, श्रुत-देवता वाचनाचार्य—इन सबकी आशातना से,

तथा व्याविद्ध सूत्र के पाठों को या सूत्र के अध्यारों को आगे-पीछे किया हो, व्यत्याप्रे-डित—शून्य-चित्त से कई बार पढ़ता ही रहा हो, अन्य सूत्र का पाठ अन्य सूत्र में मिलाया हो, अक्षर छोड़कर पढ़ा हो, अत्यक्षर—अक्षर बढ़ा दिये हों, पढ़हीन पढ़ा हो, शास्त्र एवं शास्त्राध्यापक का समुचित विनय न किया हो, घोषहीन—उदात्तादि स्वरों से रहित पढ़ा हो, योगहीन—उपधानादि तपोविशेष के विना अथवा उपयोग के विना पढ़ा हो, सुष्ठुदत्त-अधिक ग्रहण करने की योग्यता न रखने वाले शिष्य को भी अधिक पाठ दिया हो, दुष्टप्रतीच्छित—वाचनाचार्य के द्वारा दिए हुए आगमपाठ को दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो, अकाल-स्वाध्याय—कालिक, उत्कालिक सूत्रों को उनके निषिद्ध काल में पढ़ा हो, काल-अस्वाध्याय—विहित काल में सूत्रों को न पढ़ा हो, अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय किया हो, स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न किया हो ।

इस प्रकार श्रुतज्ञान की चौदह आशातनामों से, और सब मिलाकर तेतीस आशातनामों से जो भी अतिच्चार हो, तत्सम्बन्धी मेरा दुष्कृत-पाप मिथ्या हो ।

विवेचन—असंयमसूत्र—असंयम, संयम का विरोधी है । असंयम ही समस्त सांसारिक दुःखों का मूल है । चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होने वाले राग-द्वेष रूप कषाय आदि भावों का नाम असंयम है । जोभ एवं तृष्णा ये मन की दुष्ट वृत्तियाँ हैं । इन वृत्तियों पर जो संयम नहीं रखता है, अथवा नियंत्रण नहीं रखता है वह इनका दास है, गुलाम है । वह कभी आत्म-विजेता नहीं बन सकता । अतः आत्मविजेता बनने के लिए आत्मसंयम परम् आवश्यक है । जो आत्म-संयम नहीं रख सकता, अपने मन एवं इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित नहीं करता, वह इच्छाओं के वशीभूत होकर कभी शांति-समाधि नहीं पा सकता और इच्छाएँ तो आकाश के समान अनन्त हैं । उनकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती । शास्त्रकार कहते हैं—‘इच्छा हु आगाससमा अण्टिया ।’

—उत्तराध्ययन सू. अ. ९

यद्यपि संयम के १७ भेद होने से उसके विरोधी असंयम के भी १७ भेद हैं और विस्तार की विवक्षा से अन्य भेद भी ही सकते हैं, जो आगे गिनाए भी गए हैं । किन्तु सामान्यशाही संग्रहनय की अपेक्षा से यहाँ एक ही प्रकार कहा गया है ।

बन्धनसूत्र—

प्रस्तुत सूत्र में राग-द्वेष को बन्धन कहा है । राग-द्वेष के द्वारा अष्टविध कर्मों का बन्ध होता है । राग-द्वेष की प्रवृत्ति चारित्रमोह के उदय से होती है तथा चारित्रमोह संयम-जीवन का दूषक एवं धातक है । जब तक राग-द्वेष की मलिनता है, तब लक चारित्र की शुद्धता किसी भी तरह नहीं हो सकती ।

राग-हेष दो बीज हैं, कर्मबन्ध की व्याघ ।
ज्ञानात्म वैराग्य से, पाषे भुक्ति समाध ॥

—बृहदालोयणा (रणजीतसिंह कृत)

जिसके द्वारा आत्मा कर्म से रंगा जाता है, वह मोह की परिणति राग है तथा किसी के प्रति शत्रुता, धृणा, क्रोध आदि दुर्भविता द्वेष है। चार कषायों में से क्रोध और मान को द्वेष में तथा माया और लोभ को राग में परिणित किया गया है।

दण्डसूत्र—

आत्मा को जिस अशुभ प्रवृत्ति से आत्मा दंडित होता है अर्थात् दुःख का पात्र बनता है वह दण्ड कहलाता है। दण्ड तीन प्रकार के हैं— १. मनोदण्ड, २. वचनदण्ड और ३. कायदण्ड।

१. मनोदण्ड—१. विषाद करना, २. क्रूरतापूर्ण विचार करना, ३. व्यर्थ कल्पनाएँ करना, ४. मन का इधर-उधर बिना प्रयोजन भटकना, ५. अपवित्र विचार रखना, ६. किसी के प्रति धृणा, द्वेष आदि करना मनोदण्ड है। इनकी अशुभ प्रवृत्तियों से आत्मा २४ दण्डकों में दण्डित होता है।

२. वचनदण्ड—१. असत्य बोलना, २. अन्य की निदा, चुम्ली करना, ३. कड़वा बोलना, ४. अपनी प्रशंसा करना, ५. निरर्थक या निष्प्रयोजन बोलना, ६. सिद्धान्त के विरुद्ध प्ररूपणा करना आदि।

३. कायदण्ड—१. किसी को पीड़ा पहुँचाना, २. अनाचार का सेवन करना, ३. किसी की वस्तु चुराना, ४. अभिमान से अकड़ना, ५. व्यर्थ इधर-उधर डोलना, ६. असावधानी से चलना आदि।

इन्हीं तीनों के माध्यम से आत्मा अशुभ प्रवृत्तियाँ करके दण्डित होता है—२४ दण्डकों में भटकता हुआ क्लेशों का भाजन बनता है, अतएव ये दण्ड कहलाते हैं।

गुप्तिसूत्र—

गुप्ति—अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग में प्रवृत्ति करना गुप्ति है। अथवा संसार के कारणों से आत्मा की सम्यक् प्रकार से रक्षा करना, तीनों योगों की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा आगन्तुक कर्मरूपी कचरे को रोकना गुप्ति है। गुप्ति तीन प्रकार की है—१. मनोगुप्ति, २. वचनगुप्ति, ३. कायगुप्ति।

मनोगुप्ति—ग्रात्त तथा रीढ़ ध्यान विषयक मन से संरंभ, समारंभ तथा आरंभ संबंधी संकल्प-विकल्प न करना, धर्म-ध्यान सम्बन्धी चिन्तन करना, मध्यस्थ भाव रखना मनोगुप्ति है।

मनोगुप्ति के चार भेद—

द्रव्य से आरम्भ-समारम्भ में मन न प्रवत्ति, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जीवन पर्यन्त और भाव से विषय-कषाय, आर्त-रीढ़ ध्यान, राग-द्वेष में मन न प्रवत्ति।

वचनगुप्ति के चार भेद—

द्रव्य से चार प्रकार की विकाश न करना, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जीवन-पर्यन्त, भाव से सावच्च वचन न बोलना।

कायगुप्ति के चार भेद—

द्रव्य से शरीर की शुश्रूषा न करे, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जीवन पर्यन्त, भाव से सावन्य योग न प्रवर्तना।

शत्यसूत्र—

माया, निदान और मिथ्यादर्शन, ये तीनों दोष आगम की भाषा में शल्य कहलाते हैं। जिसके द्वारा अन्तर पीड़ा सालती रहती हो, कसकती रहती हो वह तीर, कांटा आदि द्रव्य शल्य हैं। माया आदि भाव शल्य हैं। आचार्य हरिभद्र के अनुसार शल्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—“शल्यतेऽनेनेति शल्यम् ।” आइयात्मक क्षेत्र ने भाया, निदान और मिथ्यादर्शन को शल्य इसलिए कहा कि जिस प्रकार शरीर के किसी भाग में कांटा, कील तथा तीर आदि तीक्ष्ण वस्तु घुस जाए तो वह मनुष्य को धृव्य बना देती है, उसी प्रकार अन्तर में रहा हुआ सूत्रोक्त शल्यत्रय भी साधक की अन्तरात्मा को सालता रहता है। तीनों ही शल्य तीव्र कर्मवन्ध के हेतु हैं।

१. मायाशल्य—माया का अर्थ है कपट। माया एक तीक्ष्ण धारवाली असि है जो आपसी स्नेह-सम्बन्ध को क्षण भर में ही काट देती है। दशवैकालिकसूत्र में कहा है—‘माया मित्ताणि नासेइ’ अर्थात् मायाचार करने से मित्रों—मैत्रीभाव का विनाश होता है।

२. निदानशल्य—धर्मचरण के सांसारिक फल की कामना करना, भोगों की लालसा रखना निदानशल्य है।

३. मिथ्यादर्शनशल्य—सत्य पर अद्वा न लाना एवं असत्य का कदाचह रखना मिथ्या दर्शनशल्य है। इस प्रकार तीनों शल्यों से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ।

गौरवसूत्र एवं विराधनासूत्र—

आचार्य आदि की पदप्राप्ति रूप शृद्धिगौरव, मधुर आदि प्रिय रस की प्राप्ति का अभिमान रूप रसगौरव तथा शारीरिक आदि सुखप्राप्ति से होने वाले अभिमान रूप सातागौरव के कारण, एवं ज्ञान की अर्थात् जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ जाने जाएँ उस ज्ञान की विराधना, दर्शन की विराधना, चारित्र की विराधना, इन तीन विराधनाओं के कारण जो कोई अतिचार किया गया हो तो उससे मैं निवृत्त होता हूँ।

गौरव का अर्थ है गुरुत्व—भारीपन। गौरव दो प्रकार का है—१. द्रव्यगौरव, २. भावगौरव। पत्थर आदि की गुरुता द्रव्यगौरव है और अभिमान एवं लोभ के कारण होने वाला आत्मा का अशुभ भाव भावगौरव है।

किसी भी प्रकार का दोष न लगाते हुए चारित्र का विशुद्ध रूप से पालन करना आराधना है और इसके विपरीत ज्ञानादि आचार का सम्यक् रूप से आराधन न करना, उनमें दोष लगाना विराधना है।

कषायसूत्र—

कोहु नाणं च मार्य च, लोभं च पाव-बद्धणं ।

अमे चत्तारि दोसे उ, इच्छांतो हियमप्यणो ॥ —दशवै. सू. अ. ८

अथर्त् अपनी आत्मा का हित चाहने वाले साधक को पाप बढ़ाने वाले क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन चारों कषायों का त्याग करदेना चाहिये ।

आत्मा का कषायों द्वारा जितना अहित होता है, उतना किसी भी अन्य शत्रु द्वारा नहीं होता । कषाय कर्मबन्ध के प्रबल कारण हैं । यहीं आत्मा को संसार-भ्रमण कराते हैं । कषाय के द्वारा जिसकी आत्मा कल्याणित है, उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का समावेश नहीं हो सकता, ठीक उभी प्रकार जैसे काले कंबल पर दूसरा कोई रंग नहीं लड़ता । आत्मा के उत्थान तथा पतन के मूल कारण कषाय हैं । कषायों के तीव्र उद्वेक से आत्मा अधःपतन के गहरे गत्ते में गिरती जाती है, क्योंकि कषायों का मन पर अधिकार छो जाने पर उनके विरोधी सभी सद्गुण एक-एक करके लुप्त हो जाते हैं—

कोहों पीइं पणासेइ, माणो विषयनासणो ।
माया मित्तिणि नासेइ, लोभो सञ्चविणासणो ॥
उद्वसमेण हणे कोहुं, माणं मद्वया जिणे ।
मायमज्जव-भावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥

—दशवैकालिक, अ. दा ३८, ३९

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है तथा लोभ समस्त सद्गुणों का नाश करता है ।

क्षमा से क्रोध को, विनय से अथर्त् मृदुता से मान को, सरलता से माया को और संतोष से लोभ को जीतना चाहिये ।

संज्ञासूत्र—

जीवों की इच्छा को संज्ञा कहते हैं । संज्ञा का अर्थ 'चेतना' भी होता है । प्रस्तुत में मोहनीय एवं असात्ता वेदनीय कर्म के उदय से जब चेतनाशक्ति विकारयुक्त हो जाती है तब वह 'संज्ञा' पदवाच्य होती है ।

श्रीपञ्चवणा सूत्र के आठवें पद में संज्ञा के दस प्रकार बताए हैं ।^१ अनेक सूत्रों में सौलह भेद भी प्रलिपित किए गए हैं । मूल भेद चार हैं - १. आहार, २. भय, ३. मैथुन, ४. परिग्रह ।

१. आहारसंज्ञा—आहारसंज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती है । यथा— १. पेट खाली होने से, २. शुद्धा वेदनीय के उदय से, ३. आहार को देखने से और ४. आहार सम्बन्धी चिन्तन करने से ।

२. भय-संज्ञा—भयसंज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती है— १. अधैर्य रखने से, २. भय-मोह के उदय से, ३. भय उत्पन्न करने वाले पदार्थ को देखने से, ४. भय का चिन्तन करने से । भय-मोहनीय के उदय से आत्मा में जो आस का भाव उत्पन्न होता है, वह भयमोहनीय है ।

१. १. आहारसंज्ञा, २. भयसंज्ञा, ३. मैथुनसंज्ञा, ४. परिग्रहसंज्ञा, ५. क्रोधसंज्ञा, ६. मानसंज्ञा, ७. मायासंज्ञा, ८. लोभसंज्ञा, ९. लोकसंज्ञा, १०. ओषधसंज्ञा ।

चतुर्थ अध्ययन : प्रतिक्रिया]

३. मैथुनसंज्ञा—वेदमोहोदय का संवेदन मैथुनसंज्ञा कहलाती है। वह भी चार कारणों से उत्पन्न होती है—१. शरीर पुष्ट बनाने से, २. वेदमोहनीय कर्मोदय से, ३. स्त्री आदि को देखने से और ४. काम-भोग का चिंतन करने से।

४. परिग्रहसंज्ञा—लोभमोहनीय के उदय से मनुष्य की संग्रहवृत्ति या मूर्छा जागृत होती है वह परिग्रहसंज्ञा है। उसके भी चार कारण हैं—१. ममत्व बढ़ाने से, २. लोभमोहनीय के उदय से, ३. धन-सम्पत्ति देखने से और ४. धन परिग्रह का चिन्तन करने से।

विकथासूत्र

संयम को दूषित करने वाले एवं निरर्थक वातलिप को विकथा कहते हैं। स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा तथा राजकथा रूप चार विकथाओं के कारण जो कुछ अतिचार लगा हो तो उससे मैं निवृत्त होता हूँ। (नारी साधिका के लिए 'पुरुषकथा' बोलना चाहिये)।

१. स्त्रीकथा—अमुक देश, जाति, कुल की अमुक स्त्री सुन्दर अथवा कुरुप होती है। वह बहुत सुन्दर वस्त्राभूषण पहनती है। माना भी बहुत सुन्दर गाती है। इत्यादि विचार से ब्रह्मन्य आदि व्रतों में दोष लगने की संभावना होने से इसको अतिचार का हेतु माना गया है।

२. भक्तकथा—‘भक्तकथा’ आवाप, निवापि, आरम्भ एवं निष्ठान के भेद से चार प्रकार की है।

आवाप—अमुक रसोई में इतना थी, इतना शाक, इतना मसाला ठीक रहेगा।

निवापि—इतने पकवान थे, इतना शाक था, मधुर था, इस प्रकार देखे हुए भोज्य पदार्थ की कथा करना।

आरम्भ—अमुक रसोई में इतने शाक और फल आदि की जरूरत रहेगी, इत्यादि।

निष्ठान—अमुक भोज्य पदार्थों में इतने रूपये लगेंगे आदि।

३. देशकथा—देशों की विविध वेश-भूषा, शुगार-रचना, भोजनपद्धति, गृह-निर्माणकला, रीति-रिवाज आदि की प्रशंसा या निदा करना देशकथा है।

४. राजकथा—राजाओं की सेना, रानियों, युद्ध-कला, भोग-विलास आदि का वर्णन करना, राजकथा कहलाती है। राजकथा चार प्रकार की है—१. अतियान, २. निर्याण, ३. बलवाहन, ४. कोष।

ध्यानसूत्र—

पवन रहित अथर्ति निर्वाति स्थान में स्थिर दीप-शिखा के समान निष्ठल, अन्य विषयों के संकल्प से रहित केवल एक ही विषय का चिन्तन ध्यान कहलाता है। अथर्ति अत्तमुर्हृति काल तक स्थिर अध्यवसान एवं मन की एकाग्रता ध्यान है। बीतराग के मन का अभाव होने के कारण योग-निरोध ही उनका ध्यान होता है।^१

ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार का होता है। आर्ति तथा रौद्र अप्रशस्त ध्यान हैं, अतः हेय—त्याज्य हैं। धर्म तथा शुक्ल प्रशस्त ध्यान हैं—आचरणीय हैं।

१. अंतोमुद्धत्तमिति, चित्तावत्याणमेगवत्सुमिति ।

२. अनुमरथाणं फाणं, जोगणिरोहो जिणाणंति ॥

आचार्य जिनदास महत्तर ने आवश्यकचूणि के प्रतिक्रमणाध्ययन में इसी प्रसंग पर एक गाथा उद्धृत की है—

हिंसाणुरंजितं रौद्रं, अट्टं कामाणुरंजितं ।

धर्माणुरंजितं धर्मं, सुक्लध्यानं निरंजनं ॥

अर्थात्—काम से अनुरंजित ध्यान आर्त कहलाता है। हिंसा से रंगा हुआ ध्यान रौद्र है, धर्म से अनुरंजित ध्यान धर्मध्यान है और शुक्लध्यान पूर्ण निरंजन होता है।

१. आर्तध्यान—आर्ति का अर्थ दुःख, व्यथा, कष्ट या पीड़ा होता है। आर्ति के निमित्त से जो ध्यान होता है, वह आर्तध्यान कहलाता है। अनिष्ट वस्तु के संयोग से, इष्ट वस्तु के वियोग से, रोग आदि के कारण तथेव भोगों की लालसा से मन में जो एक प्रकार की अर्थात् पीड़ा-सी होती है और जब वह एकाग्रता का रूप धारण करतो है तब आर्तध्यान कहलाती है।

२. रौद्रध्यान हिंसा आदि अत्यन्त शूर विचार रखने वाला व्यक्ति रुद्र कहलाता है। रुद्र व्यक्ति के मनोभावों को रौद्रध्यान कहा जाता है। अथवा छेदन, भेदन, दहन, बन्धन, मारण, प्रहरण दमन, कर्तन आदि के कारण राग-द्वेष का उदय हो और दया न हो ऐसे आत्म-परिणाम को रौद्रध्यान कहते हैं।^१

३. धर्मध्यान—बीतराग की आज्ञा रूप धर्म से युक्त ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं। अथवा-आगम के पठन, ब्रतधारण, बन्ध-मोक्षादि, इन्द्रिय दमन तथा प्राणियों पर दया करने के चिन्तन को धर्मध्यान कहते हैं।^२

४. शुक्लध्यान—कर्म मल को शोधन करने वाला तथा शोक को दूर करने वाला ध्यान शुक्लध्यान है।^३ धर्मध्यान, शुक्लध्यान का साधन है। कहा भी है—‘जिसकी इन्द्रियाँ विषय-वासना रहित हों, संकल्प-विकल्पादि दोष युक्त जो तीन योग, उनसे रहित महापुरुष के ध्यान को ‘शुक्लध्यान’ कहते हैं।^४

१. स्त्रेदनैदहन- भञ्जन-भारणैश्च,

वश्च-प्रहारन्दमनैविनिकृत्तनैश्च ॥

रागोदयो भवति येन न चानुकम्या,

ध्यानं तु रौद्रमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥

२. सूत्रार्थसाधनमहाब्रतधारणेषु,

बन्धप्रमोक्षयमनाममहेतुचिन्ता ।

पञ्चनिद्रियव्युपरमाश्च दया च भूते,

ध्यानं तु धर्ममिति संप्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥

३. शोधयत्यष्ट्रकारं कर्ममलं शुचं वा कलमयतीति शुक्लम् ।

- आचार्य नमि ।

४. यस्येन्द्रियाणि विषयेषु पहाड़्मुखानि,

संकल्पवत्त्यन् विकल्पविकारदोषैः ।

योगस्तथा त्रिभिरहो ! निभूतान्तरात्मा,

ध्यानं तु शुक्लमिदमस्य समर्पिणन्ति ॥

क्रियासूत्र—

जैन परिभाषा के अनुसार प्रस्तुत प्रकरण में हिंसाप्रधान दुष्ट व्यापार-विशेष को 'क्रिया' कहते हैं। विस्तार-पद्धति में क्रिया के २५ भेद माने गये हैं। परन्तु अन्य समस्त क्रियाओं का सूत्रोक्त पांच क्रियाओं में ही अन्तर्भूत हो जाता है, अतः मूल क्रियाएं पांच ही मानी जाती हैं।

१. कायिकीक्रिया—काय के द्वारा होने वाली क्रिया कायिकी कहलाती है। इसके तीन भेद माने गये हैं। मिथ्यादृष्टि और अविरत सम्यक्-दृष्टि की क्रिया अविरत-कायिकी कहलाती है, प्रमत्तसंयमी मुनि की क्रिया दुष्प्रणिहितकायिकी और अप्रमत्तसंयत मुनि की क्रिया सावद्ययोग से उपरत होने के कारण उपरतकायिकी कहलाती है।

२. आधिकरणिकीक्रिया—जिसके द्वारा आत्मा नरक आदि दुर्गति का अधिकारी होता है, वह पाप का साधन खड़गादि या दुर्मत्रादि का अनुठान-विशेष अधिकरण कहलाता है, उससे होने वाली क्रिया।

३. प्रादेविकीक्रिया—प्रदेष का अर्थ मत्सर, डाह, ईर्धा होता है। यह अकुशल परिणाम कर्मवन्ध का प्रबल कारण माना जाता है। अतः जीव या अजीव किसी भी पदार्थ पर देवभाव रखना, प्रादेविकीक्रिया है।

४. पारितापनिकीक्रिया—ताढ़न आदि के द्वारा दिया जाने वाला दुःख परितापन कहलाता है। परितापन से निष्पन्न होने वाली क्रिया, पारितापनिकी क्रिया कहलाती है। स्व तथा पर के भेद से पारितापनिकी क्रिया दो प्रकार की होती है। अपने प्रापको परिताप पहुँचाना स्वपारितापनिकी और अन्य प्राणी को परिताप पहुँचाना पर-पारितापनिकी क्रिया है।

५. प्राणातिपातिकीक्रिया—प्राणों का अतिपात या विनाश प्राणातिपात कहलाता है। प्राणातिपात से होने वाली क्रिया प्राणातिपातिकी कहलाती है। इसके को भेद हैं—क्रोधादि कषायवश होकर अपनी हिंसा करना, स्वहस्तप्राणातिपातिकी क्रिया है और इसी प्रकार दूसरे की हिंसा करना, परप्राणातिपातिकी क्रिया है।

कामगुणसूत्र—

प्रस्तुत सूत्र में उल्लेख है कि यदि संयम यात्रा करते हुए कहीं कामगुण अर्थात् पांच इन्द्रियों के विषय—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, इन विषयों में मन भटक गया हो, तटस्थला को छोड़ राग-द्वेष युक्त हो गया हो, मोहजाल में फँस गया अर्थात् इष्ट शब्दादि में राग और अनिष्ट में द्वेष उत्पन्न हुआ हो तो उसे वहाँ से हटाकर पुनः संयम-पथ पर अग्रसर करना चाहिये। यही काम-गुणों से आत्मा का प्रतिक्रमण है।

महाब्रतसूत्र—

साधु हिंसा, असत्य, अदत्तादान, आदि का सर्वथा त्याग करता है अर्थात् अहिंसा आदि महाब्रतों की नवकोटि से सदा सर्वथा पूर्ण आराधना करता है, फलतः साधु के अहिंसा आदि ब्रत महाब्रत कहलाते हैं।

महाब्रत साधु के पांच मूलगुण कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त शेष आचार उत्तरगुण कहलाते हैं। उत्तरगुणों की उपयोगिता मूलगुणों की रक्षा में है, स्वयं स्वतन्त्र उत्तर कोई प्रयोजन नहीं। महाब्रत तीन करण और तीन योग से ग्रहण किये जाते हैं। जीवन पर्यन्त किसी भी

प्रकार की हिंसा न स्वर्य करना, न दूसरे से कराना, न करने वालों का अनुमोदन करना, मन से, बचन से और काय से, यह अहिंसा महाव्रत है। इसी प्रकार असत्य, स्तेय, मैथुन एवं परिग्रह आदि के त्याग के सम्बन्ध में भी नव कोटि की प्रतिज्ञा का भाव समझ लेता चाहिये।

विशेष ज्ञातव्य—

प्रस्तुत महाव्रतसूत्र के पश्चात् प्रायः सभी ग्राप्त प्रतियो और आवश्यकसूत्र के टीकाग्रन्थों में समितिसूत्र का उल्लेख मिलता है। परन्तु आचार्य जिनदास महत्तर ने लिखा है—‘एत्य वेवि अण्णं पि पठन्ति’ अर्थात् यहाँ कुछ आचार्य दूसरे पाठ भी पढ़ते हैं। यथा पांच आश्रव, पांच संबरद्धार, पांच निर्जंराद्वार आदि।^१

समितिसूत्र—

सर्वथा जीव हिंसा से निवृत्त मुनि की आवश्यक निर्दोष प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। उत्तम परिणामों की चेष्टा को भी समिति कहते हैं। समिति आगमों का एक सांकेतिक शब्द है। समिति का अर्थ है—विवेकन्युक्त होकर प्रवृत्ति करना। समिति पांच प्रकार की है—

१. ईयस्मिति—कार्य उत्पन्न होने पर विवेकपूर्वक गमन करना तथा दूसरे जीवों को किसी प्रकार की हानि न हो, इस प्रकार उपयोगपूर्वक चलना ईयस्मिति है।

२. भाषासमिति—आवश्यकता होने पर निर्दोष बचन की प्रवृत्ति करना, अर्थात् हित, मित, सत्य एवं स्पष्ट बचन कहना भाषासमिति है।^२

३. एषणासमिति—आहारादि सम्बन्धी वयालीस दोषों को टालकर निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना, ५ मण्डल सम्बन्धी दोष टाल कर भोगना एषणासमिति है।

४. आवानभाण्डसात्र-निक्षेपणासमिति—वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि उपकरणों को उपयोग-पूर्वक ग्रहण करना एवं जीव रहित ग्रामाञ्जित भूमि पर निक्षेपण करना-रखना आदान-भाण्ड-सात्र-निक्षेपणासमिति है।

५. पारिष्ठापनिकासमिति—मल, मूत्र, कफ, थूक, नासिकाभल आदि या भूत्कर्णेष भोजन तथा भग्न पात्र आदि परठने योग्य वस्तु जीव रहित एकान्त स्थण्डिल-भूमि में परठना, जीवादि उत्पन्न न हों, एतदर्थे उचित घतनापूर्वक परठना पारिष्ठापनिकासमिति है।

जीवनिकायसूत्र—

‘जीवनिकाय’ शब्द जीव और निकाय इन दो शब्दों से बना है। जीव का अर्थ है—चेतन-प्राणी तथा निकाय का अर्थ है—राशि अर्थात् समूह। जीवों की राशि को जीवनिकाय कहते हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, बनस्पति और त्रस, ये छह निकाय हैं। इन छह निकायों में अर्थात् समूहों में समस्त संसारी जीवों का समावेश हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र में छहों जीवसमूहों में से किसी को किसी भी प्रकार की प्रमाद-वश पीड़ा पहुंचायी हो तो उसका प्रतिक्रमण किया गया है।

१. “पङ्किकमामि गंगाहि आश्रवदारेहि—मिळ्लत-श्विरति-पमात-कसायजोगेहि, पंचहि शणसवदारेहि—राम्पत्त-विरति-अप्यमाद-श्वकसायित अजोगितेहि, गंजहि तिज्जर-ठाणेहि, नाण-दंसण-नरित्त-नव-रांजमेहि।”

२. “भाषासमितिनांम हितमितासंदिग्धार्थभाषणम्।” आचार्य हरिभद्र।

लेश्यासूत्र—

लेश्या का संक्षिप्त अर्थ है—मनोवृत्ति या विचार-तरंग। उत्तराध्ययनसूत्र, भगवतीसूत्र, प्रशापनासूत्र आदि में लेश्या का विस्तार से तथा सूक्ष्म रूप में वर्णन किया गया है।

लेश्या की व्याख्या करते हुए आचार्य जिनदास महत्तर कहते हैं कि आत्मा के जिन शुभाशुभ परिणामों के द्वारा शुभाशुभ कर्म का आत्मा के साथ संख्लेषण होता है, वे परिणाम लेश्या कहलाते हैं।^१ मन, वचन और काय रूप योग के परिणाम लेश्या पदवाच्य हैं। क्योंकि योग के अभाव में अयोगी केवली लेश्यारहित माने गए हैं। लेश्या के मुख्य भेद छह हैं—

१. कृष्णलेश्या—यह मनोवृत्ति सबसे जघन्य है। कृष्णलेश्या वाले के विचार अतीव क्षुद्र, कूर, कठोर एवं निर्दय होते हैं। अर्हिसा, सत्य आदि से उन्हें बृणा होती है। इहलोक परलोक से एवं परलोक सम्बन्धी अनिष्ट परिणामों से वे नहीं डरते। उन्हें अपने सुख से मतलब होता है—दूसरों के जीवन का कुछ भी हो, इसकी चिन्ता नहीं रहती है। वे अतिशय कूर एवं पापी होते हैं।

२. नीललेश्या—यह मनोवृत्ति पहली की अपेक्षा कुछ ठीक है परन्तु उपादेय यह भी नहीं। इस लेश्या वाला ईर्ष्यालु, असहिष्णु, मायावी, निर्लज्ज एवं रसलोलुप होता है। अपने सुख में मस्त रहता है। परन्तु जिन प्राणियों के द्वारा सुख मिलता है, उनकी भी 'अजपोषण' न्याय के अनुसार कुछ सार-संभाल कर लेता है।

३. कापोतलेश्या—यह मनोवृत्ति भी अप्रशस्त है। इस लेश्या वाला व्यक्ति विचारने, बोलने और कार्य करने में वक्र होता है। कठोरभाषी एवं अपने दोषों को ढँकने वाला होता है।

४. तेजोलेश्या—यह मनोवृत्ति पवित्र है। इसके होने पर मनुष्य नम्र, विचारशील, दयालु एवं धर्म में अभिरुचि रखने वाला होता है। अपनी सुख-सुविधा को गौण करके दूसरों के प्रति अधिक उदार भावना रखता है।

५. पश्चलेश्या—पश्चलेश्या वाले मनुष्य का जीवन कमल के समान दूसरों को सुगन्ध देने वाला होता है। इस लेश्या वाले का मन शान्त, निश्चल एवं अशुभ प्रवृत्तियों को रोकने वाला होता है। पाप से भय खाता है। भोह और शोक पर विजय प्राप्त करता है। वह मितभाषी, सोम्य एवं जितेन्द्रिय होता है।

६. शुक्ललेश्या—यह मनोवृत्ति सबसे अधिक विशुद्ध होने के कारण शुक्ल कहलाती है। इस लेश्या वाला शरीर के निवाहि के लिए आहार ग्रहण करता है। किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। राग-द्वेष की परिणति हटाकर बीतराग भाव धारण करता है। परम शुक्ललेश्या वाला आसक्तिरहित होकर सतत समझाव रखता है।

प्रथम की तीन लेश्याएं—कृष्ण, नील एवं कापोत त्याज्य हैं और अन्त की तीन लेश्याएं—तेजो, पश्च एवं शुक्ल उपादेय हैं। अन्तिम शुक्ललेश्या के बिना आत्म-विकास की पूर्णता का होना

१. 'विश्व संख्लेषणे, संशिनश्चते आत्मा तैस्तः परिणामान्तरै। यथा लेषेण वर्ण-सम्बन्धो भवति एवं लेश्या-भिरात्मनि कर्माणि संश्लिष्यन्ते। योग-परिणामो लेश्या, जम्हा अद्योगिकेवली अलेस्सो।'

असंभव है। जीवनशुद्धि के पथ में अधर्म लेश्याओं का आचरण किया हो और धर्म लेश्याओं का आचरण न किया हो तो प्रस्तुत सूत्र के द्वारा उसका प्रतिक्रमण किया जाता है।

भयादिसूत्र—

भय से लेकर आशातना तक के बोल कुछ उपादेय हैं, कुछ ज्ञेय हैं, कुछ हेय हैं। भयस्थान के सात प्रकार हैं—

१. इहलोकभय—अपनी जाति के प्राणी से डरना। इहलोकभय है, जैसे—मनुष्य का मनुष्य हो, तिर्यङ्गक का तिर्यङ्गक से डरना।

२. परलोकभय—दूसरी जाति वाले प्राणी से डरना। परलोकभय है, जैसे—मनुष्य का देव से या तिर्यङ्गक आदि से डरना।

३. आदानभय—चोर आदि द्वारा धन आदि छीने जाने का भय।

४. अकस्मात्भय—बिना कारण ही अचानक डर जाना।

५. आजीविकाभय—दुर्भिक्ष आदि में जीवन-यात्रा के लिये भोजन आदि की अप्राप्ति के दुर्विकल्प से डरना।

६. मरणभय—मृत्यु से डरना।

७. अपवश-अइलोकभय—अपवश की आशंका से डरना।

भयमोहनीयकर्म के उदय से होने वाले आत्मा के उद्वेग रूप परिणाम-विशेष को भय कहते हैं। साधु को किसी भय के आगे अपने आपको नहीं झुकाना चाहिये। निर्भय रहना अर्थात् न स्वयं भयभीत होना और न दूसरों को भयभीत करना चाहिये। भय के द्वारा संघम-जीवन दूषित होता है, तदर्थं भय का प्रतिक्रमण किया जाता है।

आठ मदस्थान—

१. जातिमद—ऊंची एवं श्रेष्ठ जाति (मातृपक्ष) का अभिमान।

२. कुलमद—ऊंचे कुल (पितृपक्ष) का अभिमान।

३. अलमद—अपने बल का घमण्ड करना।

४. रूपमद—अपने रूप का, सौन्दर्य का अभिमान करना।

५. तमोमद—उम्र तपस्वी होने का गर्व करना।

६. श्रुतमद—शास्त्राभ्यास का अर्थात् पंडित होने का घमण्ड करना।

७. लाभप्रद—अभीष्ट वस्तु के मिल जाने पर लाभ का गर्व करना।

८. ऐश्वर्यमद—अपने प्रभुत्व का अहंकार।

विवेचन—ये आठ मद समवायांग सूत्र के उल्लेखानुसार हैं। मणधर गौतम ने श्री महावीर-स्वामी से प्रश्न किया था—

माण-विजाएण भंते ! जोवे कि जणयह ?

हे भगवन् ! मान पर विजय पाने से जीव को किस लाभ की प्राप्ति होती है ?

भगवान् ते समाधान दिया—“माणविजएण महवं जणयइ, माणवेयणिजं नवं कस्मं न बंधई, पुष्ट-बद्धं च निच्छरेइ ।” —उत्तरा. सू. अ. २९ ।

अर्थात्—मान पर विजय पाने से मृदुता प्राप्त होती है। नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता तथा पूर्वाजित कर्मों की निर्जीवा होती है।

अहंकार से मनुष्य का दिमाग आसमान पर चढ़ जाता है और ऐसी स्थिति में नीचे ठोकर लगने पर सिर फटने की आशंका रहती है।

जगत् में मान, गर्व, अभिमान को कुत्ते के समान माना गया है। जैसे कुत्ता प्रेम करने पर मुंह चाट कर अशुद्ध कर देता है और मारने पर काट खाता है, उसी तरह अहंकार का पोषण करने से अपयश का भागी बनना पड़ता है और जब अहंकार खंडित हो जाता है तो जीवन-लीला समाप्त होने की भी नीबूत आ जाती है। इसलिए कहा है—

“मृत्योस्तु क्षणिका पीडा मान-खंडो पदे-पदे ।”

अर्थात्—मृत्यु की पीडा तो क्षणिक होती है, किन्तु मान-भंग होने की पीडा पद-पद पर कष्ट पहुंचाती है।

नी ब्रह्मचर्यगुप्तियाँ—

ब्रह्मचर्य शरीर की शक्ति है। जीवन का परमोत्तम धन है। मन का मर्दन है। आत्मा का उत्थान है। ब्रतों में उत्तम है। साधना की बुनियाद और धर्मराधना का आधार है। सफलता का साधन और शांति का स्रोत है। क्षमा का सागर और विनय का आगार है। सूत्रकृतांग सूत्र के छट्ठे अध्ययन में लिखा है—‘तदेसु वा उत्तम बंधचेर’ अर्थात् ब्रह्मचर्यं तपों में श्रेष्ठ है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ—

जीवो बंभो जीवम्भ चेव अरिया, हविज्ज जा जदिणो ?

तं जाणं बंभचेरं, विमुक्त परवेहतित्तिस्स ॥

—भगवती आराधना ८१

अर्थात्—ब्रह्म अर्थात् आत्मा, आत्मा में चर्या अर्थात् रमण करना ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य धर्मसाधना का आधार है। इसकी साधना से आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा है—‘ब्रह्मचर्य धर्मरूपी पद्मसरोवर की पाल है। वह दया धमादि गुणों का आगार है एवं धर्मशाखाओं का आधार है। ब्रह्मचारी की देव-नरेन्द्र पूजा करते हैं। वह संसार का मंगलमय मार्ग है।

देव-दानव-गंधव्या जक्ख-रक्खस-किञ्चर ।

बंभयारि तमसंति दुक्करं जे करंति ते ॥

—उत्तराध्ययनसूत्र

अर्थात्—देव, दानव, गंधव्य, यक्ष, रक्खस तथा किञ्चर आदि देवगण भी दुःकर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं।

अमेरिकन औषि 'थोरो' ने कहा है—“ब्रह्माचर्य जीवन-वृक्ष का पुष्प है और प्रतिभा, पवित्रता, वीरता आदि अनेक उसके मनोहर फल हैं।” व्यास के शब्दों में “ब्रह्माचर्य अमृत है।” जो मनुष्य ब्रह्माचर्य रूपी अमृत का आस्वादन कर लेता है, वह सदा के लिये अमर बन जाता है। ब्रह्माचर्य जीवन की विराट साधना है।

यदि साधना करते हुए कहीं भी प्रमादवश नौ ब्रह्माचर्यगुप्तियों का अतिक्रमण किया हो तो उसका प्रस्तुत सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण किया जाता है।

ब्रह्माचर्य को भलीभांति सुरक्षित रखने के लिए नव गुप्तियों शास्त्रों में प्रतिपादित की गई हैं। संक्षेप में उनका आशय इस प्रकार है—

१. विविक्तवसतिसेवन—स्त्री, पशु और नपुंसकों से युक्त स्थान में न ठहरना।

२. स्त्रीकथापरिहार—स्त्रियों की कथा-वार्ता, सौन्दर्य आदि की चर्चा न करना।

३. निष्ठानुपवेशन स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे, उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस स्थान पर न बैठे।

४. स्त्री-अंगोपाधाकर्णन—स्त्रियों के मनोहर अंग, उपांग न देखे। यदि कभी अकस्मात् दृष्टि पढ़ जाय तो उसी प्रकार सहसा हटा ले जैसे सूर्य की ओर से दृष्टि हटा ली जाती है।

५. कुड्यान्तर-शब्दशब्दणाविवर्जन—दीवार आदि की आड़ से स्त्री के शब्द, गीत, हास्य, रूप आदि न सुने और न देखे।

६. पूर्वभोगास्मरण—पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करे।

७. प्रणीत-भोजन-त्याग—विकारोत्पादक गरिष्ठ भोजन न करे।

८. अतिभाव-भोजनत्याग रुखा-सूखा भोजन भी अधिक मात्रा में न करे। आहार सम्बन्धी ग्रन्थों के अनुसार आधा पेट अन्न से भरे, आधे में से दो भाग पानी के लिए और एक भाग हवा के लिए छोड़ दे। शास्त्रानुसार पुरुष साधक का उत्कृष्ट आहार बत्तीस और नारी साधिका का अद्वाईस कबल है। कबल का प्रमाण भी बता दिया गया है—मयूरी के अंडे जितना।

९. विभवापरिवर्जन—शरीर की विभूषा—सजावट न करे। इन नौ ब्रह्माचर्य-गुप्तियों में और धान्ति, मुक्ति, निलोभिता, आर्जव (सरलता रखना), मार्दव (मान परित्याग), लाघव (द्रव्य भाव से लघुता), सत्य संयम तप ब्रह्माचर्य एवं त्याग, इस प्रकार दस प्रकार के यतिधर्म में जो कोई अतिचार लगा हो तो उससे मैं निवृत्त होता हूँ।

स्यारह उपासकप्रतिमाएँ—

देशविरत श्रावक के अभिग्रहविशेष को प्रतिमा कहते हैं। देव और गुरु की उपासना करने वाला श्रमणोपासक होता है। जब उपासक प्रतिमाओं का आराधन करता है तब प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है। ये प्रतिमाएँ स्यारह हैं।

१. दर्शनप्रतिमा—इस प्रतिमा में श्रावक किसी भी प्रकार का राजाभियोग आदि आगार न रख कर शुद्ध निरतिचार, विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन करता है। इसमें मिथ्यात्व-अतिचार का त्याग मुख्य है। यह प्रतिमा एक मास की होती है।

२. ब्रह्मप्रतिमा—ब्रती आवक सम्यक्त्व लाभ के पश्चात् ब्रतों की साधना करता है। पांच अणुब्रत आदि ब्रतों की प्रतिज्ञाओं को सम्यक् प्रकार से निभाता है। किन्तु सामायिक कायथासमय सम्यक् पालन नहीं कर पाता। यह प्रतिमा दो मास की होती है।

३. सामायिकप्रतिमा—इस प्रतिमा में सामायिक तथा देशावकाशिक ब्रत का पालन करता है, किन्तु पर्व दिनों में पौषधब्रत का सम्यक् पालन नहीं कर पाता। यह तीन मास की होती है।

४. पौषधोपवासप्रतिमा—पूर्वोक्त सभी नियमों के साथ अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को प्रतिपूर्ण पौषध उपवास सहित करता है। यह प्रतिमा चार मास की है।

५. कायोत्सर्गप्रतिमा—उपर्युक्त सभी ब्रतों का भली-भाँति पालन करते हुए प्रस्तुत प्रतिमा में निम्नोक्त नियमों को विशेष रूप से धारण करना होता है—

१. स्नान नहीं करना।
२. रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना।
३. धोती की लांग छुली रखना।
४. दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना।
५. रात्रि में मैथुन का परिमाण रखना।

इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक या दो अथवा तीन दिन, उत्कृष्ट पांच महीने तक किया जाता है। इसे नियमप्रतिमा भी कहा जाता है।

६. ब्रह्मचर्यप्रतिमा—ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना। इस प्रतिमा की कालमर्यादा जघन्य एक रात्रि और उत्कृष्ट छह मास की होती है।

७. सचित्तत्यागप्रतिमा—सचित्त आहार का सर्वथा त्याग करना। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि और उत्कृष्ट सात मास की होती है।

८. आरंभत्यागप्रतिमा—इस प्रतिमा में स्वर्य आरंभ नहीं करता, छह काय के जीवों की दया पालता है। इसकी कालमर्यादा जघन्य एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्ट आठ मास की है।

९. श्रेष्ठत्यागप्रतिमा—इस प्रतिमा में दूसरों के द्वारा आरम्भ कराने का भी त्याग होता है। वह स्वर्य आरम्भ नहीं करता, न दूसरों से करवाता है किन्तु अनुमोदन का उसे त्याग नहीं होता है। काल जघन्य एक, दो, तीन दिन है और उत्कृष्ट काल नी मास है।

१०. उद्विष्टभक्तत्यागप्रतिमा—इस प्रतिमा में अपने निमित्त बनाया हुआ भोजन ग्रहण नहीं किया जाता है, उद्विष्ट भक्त का भी त्याग होता है। उस्तरे से सर्वथा शिरोमुण्डन करना होता है। गृह सम्बन्धी विषयों के पूछे जाने पर यदि जानता है तो 'जानता हूँ' और नहीं जानता है तो 'नहीं जानता हूँ' इतना मात्र कहे। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि की, उत्कृष्ट दस मास की होती है।

११. श्रमणभूतप्रतिमा—इस प्रतिमा का धारक आवक श्रमण तो नहीं किन्तु श्रमण सदृश होता है। साशु के समान वेश धारण करके और साशु के योग्य ही भाष्डोपकरण रखकर विचरता

है। शक्ति हो तो केशलुच्चन करता है, अन्यथा उस्तरे से शिरोमुण्डन करता है। इसका काल जघन्य एक अहोरात्र अर्थात् एक दिन-रात और उत्कृष्ट यारह मास होता है।

उपासक का प्रचलित अर्थ श्रावक है और प्रतिमा का अर्थ—प्रतिज्ञा—अभिग्रह है। उपासक की प्रतिमा उपासकप्रतिमा कहलाती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि श्रावक की प्रतिमाओं के काल-मान में कुछ मतभेद हैं। कुछ आचार्य इनका काल एक, दो, तीन यावत् यारह मास का मानते हैं। जघन्य एक, दो, तीन दिवस आदि नहीं मानते।

आरह भिक्षुप्रतिमा—

बारह भिक्षुप्रतिमाओं का यथाशक्ति आचरण न करना, उन पर शङ्खा न करना तथा उनकी अन्यथा प्ररूपणा करना अतिचार है।

१. प्रथम प्रतिमाधारी भिक्षु के एक दत्ति अग्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है। साधु के पात्र में दाता द्वारा दिए जाने वाले अग्न और जल को धारा जब तक अखण्ड बनी रहे तब तक वह एक दत्ति है। धारा खण्डित होने पर दत्ति की समाप्ति हो जाती है। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहाँ से लेना चाहिए, किन्तु जहाँ दो, तीन आदि से अधिक व्यक्तियों के लिये भोजन बना हो वहाँ से नहीं लेना चाहिये। यह पहली प्रतिमा एक मास की है।

२. से ७. दूसरी से सातवीं प्रतिमा तक का समय एक-एक मास का है। इनमें क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ती जाती है। दो दत्ति दूसरी प्रतिमा में आहार की, दो दत्ति पानी की लेना। इसी प्रकार तीसरी, चौथी यावत् सातवीं प्रतिमा में क्रमशः तीन, चार, पांच, छह और सात दत्ति अग्न की और उतनी ही पानी की घटण की जाती हैं।

८. आठवीं प्रतिमा सप्त अहोरात्र की होती है। इसमें चौविहार एकान्तर उपवास करना होता है। गाँव के बाहर उत्तानासन (चित्त सोना), पाश्वसिन (एक करवट लेना) तथा निषद्यासन (पंरों को बराबर करके बैठना) से ध्यान लगाना चाहिये। उपसर्ग आये तो शान्त चित्त से सहन करना चाहिये।

९. यह प्रतिमा भी सात अहोरात्र की है। इसमें चौविहार षष्ठभक्त तप (बेले-बेले पारणा) किया जाता है। गाँव के बाहर एकान्त स्थान में दण्डासन, लगंडासन अथवा उत्कटुकासन से ध्यान किया जाता है।

१०. यह भी सप्त अहोरात्र की होती है। इसमें चौविहार तेले-तेले पारणा किया जाता है। गाँव के बाहर गोदोहासन, बीरासन अथवा आम्रकुञ्जासन से ध्यान किया जाता है।

११. यह प्रतिमा एक अहोरात्र की होती है। एक दिन और एक रात तक इसकी साधना की जाती है। चौविहार बेले के द्वारा इसकी आराधना होती है। गाँव के बाहर कायोत्सर्ग किया जाता है।

१२. यह प्रतिमा केवल एक रात्रि की है। इसका आराधन बेले को चढ़ाकर चौविहार तेला करके किया जाता है। गाँव के बाहर खड़े होकर, मस्तक को थोड़ा-सा झुकाकर किसी एक पुद्गल

पर दृष्टि रखकर निर्निमेष जीवों से निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है। देव, मनुष्य एवं तिर्यक सम्बन्धी उपसर्ग आने पर उन्हें समभाव से सहन किया जाता है। उपसर्ग से चलायमान नहीं होना चाहिये। यदि उपसर्ग से चलायमान हो जाय तो पागल अर्थात् बावला बने या दीर्घ-कालिक रोग उत्पन्न हो जाय। यदि स्थिर रहे तो अवधिज्ञान, मनःपर्यवेक्षण तथा केवलज्ञान तक प्राप्त करता है।

तेरह क्रियास्थान -

क्रिया का अर्थ यही कार्य है। इसके तेरह प्रकार निम्नलिखित हैं—

१. अर्थक्रिया—अपने किसी प्रयोजन के लिये जीवों की हिंसा करना, कराना या अनुमोदना करना अर्थक्रिया है।

२. अनर्थक्रिया विना किसी प्रयोजन के क्रिया जाने वाला पाप कर्म अनर्थक्रिया कहलाता है।

३. हिंसक्रिया अमुक व्यक्ति मुझे अशना मेने इनेहिंसों को कष्ट देता है, देगा अथवा उसने दिया है, यह सोचकर किसी प्राणी की हिंसा करता।

४. अकस्मात्क्रिया शोषणावश बिना जाने हो जाने वाला पाप अकस्मात्क्रिया है।

५. दृष्टिविषयक्रिया मतिज्ञम से होने वाला पाप, यथा—चोरादि के भ्रम में साधारण अनपराधी पुरुष को दण्ड दे देना।

६. मूषाक्रिया—भूठ बोलना।

७. अवसादानक्रिया—चोरी करना।

८. अध्यात्मक्रिया—बाह्य निमित्त के बिना मन में होने वाला शोक आदि।

९. मानक्रिया—अपनी प्रशंसा करना, घमण्ड करना।

१०. मित्रक्रिया—प्रियजनों को कठोर दण्ड देना।

११. सायाक्रिया दम्भ करना।

१२. लोभक्रिया—लोभ करना।

१३. इयापिथिकीक्रिया—अप्रमत्त विवेकी संयमी को गमनागमन के निमित्त से लगने वाली क्रिया।

चौदह भूतप्राप्त-

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंजी पञ्चेन्द्रिय और संजी पञ्चेन्द्रिय, इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त यों कुल चौदह भेद होते हैं। इनकी विराधना करना, इन्हें किसी भी प्रकार की पीड़ा देना अतिचार है।

विवेचन --जीवागमों में सूक्ष्म रूप से अहिंसा का पालन करने के लिए एवं हिंसा से बचने के लिए अनेक आधारों से जीवों के भेद-भेदों का उल्लेख किया गया है, क्योंकि जीव की भली-भाँति पहिचान हुए बिना उसकी हिंसा से बचा नहीं जा सकता। प्रस्तुत में जीवों के चौदह ग्रामी-समूहों का उल्लेख किया गया है, जिनमें समस्त जागतिक जीवों का समावेश हो जाता है।

सूक्ष्म जीव वे कहलाते हैं जो समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं किन्तु चर्म-चक्षुओं से दृष्टि-गोचर नहीं होते। वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि मारने से मरते नहीं और काटने से कटते नहीं हैं। वे सूक्ष्मनामकर्म के उदय वाले प्राणी हैं और वे सब एकेन्द्रिय स्थावर ही होते हैं। ध्यान रहे कि कुंशुवा जैसे छोटे शरीर वाले जीवों की इन सूक्ष्म जीवों में गिनती नहीं है। कुंशुवा आदि जीव वादरनाम-कर्म के उदय वाले हैं, अतएव उनकी गणना वादर-व्रस जीवों में होती है।

पर्याप्ति का अभिप्राय है जीव की शक्ति की पूर्णता। जीव जब नवीन जन्म ग्रहण करता है तब उस नूतन शरीर, इन्द्रिय आदि के निर्माण के लिये उपयोगी पुद्गलों की आवश्यकता होती है। उन पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर, इन्द्रिय, भाषा आदि के रूप में परिणत करने की शक्ति की परिपूर्णता ही पर्याप्ति कहलाती है। यह परिपूर्णता प्राप्त कर लेने वाले जीवों में चार, और जब तक वह शक्ति पूरी नहीं होती तब तक वे अपर्याप्त कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में चार, द्विन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचन्द्रियों तक में पांच और संज्ञी-समनस्क प्राणियों में छह पर्याप्तियाँ होती हैं। जिस जीव में जितनी पर्याप्तियाँ संभव हैं, उनकी पूति एक अन्तमुहूर्त काल में ही हो जाती है।

पंद्रह परमाधार्मिक—

१. अम्ब, २. अम्बरीष, ३. श्याम, ४. शबल, ५. रीढ़, ६. उपरोद, ७. काल, ८. महाकाल, ९. असिपत्र, १०. धनुः, ११. कुम्भ, १२. बालुक, १३. वैतरणि, १४. खरस्वर, १५. महाघोष।

ये परम अधार्मिक, पापाचारी, कूर एवं निर्दय असुर जाति के देव हैं। नारकीय जीवों को व्यर्थ ही केवल मनोविनोद के लिए यातना देते हैं। इनका विशेष परिचय इस प्रकार है—

१. अम्ब—नारक जीवों को आकाश में ले जाकर नीचे पटकने वाले, गर्दन पकड़कर गड्ढे में गिराने वाले, उलटे मुँह आकाश में उछाल कर गिरते समय बर्छी आदि भौकने वाले।
२. अम्बरीष—तेरयिकों को मुद्गर आदि से कूट कर, करोत, केंची आदि से टुकड़े-टुकड़े कर अध्यमरे कर देने वाले।

३. श्याम—कोहा आदि से पीटने वाले, हाथ-पैर आदि अवयवों को बुरी तरह काटने वाले, शूल—सुई आदि से बींधने वाले आदि।

४. शबल—मुद्गर आदि द्वारा नारकियों के अंग-अंग के जोड़ों को चूर-चूर करने वाले।

५. रीढ़ नरकस्थ जीवों को खूब ऊंचे उछाल कर गिरते समय तलवार, भाले आदि में पिरोने वाले।

६. उपरोद—नारकीय जीवों के हाथ-पैर तोड़ने वाले।

७. काल—कुंभी आदि में पकाने वाले।

८. महाकाल—पूर्वजन्म के मांसाहारी जीवों को उन्हीं की पीठ आदि का मांस काट-बाट कर खिलाने वाले।

९. असिपत्र—तलवार जैसे तीखे पत्तों के बन की विकुर्वणा करके उस बन में छाया की

इच्छा से आये हुए नारकी जीवों को वैक्षिय वायु द्वारा तलवार की धार जैसे तीखे पत्ते गिराकर छिप-भिप करने वाले ।

१०. धनुष—धनुष से छेदने वाले ।

११. कुम्भ—ऊंटनी आदि के आकार वाली कुंभियों में पकाने वाले ।

१२. बालुक—बज्जमय तप्त बालुका में चनों के समान तड़तड़ाहट करते हुए नारकी जीवों को भूनने वाले ।

१३. वैतरणी—अत्यन्त दुर्घन्ध वाली राघ—लोह से भरी हुई एवं तपे हुए जस्ता और कथीर की उकलती हुई, अत्यन्त क्षार से युक्त उष्ण पानी से भरी हुई वैतरणी नदी की विकुर्वणा करके उसमें नरक के जीवों को डालकर अनेक प्रकार से पीड़ित करने वाले ।

१४. खरस्वर—तीखे बज्जमय कटि वाले ऊंचे-ऊंचे शाल्मली वृक्षों पर चढ़ाकर चिल्लाते हुए नारकी जीवों को खींचने वाले, मस्तक पर करोत रखकर चीरने वाले ।

१५. महाघोष—अत्यन्त वेदना के डर से मृगों की तरह इधर-उधर भागते हुए नारक जीवों को बाढ़े में पशुओं की तरह घोर-गर्जना करके रोकने वाले । इनके द्वारा होने वाले पाप की अनुमोदना आदि से जो अतिचार लगा हो, तो मैं उससे निवृत्त होता हूँ ।

गाथा षोडशक—

सुत्रकृताङ्ग के प्रथम युत्सकन्ध के सोलह अध्ययन इस प्रकार हैं—

१. स्वसमय-परसमय, २. वैतालीय, ३. उपसर्ग-परिज्ञा, ४. स्त्री-परिज्ञा, ५. नरकविभक्ति, ६. वीरस्तुति, ७. कुशीलपरिभाषा, ८. वीर्य, ९. धर्म, १०. समाधि, ११. मोक्षमार्ग, १२. समवसरण, १३. यथातथ्य, १४. ग्रन्थ, १५. आदानीय, १६. गाथा ।

इनकी शब्दा या प्ररूपणा में लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण करता है ।

सतरह असंयम—

१—९. पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय तथा द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करना, कराना, अनुमोदन करना ।

१०. अज्ञोद-असंयम—अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं के द्वारा असंयम होता है, उन बहुमूल्य वस्त्र, पात्र आदि का ग्रहण करना अजीव-असंयम है ।

११. प्रेक्षा-असंयम—जीव-सहित स्थान में उठना-बैठना आदि ।

१२. उत्प्रेक्षा-असंयम—गृहस्थों के पापकर्मों का अनुमोदन करना ।

१३. प्रमार्जन-असंयम—वस्त्र, पात्र आदि का प्रमार्जन न करना ।

१४. परिष्ठापनिका-असंयम—अविधि से परठना ।

१५. मन-असंयम—मन में दुर्भवि रखना ।

१६. वचन-असंयम—मिथ्या, कटु, कठोर, पीड़ाकारी वचन बोलना ।

१७. काय-असंयम—गमनागमनादि कायिक क्रियाओं में असावधान रहना ।

ये सत्तरह असंयम समवार्यागसूत्र में कहे गये हैं। आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक में 'असंजमे' के स्थान में 'संजमे' का उल्लेख किया है। संजमे का अर्थ संयम है। संयम के भी उपर्युक्त ही पृथ्वीकायसंयम आदि सत्तरह भेद हैं।

किसी भी असंयम का आचरण किया हो, संयम का आचरण न किया हो अथवा इनकी विपरीत अद्वा प्ररूपणा की हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कड़।

अठारह असंयम—

देव सम्बन्धी भोगों का भन, वचन और काय से स्वयं सेवन करना, अन्य से सेवन कराना तथा सेवन करते हुए का अनुमोदन करना। इस प्रकार नौ भेद वैक्रियशरीर सम्बन्धी तथा मनुष्य एवं तिर्यञ्च सम्बन्धी औदारिक भोगों के भी इसी तरह नौ भेद समझ लेने चाहिये। कुल भेद मिलाकर अठारह होते हैं।

ज्ञाताधर्मकथा के १९ अध्ययन—

१. मेघकुमार (उत्तिष्ठत), २. धन्वा सार्थवाह (संघाट), ३. मयूराण्ड, ४. कूर्म, ५. शेलक, ६. तुम्बलेप, ७. रोहिणी, ८. मल्ली, ९. माकन्दी, १०. चन्द्र, ११. दावदवबृक्ष, १२. उदक, १३. मण्डूक, १४. तेतलिप्रधान, १५. नन्दीफल, १६. अवरकंका, १७. आकीणंक, १८. सुसुमा, १९. पुण्डरीक।

उक्त उन्नीस उदाहरणों के भावानुसार साधुधर्म की साधना न करना अतिवार है।

बीस असमाधिस्थान—

चित्त की एकाग्रतापूर्वक मोक्षमार्ग में स्थित होने को समाधि कहते हैं। इसके विपरीत असमाधि है। असमाधि के बीस स्थान निम्नलिखित हैं—

१. दवदव—जहाँ-जहाँ चलना।
२. बिना पूँजे चलना।
३. बिना उपयोग के प्रभार्जन करना।
४. अमर्यादित शव्या और आसन रखना।
५. गुरुजनों का अपमान करना।
६. स्थविरों की अवहेलना करना।
७. भूतोपघात—जीवों के धात का चिन्तन करना।
८. क्षण-क्षण में क्रोध करना।
९. परोक्ष में अवर्णवाद करना।
१०. शंकित विषय में बार-बार निश्चयपूर्वक बोलना।
११. नित्य नया कलह करना।
१२. शान्त हुए कलह को पुनः उत्तेजित करना।
१३. अकाल में स्वाध्याय करना।
१४. सचित रज-सहित हाथ आदि से भिक्षा लेना।
१५. प्रहर रात बोतने के बाद जोर से बोलना।

कनुर्थ अष्टमन । प्रतिक्रमण]

१६. गच्छ आदि में छेद-भेद, फूट-अनेकता करना ।
१७. गण को दुःख उत्पन्न हो, ऐसी भाषा बोलना ।
१८. हरएक के साथ विरोध करना ।
१९. दिन भर कुछ न कुछ खाते-पीते रहना ।
२०. अनेषणीय आहार आदि का सेवन करना ।

इवकीस शब्दलदोष--

शब्दल दोष साधु के लिये सर्वथा त्याज्य हैं। जिन कार्यों के करने से चारित्र कुर्वर (शब्दल) अर्थात् मलीन होकर नष्ट हो जाता है, उन्हें शब्दलदोष कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. हस्तकर्म करना ।
२. मैथुन—प्रतिक्रम, व्यतिक्रम एवं अतिचार रूप से मैथुन सेवन करना ।
३. रात्रिभोजन करना ।
४. आधाकर्म—साधु के निमित्त बनाया हुआ भोजन लेना ।
५. राजपिण्ड लेना ।
६. ओद्देशिक—साधु के निमित्त अथवा खरीदा हुआ, स्थान पर सामने लाकर दिया हुआ, उधार लाया हुआ आदि भोजन बगैरह लेना ।
७. बार-बार प्रत्यास्थान भयं करना ।
८. छह मास के अन्दर गण से गणान्तर में जाना ।
९. एक महीने में तीन बार उदक का लेप लगाना । (नदी आदि में उतरना)
१०. एक मास में तीन बार मातृस्थान (माया का) सेवन करना ।
११. शम्यातरपिण्ड का सेवन करना ।
१२. जान-बूझकर हिसा करना ।
१३. जान-बूझकर झूठ बोलना ।
१४. जान-बूझकर चौरी करना ।
१५. जान-बूझकर सचित्त पृथ्वी पर बैठना, सचित्त शिला पर सोना आदि ।
१६. जीव सहित पीठ, फलक आदि का सेवन करना ।
१७. जान-बूझकर कन्द-मूल, छाल, प्रवाल, पुष्प, फूल, बीज आदि का भोजन करना ।
१८. एक वर्ष में दश उदक-लेप (सचित्त जल का लेप) लगाना ।
१९. वर्ष में दस बार माया-स्थानों का सेवन करना ।
२०. जान-बूझकर सचित्त जल वाले हाथ से तथा सचित्त जल-सहित कुड़छी आदि से दिया जाने वाला आहार ग्रहण करना ।
२१. जान-बूझकर जीवों वाले स्थान पर, बीज, हरित, कीड़ीनगरा, लीलन-फूलन, कीचड़ एवं मकड़ी के जालों वाले स्थान पर बैठना, सोना, कायोत्सर्ग करना ।

बाईस परिषह—

क्षुधा आदि किसी भी कारण से कष्ट उपस्थित होने पर संयम में स्थिर रहने के लिए तथा

कर्मों की निर्जेरा के लिए जो शारीरिक तथा मानसिक कष्ट साधु को सहन करने चाहिये, वे परिषह हैं, क्योंकि साधु-जीवन सुखशीलता का जीवन नहीं है। वह आरामतलबी से विमुख होकर आत्मा की पूर्ण निर्मलता के लिए जूझने का जीवन है। श्री समवायांग एवं उत्तराध्ययन में २२ परिषहों का वर्णन है। इन पर विजय पाना—समभाव से सहना चाहिए। विवरण इस प्रकार है—

१. क्षुधा—भूख का कष्ट सहन करना।
२. पिपासा—निर्दोष पानी नहीं मिलने पर प्यास का कष्ट सहन करना।
३. शीत—अल्प वस्त्रों के कारण भयंकर ठंड का कष्ट सहना।
४. उष्ण—गर्मी का कष्ट सहना।
५. दंशमशक—डांस-मच्छर-खटमल आदि जंतुओं का कष्ट सहना।
६. अचेल—वस्त्रों के नहीं मिलने पर होने वाला कष्ट सहना।
७. अरति—कठिनाइयों से घबराकर संयम के प्रति होने वाली अस्त्रि का निवारण करना।
८. स्त्रीपरिषह—नारीजन्य प्रलोभन पर विजय पाना। यह अनुकूल परिषह है।
९. चर्यपरिषह—विहार-यात्रा में होने वाला गमनादि कष्ट सहना।
१०. निषद्या—स्वाध्याय-भूमि आदि में होने वाले उपद्रव को सहन करना।
११. शय्या—अनुकूल मकान नहीं मिलने पर होने वाले कष्ट को सहना।
१२. आकौश—कोई गाली दे, धमकाये या अपमानित करे तो समभाव रखना।
१३. वध—समभाव से लकड़ी आदि की मार सहना।
१४. याचना—मांगने पर कोई तिरस्कार कर दे तो भी क्षुब्ध न होना।
१५. अलाभ—याचना करने पर भी वस्तु नहीं मिले तो खेद न करना।
१६. रोग—रोग उत्पन्न होने पर धैर्यपूर्वक सहन करना।
१७. तृणस्पर्श—कांटा आदि चुभने पर या तृण पर सोने से होने वाले कष्ट को सहना।
१८. जल्ल—शारीरिक मल का परिषह सहन करना।
१९. सत्कार—पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर अहंकार न करना, न प्राप्त होने पर खेद न करना।
२०. प्रश्ना—बुद्धि का गर्व नहीं करना।
२१. अज्ञान—बुद्धिहीनता का दुःख समभाव से सहन करना।
२२. दर्शन—दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व को ध्रष्ट करने वाले मिथ्या मतों के मोहक वातावरण से प्रभावित न होना।

सूत्रहृतांगसूत्र के २३ अध्ययन—

प्रथम श्रुतस्कन्ध के पूर्वोक्त सोलह अध्ययन एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन—(१७) पुण्डरीक, (१८) क्रियास्थान, (१९) आहारपरिज्ञा, (२०) प्रत्यास्थ्यानक्रिया, (२१) आचारश्रुत, (२२) आर्द्रकुमार, (२३) नालन्दीय, मिलकर तेईस अध्ययन होते हैं।

उक्त तेईस अध्ययनों के कथनानुसार संयमी जीवन न होना, अतिचार है।

चौबीस देव—

असुरकुमार आदि दश भवनपति; भूत, यज्ञ आदि आठ व्यभ्तर; सूर्य, चन्द्र आदि पाँच ज्योतिष्क और वैमानिक देव, इस प्रकार कुल चौबीस जाति के देव हैं। संसार में भोग-जीवन के ये सबसे बड़े प्रतिनिधि हैं। इनकी प्रशंसा करना भोगमय जीवन की प्रशंसा करना है और निन्दा करना ह्वेषभाव है। अतः मुमुक्षु को स्थास्थ भाव ही रखना चाहिये। यदि कभी तटस्थता का भंग किया हो तो अतिचार है।

उत्तराध्ययनसूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य शान्तिसूरि यहाँ देव शब्द से चौबीस तीर्थकर देवों का भी ग्रहण करते हैं। इस अर्थ के मानने पर अतिचार होगा—उनके प्रति आदर या अद्वाभाव न रखना, उनकी आज्ञानुसार न चलना आदि।

पाँच महाव्रतों की पञ्चवीस भावनाएँ—

महाव्रतों का शुद्ध पालन करने के लिए शास्त्रों में प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ बतलाई गयी हैं। भावनाओं का स्वरूप बहुत ही हृदयग्राही एवं जीवनस्पर्शी है। श्रमणधर्म का शुद्ध पालन करने के लिए भावनाओं पर अवश्य ही लक्ष्य देना चाहिये।

अहिंसा-महाव्रत की पाँच भावनाएँ—

१. ईयसिमिति—उपयोगपूर्वक गमनागमन करना।
२. आलोकितपानभोजन—देख-भालकर प्रकाशयुक्त स्थान में आहार करना।
३. आदाननिषेपसमिति—विवेकपूर्वक पात्रादि उठाना तथा रखना।
४. मनोगुप्ति—मन का संयम।
५. वचनगुप्ति—वाणी का संयम।

सत्य-महाव्रत की पाँच भावनाएँ—

१. विचार कर बोलना, २. क्रोध का त्याग, ३. लोभ का त्याग, ४. भय का त्याग, ५. हँसी-भजाक का त्याग।

अस्तेय-महाव्रत की पाँच भावनाएँ—

१. श्राद्धारह प्रकार के शुद्ध स्थान की याचना करके सेवन करना।
२. प्रतिदिन तृण-काष्ठादि का अवग्रह लेना।
३. पीठ-फलक आदि के लिए भी वृक्षादि को नहीं काटना।
४. साधारण पिण्ड का अधिक सेवन नहीं करना।
५. साधु की बैयावृत्त्य करना।

ब्रह्मचर्य-महाव्रत की पाँच भावनाएँ—

१. स्त्री-पशु-नपुंसक के सामिध्य से रहित स्थान में रहना।
२. स्त्री-कथा का वर्जन करना।
३. स्त्रियों के अंगोपांगों का अवलोकन नहीं करना।
४. पूर्वकृत कामभोग का स्मरण नहीं करना।
५. प्रतिदिन सरस भोजन न करना।

अपरिग्रह-महाव्रत की पांच भावनाएँ—

१.-५. पांचों इन्द्रियों के विषय—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के इन्द्रिय-गोचर होने पर मनोज्ञ पर रागभाव तथा अमनोज्ञ पर द्वेष-भाव न लाकर उदासीनभाव रखना ।

दशाश्रुत आदि सूत्रत्रयों के २६ उद्देशन काल—

दशाश्रुतस्कन्ध के दस, बृहत्कल्प के छह और व्यवहारसूत्र के दस, इन छब्बीस अध्ययनों के पाठनकाल में व्यतिक्रम करने से एवं उनके अनुसार आचरण न करने से अतिचार होता है ।

सत्ताईस अनगार के गुण—

सत्ताईस अनगार के गणों का शास्त्रानुसार भलीभांति पालन न करना अतिचार है । उसकी शुद्धि के लिए मुनि-गृणों का प्रतिक्रमण है ।

१.-५. अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्माचर्य एवं अपरिग्रह रूप पांच महाव्रतों का सम्यक् पालन कारण, ६. राजिभेदान का रथाग करना, ७.-११. पांचों इन्द्रियों को वश में रखना, १२. भावसत्य—अन्तःकरण की शुद्धि, १३. करणसत्य—वस्त्र, पात्र आदि की भली-भांति प्रतिलेखना करना, १४. क्षमा, १५. वीतरागता—वैराग्य, १६. मन की शुभ प्रवृत्ति, १७. वचन की शुभ प्रवृत्ति, १८. काय की शुभ प्रवृत्ति, १९.-२४. छह काय के जीवों की रक्षा, २५. चारित्र से युक्तता, २६. शीत आदि वेदना का सहना और, २७. भारणान्तिक उपसर्ग को भी समझाव से सहना ।

उपर्युक्त सत्ताईस गुण, आचार्य हरिभद्र ने अपनी आवश्यकसूत्र की शिष्यहिता टीका में संग्रहणीकार की एक प्राचीन गाथा के अनुसार वर्णन किए हैं । परन्तु समवायांगसूत्र में मुनि के सत्ताईस गुण कुछ अन्तर्भुक्त रूप से अंकित हैं—पांच महाव्रत, पांच इन्द्रियों का निरोध, चार कषायों का त्याग, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, विरागता, मनःसमाहरणता, वचनसमाहरणता, कायसमाहरणता, ज्ञानसम्पन्नता, दर्शनसम्पन्नता, चारित्रसम्पन्नता, वेदनातिसहनता, मारणान्तिकातिसहनता ।

अट्ठाईस आचारप्रकल्प—

आचारप्रकल्प की व्याख्या के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएँ हैं । आचार्य हरिभद्र के अनुसार आचार को ही आचारप्रकल्प कहते हैं—‘आचार एवं आचारप्रकल्पः ।’

आचार का अर्थ प्रथम अंगसूत्र है । उसका प्रकल्प अर्थात् अध्ययन-विशेष । निशीथसूत्र आचारप्रकल्प कहलाता है । अर्थवा ज्ञानादि साधु-आचार का प्रकल्प अर्थात् व्यवस्थापन आचार-प्रकल्प कहा जाता है ।

‘आचारः प्रथमाङ्गं तस्य प्रकल्पः अध्ययनविशेषो निशीथमित्यपराभिधानम् । आचारस्य वा साध्वाचारस्य ज्ञानादिविषयस्य प्रकल्पो व्यवस्थापनमिति आचारप्रकल्पः ।’

—अभयदेव-समवायांगसूत्र टीका

आचारांगसूत्र के शस्त्रपरिज्ञा आदि २५ अध्ययन हैं और निशीथसूत्र भी आचारांगसूत्र की चूलिका स्वरूप माना जाता है, अतः उसके तीन अध्ययन मिलकर आचारांगसूत्र के अट्ठाईस अध्ययन होते हैं—

१. शस्त्रपरिज्ञा, २. लोकविजय, ३. शीतोष्णीय, ४. सम्यक्त्व, ५. लोकसार, ६. धूताध्ययन,
७. महापरिज्ञा, ८. विमोक्ष, ९. उपद्वानश्रुत, १०. विष्णुषणा, ११. शश्या, १२. ईर्याध्ययन,
१३. भाषा, १४. वस्त्रेषणा, १५. पात्रेषणा, १६. अवग्रहप्रतिमा, १७. सप्त स्थानादि-सप्तैकिकाध्ययन,
१८. नैषधिकीसप्तैकिकाध्ययन, १९. उच्चारप्रस्त्रवणसप्तैकिकाध्ययन, २०. शब्दसप्तैकिकाध्ययन,
२१. रूपसप्तैकिकाध्ययन, २२. परक्रियासप्तैकिकाध्ययन, २३. अन्योन्यक्रियासप्तैकिकाध्ययन,
२४. भावना, २५. विमुक्ति, २६. उद्धात, २७. अनुद्धात, २८. आरोपण।

सभवायांगसूत्र के प्रनुसार आचारप्रकल्प के अट्टाईस भेद इस प्रकार हैं—

१. एक मास का प्रायशिच्छत, २. एक मास पाँच दिन का प्रायशिच्छत, ३. एक मास दस दिन का प्रायशिच्छत। इसी प्रकार पाँच दिन बढ़ाते हुए पाँच मास तक कहना चाहिये। (इस प्रकार २५ हुए) २६. उपद्वात-अनुपद्वात, २७. आरोपण, २८. कुत्सनाकृत्सन। इन अट्टाईस अध्ययनों की अद्वा, प्ररूपणा आदि में कोई प्रतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कड़।

पापश्रुत के २९ भेद—

जो आत्मा को दुर्गति में डालने का कारण हो, उसे 'पाप' कहते हैं और जो गुरुमुख से सुना जाय उसे 'श्रुत' कहते हैं। इस प्रकार पापरूप श्रुत की 'पापश्रुत' कहते हैं। वह मुद्यतः उनतीस प्रकार का है—

१. उत्पात—प्रपने आप होने वाली रुधिर आदि की वृष्टि का शुभाशुभ फल बताने वाला निमित्तशास्त्र।

२. भौम—भूमिकम्प आदि का फल बताने वाला शास्त्र।

३. स्वप्नशास्त्र—स्वप्न का शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र।

४. अन्तरिक्षशास्त्र—आकाश में होने वाले ग्रहयुद्ध आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र।

५. अंगशास्त्र—शरीर के विभिन्न अंगों के फड़कने का फल कहने वाला शास्त्र।

६. स्वरशास्त्र—जीवों के चन्द्रस्वर, सूर्यस्वर आदि स्वर का फल प्रतिपादन करने वाला शास्त्र।

७. व्यञ्जनशास्त्र—तिल, भूषा आदि के फल का वर्णन करने वाला शास्त्र।

८. लक्षणशास्त्र—स्त्री और पुरुषों के लक्षणों (मान, उम्मान, प्रमाण आदि) का शुभाशुभ फल कहने वाला शास्त्र।

ये प्राठों ही सूत्र, वृत्ति और वातिक के भेद से चौबीस हो जाते हैं।

२५. विकथानुयोग—शर्व और काम के उपायों को बताने वाला शास्त्र। जैसे वात्स्यायनकृत कामसूत्र आदि।

२६. विद्यानुयोग—रोहिणी आदि विद्याओं की सिद्धि के उपाय बताने वाला शास्त्र।

२७. मन्त्रानुयोग—मन्त्र आदि के द्वारा कार्यसिद्धि बताने वाला शास्त्र।

२८. योगानुयोग—वशीकरण आदि योग बताने वाला शास्त्र।

२९. अन्यतीर्थिकानुयोग—अन्यतीर्थिकों द्वारा प्रवर्तित एवं अभिभृत हिंसा प्रधान आचार—शास्त्र आदि।

—सभवायांगसूत्र

इस प्रकार इन २९ प्रकार के पापशुतों की श्रद्धा, प्रश्नणा आदि करने से जो अतिचार किया हो तो उससे निवृत्त होता है।

महामोहनीय कर्मबन्ध के ३० स्थान—

१. अस जीवों को पानी में डुबाकर मारना।
२. अस जीवों को श्वास आदि रोककर मारना।
३. अस जीवों को मकान आदि में बंद करके छुए में घोटकर मारना।
४. अस जीवों को मस्तक पर दण्ड आदि का बातक प्रहार करके मारना।
५. अस जीवों को मस्तक पर गोला चमड़ा आदि लपेट कर मारना।
६. पथिकों को धोखा देकर मारना अथवा लूटना।
७. गुप्त रीति से अनाचार का सेवन करना।
८. दूसरे पर मिथ्या कलंक लगाना।
९. सभा में जान-बूझकर मिथ्या भाषा बोलना।
१०. राजा के राज्य का छवंस करना।
११. बालझह्यचारी न होते हुए भी अपने को बालझह्यचारी कहलाना।
१२. ब्रह्मचारी न होते हुए भी ब्रह्मचारी होने का ढोंग रचना।
१३. आश्रयदाता का धन चुराना।
१४. कृत-उपकार को न मानकर कृतधनता करना।
१५. गृहपति अथवा संघपति आदि की हत्या करना।
१६. राजा, नगरसेठ तथा राष्ट्रनेता आदि की हत्या करना।
१७. समाज के आधारभूत विशिष्ट परोपकारी पुरुष की हत्या करना।
१८. दीक्षित साधु को संयम से छष्ट करना।
१९. केवलज्ञानी की निन्दा करना।
२०. मोक्षमार्ग का अपकार अथवा अवर्णवाद करना।
२१. आचार्य तथा उपाध्याय की निन्दा करना।
२२. आचार्य तथा उपाध्याय की सेवा न करना।
२३. बहुश्रुत न होते हुए भी अपने आपको बहुश्रुत कहना, कहलाना।
२४. तपस्वी न होते हुए भी अपने को तपस्वी कहना।
२५. शक्ति होते हुए भी अपने आश्रित वृद्ध, रोगी आदि की सेवा न करना।
२६. हिंसा तथा कामोत्पादक विकाशों का बार-बार प्रयोग करना।
२७. जादू-टोना आदि करना।
२८. कामभोग में अत्यधिक लिप्त रहना, आसक्त रहना।
२९. देवताओं की निन्दा करना।
३०. देवदर्शन न होते हुए भी प्रतिष्ठा के मोह से देवदर्शन की बात कहना। — दशाश्रुतस्कन्ध

दिवेचन—संसार के प्राणिमात्र को मोह ने घेर रखा है। चारों ओर मोह का जाल बिछा हुआ है। क्या परिवार, क्या सम्प्रदाय, क्या जाति एवं क्या अन्य इकाई, सर्वत्र मोह का अंधेरा व्याप्त

है। कहीं धन का मोह है तो कहीं पुश्प का, कहीं स्त्री का मोह है तो कहीं वस्त्राभूषणों का। मोह-ममत्व बाहर में दिखाई देने वाली चीज नहीं है कि जिसे हाथ में लेकर बताया जा सके। ये तो एक प्रकार के भाव हैं। जब कर्मबन्ध होता है चाहे वह मोहनीय का हो, चाहे अन्य कर्मों का, तब आत्मा के साथ अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणाओं का होता है। उनकी अनेक पर्यायें हैं, न्यूनाधिक अवस्थाएँ हैं। मोह बहुरूपिया है। वह अनेक रूपों में आता है। इन्द्रजाल भी उसके सामने तुच्छ है। उसके सामने रावण की बहुरूपिणी वा बहुसारिणी विद्या भी नगण्य है। मोह को पहचानना बड़ा कठिन है। महामोहनीय कर्म की स्थिति भी जघन्य अन्तमुहूर्त की और उत्कृष्ट ७० करोड़-करोड़ सागरोपम की है, जो सब कर्मों की स्थिति से अधिक है। यहाँ महामोहनीय कर्म के बंध के मुख्य तीस स्थान अर्थात् कारण प्रस्तुत किए गए हैं।

इन तीस महामोहनीय के कारणों में से किसी भी कारण से जो कोई अतिचार किया गया हो तो मैं उससे निवृत्त होता हूँ।

सिद्धों के ३१ गुण

आदिकाल अर्थात् सिद्ध अवस्था की प्राप्ति के प्रथम समय से ही सिद्धों में रहने वाले गुणों को सिद्धादिगुण कहते हैं। आठ कर्मों की इकतीस प्रकृतियाँ नष्ट होने से ये गुण प्रकट होते हैं। वे इकतीस गुण निम्नलिखित हैं—

१. ज्ञानावरणीय-कर्म की पांच प्रकृति नष्ट होने के कारण--

१. क्षीणमतिज्ञानावरण
२. क्षीणश्रुतज्ञानावरण
३. क्षीणअवधिज्ञानावरण
४. क्षीणमनःपर्यावरणावरण
५. क्षीणकेवलज्ञानावरण

२. दर्शनावरणीय-कर्म की नीं प्रकृतियों के अय से—

१. क्षीणचक्षुदर्शनावरण
२. क्षीणअचक्षुदर्शनावरण
३. क्षीणअवधिदर्शनावरण
४. क्षीणकेवलदर्शनावरण
५. क्षीणनिद्रा
६. क्षीणनिद्रानिद्रा
७. क्षीणप्रचला
८. क्षीणप्रचलाप्रचला
९. क्षीणस्त्यानगृद्धि

३. वैदनीय-कर्म की दो प्रकृतियों के क्षय से—

१. क्षीणसातावेदनीय
२. क्षीणअसातावेदनीय

४. मोहनीय-कर्म की दो प्रकृतियों के काय से—

१. क्षीणदर्शनमोहनीय
२. क्षीणचारित्रमोहनीय

५. आयुकर्म की चार प्रकृतियों के समूल क्षय से—

१. क्षीण नैरयिकायु, २. तिर्थव्यायु, ३. मनुष्यायु, ४. देवायु

६. नाम-कर्म की दो प्रकृतियों के क्षय से—

१. क्षीणशुभनाम, २. क्षीणश्रुभनाम

७. गोत्र-कर्म की दो प्रकृतियों के क्षय से—

१. क्षीणउच्चगोत्र
२. क्षीणनीचगोत्र

८. अन्तराय-कर्म की पांच प्रकृतियों के क्षय से—

१. क्षीणदानान्तराय
२. क्षीणलाभान्तराय
३. क्षीणभोगान्तराय
४. क्षीणउपभोगान्तराय
५. क्षीणबीथान्तराय ।

— समवायांगसूत्र

इनके विषय में जो अतिकार किया गया हो तो मैं उससे निवृत्त होता हूँ ।

बहीस योग-संग्रह—

१. गुरुजनों के समक्ष दोषों की आलोचना करना ।
२. किसी के दोषों की आलोचना सुनकर किसी अन्य से न कहना ।
३. आपत्ति आने पर भी धर्म में दृढ़ रहना ।
४. आसक्तिरहित तप करना ।
५. सूत्राद्यं ग्रहण रूप ग्रहणशिक्षा एवं प्रतिलेखना आदि रूप प्रासेवना- आचार शिक्षा का अध्यास करना ।
६. शोभा शुभार नहीं करना ।
७. पूजा एवं प्रतिष्ठा का मोह छोड़कर गुप्ततप करना ।
८. लोभ का त्याग करना ।
९. तितिक्षा—परिषह-उपसर्ग आदि को सहन करना ।
१०. शुचि—संघर्ष एवं सत्य की पवित्रता रखना ।
११. आर्जव—सरलता ।
१२. सम्यक्त्वशुद्धि ।
१३. समाधि -प्रसन्नचित्तता ।
१४. आचार-पालन में माया नहीं करना ।

१५. विनय—अरिहन्तादि सम्बन्धी दश प्रकार का विनय करना ।

१६. धैर्य—अनुकूल प्रतिकूल परिषह आने पर धैर्य रखना ।

१७. संवेग—सांसारिक भौगों से भय अथवा मोक्षाभिलाषा होना ।

१८. मायाचार न करना ।

१९. सदनुष्ठान में निरत रहना ।

२०. संबर—पापाश्रव को रोकना ।

२१. दोषों की शुद्धि करना ।

२२. काम-भौगों से विरक्ति ।

२३. मूलगुणों का शुद्ध पालन ।

२४. उत्तरगुणों का शुद्ध पालन ।

२५. व्युत्सर्ग—शारीरिक भमता न करना ।

२६. प्रमाद न करना ।

२७. प्रतिक्षण संयम-यात्रा में सावधान रहना ।

२८. शुभध्यान—धर्म-शुक्लध्यान-परायण होना ।

२९. मारणात्मिक वेदना होने पर भी अधीर न होना ।

३०. संग का परित्याग करना ।

३१. कृत दोषों का प्रायशिच्छत करना ।

३२. मरणपर्यन्त ज्ञानादि की आराधना करना ।

दिवेष्टन—इन बत्तीस योगसंग्रहों का सम्यक् आराधन नहीं होने से जो कोई अतिचार किया गया हो तो मैं उससे निवृत्त होता हूँ ।

मन, वचन एवं काय के व्यापार को योग कहते हैं । योग के दो भेद हैं शुभ योग एवं अशुभ योग । शुभ योग में प्रवृत्ति और अशुभ योग से निवृत्ति ही संयम है । प्रस्तुत सूत्र में शुभ प्रवृत्ति रूप योग ही ग्राह्य है । उसी का संग्रह संयमी जीवन की पवित्रता को अक्षुण्ण बनाए रख सकता है ।

“युज्यन्ते इति योगाः मनोदाक्कायध्यापाराः, से खेह प्रशस्ता एव विवक्षिताः ।”

—आचार्य अभ्यदेव समवायांग टीका

तेतीस आशातना—

जैनाचार्यों ने आशातना शब्द की निरुक्ति बड़ी सुन्दर की है । सम्यग्दर्शन आदि आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति को ‘आय’ कहते हैं और शातना का अर्थ है खण्डन । देव, गुरु, शास्त्र आदि का अपमान करने से सम्यग्दर्शन आदि सद्गुणों की शातना—खण्डना होती है ।

‘आयः—सम्यग्दर्शनाद्यावाप्तिलक्षणस्तस्य शातना-खण्डनं निरक्तादाशातना ।’

—आचार्य अभ्यदेव समवायांग टीका

‘आसातणाणामं नाणादिआयस्त सातणा । यकारलोपं कृत्वा आशातना भवति ।’

—आचार्य जिनदास, आवश्यकचूर्ण

गुह्यदेव सम्बन्धी ३३ आशातनाओं का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। यहाँ अरिहन्तादि की तेतीस आशातनाओं का निरूपण मूल पाठ में ही किया गया है। उनका अर्थ इस प्रकार है—

अरिहन्ताण आसायणाएः—सूत्रोक्त तेतीस आशातनाओं में पहली आशातना अरिहन्तों की है। अनन्तकाल से अन्धकार में भटकते हुए जीवों को सत्य का प्रकाश मूलतः अरिहन्त भगवान् ही दिखलाते हैं। वे ही धर्म का उपदेश करते हैं तथा सन्मार्ग का निरूपण करते हैं। अतः परमोपकारी अरिहन्तों की आशातना नहीं करनी चाहिये।

यदि कोई कहे कि भारतवर्ष में तो अरिहन्त हैं ही नहीं, फिर उनकी आशातना कैसे हो सकती है? समाधान है कि—‘अरिहन्त की कोई सत्ता नहीं है। उन्होंने तो कठोर धर्म का उपदेश दिया है। वे बीतराग होते हुए भी स्वर्ण, सिंहासन आदि का उपयोग क्यों करते हैं?’ इत्यादि दुष्कृत्यादि करना अरिहन्तों की आशातना है।

सिद्धों की आशातना—‘सिद्ध कोई होता ही नहीं है। जब शरीर ही नहीं रहा तो फिर अनन्तसुख कैसे मिल सकता है’ आदि अवज्ञा करना सिद्धों की आशातना है।

आचार्य-उपाध्याय की आशातना—वह इस प्रकार है—‘ये बालक हैं, अकुलीन हैं, अल्पबुद्धि हैं, औरों को तो उपदेश देते पर स्वयं कुछ नहीं करते’ इत्यादि। इसी प्रकार उपाध्याय की आशातना समझनी चाहिये।

साधुओं की आशातना—‘कायर जन परिवार का पालन-पोषण न कर सकने के कारण गृह्यत्याग कर भीख मांगने का धंधा अद्वितीयार कर लेते हैं। गृहस्थों की कमाई पर गुलब्जरें उड़ाते हैं’ इत्यादि कह कर साधुओं की निवारण करना उनकी आशातना है।

साधिवयों की आशातना—स्त्री होने के कारण साधिवयों को नीचा बतलाना। उनको कलह और संघर्ष की जड़ कहना, इत्यादि रूप से अवहेलना करना साधिवयों की आशातना है।

आवक-थाविकाओं की आशातना—जैनधर्म श्रतीव उदार और विराट् धर्म है। यहाँ केवल अरिहन्त आदि महान् आत्माओं का ही गीरव नहीं है, अपितु साधारण गृहस्थ होते हुए भी जो स्त्री-पुरुष देशविरति धर्म का पालन करते हैं उन आवकों एवं थाविकाओं की अवज्ञा करना भी पाप है। प्रत्येक आचार्य, उपाध्याय और साधु को भी प्रतिदिन प्रातः और सार्यकाल प्रतिक्रमण के समय आवक एवं थाविकाओं के प्रति जात या अज्ञात रूप से की जाने वाली अवज्ञा के लिए पश्चात्ताप करना होता है। ‘मिच्छा मि दुक्कड़’ देना होता है। जैनागमों में आवक-थाविकाओं को ‘अममापियरो’ से उपमित किया गया है। जैनधर्म में गुणों को महत्व दिया है। वहाँ गुणों की पूजा होती है, न कि देषभेद या लिंग आदि के भेद से किसी को ऊंचा का नीचा समझा जाता है।

देवों-देवियों की आशातना—वह इस प्रकार है—देवता तो विषय-वासना में आसक्त, अप्रत्याख्यानी, अविरत हैं और शक्तिमान् होते हुए भी शासन की उन्नति नहीं करते हैं, इत्यादि। इसी प्रकार देवियों की आशातना समझना चाहिये।

इहलोक और परलोक की आशातना—इहलोक और परलोक का अभिप्राय इस प्रकार है—मनुष्य के लिए मनुष्य इहलोक है और नरक, तिर्यङ्गच एवं देव परलोक है। इहलोक और परलोक

की असत्य प्ररूपणा करता, पुनर्जन्म आदि न मानना, नरकादि चार गतियों के सिद्धान्त पर विश्वास न रखना। इत्यादि इहलोक और परलोक की आशातना है।

प्राण-भूत आदि की आशातना—प्राण-भूत आदि शब्दों को एकार्थक माना गया है। सबका अर्थ जीव है। आचार्य जिनदास कहते हैं—‘एगटुता व एते।’ परन्तु आचार्य जिनदास महत्तर और आचार्य हरिभद्र आदि ने उक्त शब्दों के कुछ विशेष अर्थ भी स्वीकार किए हैं। द्वीन्द्रिय आदि जीवों को प्राण और पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों को भूत कहा जाता है। समस्त संसारी प्राणियों के लिए जीव और संसारी तथा मुक्त सब अनन्तानन्त जीवों के लिए सत्त्व शब्द का व्यवहार होता है—

“प्राणिनः द्वीन्द्रियादयः । भूतानि पृथ्व्यादयः……।

जीवन्ति जीवा-आयुःकर्मानुभवयुक्ताः सर्वं एव …।

सत्त्वाः—सांसारिक-संसारात्मौत्तेवाः ।”

—आवश्यक-शिष्यहिता टीका

विश्व के समस्त अनन्तानन्त जीवों की आशातना का यह सूत्र बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जैनधर्म को करुणा का अनन्त प्रवाह केवल परिचित और स्नेही जीवों तक ही सीमित नहीं है। अपितु समस्त जीव-राशि से क्षमा मांगने का महान् आदर्श है। प्राणी निकट हो या दूर, स्थूल हो या सूक्ष्म, ज्ञात हो या अज्ञात, शत्रु हो या मित्र, किसी भी रूप में हो, उसकी आशातना एवं अवद्वेलना करता साधक के लिए सर्वथा निषिद्ध है।

केवलिप्ररूपित धर्म की आशातना—साधक केवली होने से पूर्व ही पूर्ण वीतराग हो जाते हैं। अतएव वीतराग एवं सर्वज्ञ होने के कारण उनके द्वारा प्ररूपित धर्म सर्वहितकारी एवं सत्य ही होता है। फिर भी उनके द्वारा प्ररूपित धर्म का अवर्णवाद करना केवलिप्ररूपितधर्म का अवर्णवाद है। इसी प्रकार देवों, मनुष्यों और असुरों सहित लोक की असत्य प्ररूपणा रूप आशातना से निवृत्त होता हूँ।

काल की आशातना—‘वर्तनालक्षण काल नहीं है’ इस प्रकार की अथवा ‘काल ही सब कुछ करता है, जीवों को पचाता है, उनका संहार करता है और संसार के सोये रहने पर भी जागता है, अतः काल दुर्निवार है,’ इस प्रकार काल को एकान्त कर्ता मानने रूप आशातना से निवृत्त होता हूँ।

भगवान् महावीर के मुख-चन्द्र से निस्सृत, गणधर के कणों में पहुँचे हुए, सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ के बोधक और भव्य जीवों को अजर-अमर करने वाले वचनामृत स्वरूप श्रुत की असत्य प्ररूपणा आदि आशातना से निवृत्त होता हूँ।

श्रुत-देवता की आशातना—श्रुतदेवता का अर्थ है—श्रुत-निमत्ति तोथंकर तथा गणधर। वे श्रुत के मूल अधिष्ठाता हैं, रचयिता हैं, अतः श्रुतदेवता हैं। उनकी तथा वाचनाचार्य (उपाध्याय के आदेशानुसार शिष्यों को पाठ रूप में श्रुत का उद्देशादि करते हैं, उन) की आशातना से निवृत्त होता हूँ।

१. कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः ।

कालः सुप्तेषु जागत्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥

व्यत्याग्रेडित—वच्चामेलियं का संस्कृत रूप 'व्यत्याग्रेडित' होता है। इसका अर्थ है—
अन्य चित्त से दो तीन बार बोलना। मुछ प्राप्तिर्वाणी ते व्यत्याग्रेडित का अर्थ भिन्न रूप से भी किया है। यथा भिन्न-भिन्न सूत्रों में तथा स्थानों पर आए हुए एक जैसे समानार्थक पदों को एक साथ मिलाकर बोलना व्यत्याग्रेडित है।

इन शब्दों का अर्थ पूर्व में ज्ञान सम्बन्धी अतिचारों में दिया जा चुका है।

'पडिकमामि एवविहे असंजमे' से लेकर 'तेतीसाए आसायणाहि' तक के सूत्र में एकविध असंयम का ही विराट् रूप बतलाया गया है। यह सब अतिचार-समूह मूलतः असंयम का ही विवरण है। 'पडिकमामि एगविहे असंजमे' यह असंयम का संक्षिप्त-प्रतिक्रमण है और यही प्रतिक्रमण आये है। 'दोहि बंधणोहि' आदि से लेकर 'तेतीसाए आसायणाहि' तक क्रमशः विराट् होता गया है।

यह लोकालोक प्रमाण अनन्त विराट् संसार है। इसमें अनन्त ही असंयम रूप हिसा, असत्य आदि हेयस्थान हैं, अनन्त संयम रूप अहिसा आदि उपादेयस्थान हैं तथा अनन्त पुद्गल आदि ज्ञेय-स्थान हैं। साधक को इन सबका प्रतिक्रमण करना होता है। इस प्रकार अनन्त संयम-स्थानों का स्थान है। साधक को इन सबका प्रतिक्रमण करना होता है। इस प्रकार अनन्त संयम-स्थानों का आचरण न किया हो और असंयम-स्थानों का आचरण किया हो तो उसका प्रतिक्रमण है। इस प्रकार आचरण न किया हो और असंयम-स्थानों का आचरण किया हो तो उसका प्रतिक्रमण है। संकल्प में रखने चाहिये, एक से लेकर तेतीस तक के बोल के समान ही अन्य अनन्त बोल भी अर्थात् संकल्प में रखने चाहिये, भले ही वे ज्ञात हों या अज्ञात हों। साधक को केवल ज्ञात का ही प्रतिक्रमण नहीं करना, अपितु अज्ञात का भी प्रतिक्रमण करना है। तभी तो आगे वे अन्तिम पाठ में कहा है "जं संभरामि, जं च न संभरामि"। अर्थात् जो दोष स्मृति में आ रहे हैं उनका प्रतिक्रमण करता हूँ और जो दोष इस समय स्मृति में नहीं आ रहे हैं, परन्तु हुए हैं, उन सबका भी प्रतिक्रमण करता हूँ।

प्रतिज्ञा-सूत्र

निर्गन्ध-प्रचरण का पाठ—

नमो चउबीसाए तिथ्यराणं उसभाइमहाबीरपञ्जवसाणाणं ।

इष्मेव निर्गन्धं पावयणं सच्चं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिषुण्णं, नेपाउयं, संसुद्धं, सत्त्वगत्तणं, सिद्धिमग्णं, मुत्तिमग्णं, निज्जाणमग्णं, निव्वाणमग्णं, अवित्तहमविसंधि, सञ्चदुक्खपहीणमग्णं ।

इत्यं छिआ जीवा सिजभंति, बुजभंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति सञ्चदुक्खाणमंतं करेति ।

तं धर्मं सहहामि पत्तियामि, रोएमि, फासेमि, घालेमि, अणुपालेमि ।

तं धर्मं सहहंतो, पत्तिअंतो, रोअंतो, फासंतो, पालंतो, अणुपालंतो ।

तस्य धर्मस्स केवलिपश्चत्तस्य अब्भुटिओमि आराहणाए विरओमि विराहणाए,

असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपञ्जामि ।

अर्खं भं परियाणामि, बं भं उवसंपञ्जामि ।

अकल्पं परियाणामि, कल्पं उवसंपञ्जामि ।

अज्ञाणं परियाणामि, नाणं उवसंपञ्जामि ।

अकिरियं परियाणामि, किरियं उवसंपञ्जामि ।

मिष्ठत्तं परियाणामि, सम्मतं उवसंपज्जामि ।

अबोहि परियाणामि, बोहि उवसंपज्जामि ।

अमग्नं परियाणामि, मग्नं उवसंपज्जामि ।

जं संभरामि, जं च न संभरामि ।

जं पडिवकमामि, जं च न पडिवकमामि ।

तस्स सच्चवस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिवकमामि । समणोऽहं संजय-विरय-पडिहृष्ट-पञ्चकखाय-
पायकम्ने, अनियाणो विद्विसंपद्धो माया-मोस-विवज्जित्तो ।

अङ्गाइज्जेसु बीव-समुद्रेसु पश्चरससु कम्मभूमीसु, जावंति केह साहू रथहरण-नुच्छ-पडिगाह-
धारा, पञ्चमहृष्टय-धारा अट्टारस्स-सहस्स-सीलंगधारा, अक्षयाकारचरित्ता, ते सर्वे सिरसा मणसा
मत्थएण बंदामि ॥

भावार्थ --भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थकर देवों को मैं
नमस्कार करता हूँ ।

यह तीर्थकरोपदिष्ट निर्ग्रन्थ-प्रबचन ही सत्य है, अनुत्तर-सर्वोत्तम है, केवलिक-केवलजानियों
द्वारा प्ररूपित है, (मोक्षप्रापक गुणों से) परिपूर्ण है, न्याय, युक्ति, तर्क से श्रबाधित है, पूर्ण रूप से
शुद्ध अर्थात् सर्वथा निष्कलंक है, माया आदि शाल्यों को नष्ट करने वाला है, सिद्धिमार्ग मिष्ठि की
प्राप्ति का उपाय है, कर्म-बन्धन से मुक्ति का साधन है, संसार से छुड़ाकर मोक्ष का मार्ग है, पूर्ण
शान्ति रूप निवाण का मार्ग है, मिथ्यात्व रहित है, विच्छेदरहित अर्थात् सनातन-नित्य है तथा
पूर्वापरविरोध से रहित है, सब दुःखों का पूर्णतया क्षय करने का मार्ग है ।

इस निर्ग्रन्थ प्रबचन में स्थित रहने वाले अर्थात् तदनुसार आचरण करने वाले भव्य जीव
सिद्ध होते हैं, बुद्ध-सर्वज्ञ होते हैं, मुक्त होते हैं, पूर्ण आत्मशान्ति को प्राप्त करते हैं, समस्त दुःखों का
सदाकाल के लिए अन्त करते हैं ।

मैं इस निर्ग्रन्थ प्रबचन रूप धर्म पर श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ,
स्पर्शना करता हूँ, पालना अर्थात् रक्षा करता हूँ । विशेष रूप से निरन्तर पालन करता हूँ ।

मैं प्रस्तुत जिन-धर्म की श्रद्धा करता हुआ, प्रतीति करता हुआ, रुचि करता हुआ, स्पर्शना-
आचरण करता हुआ, पालन करता हुआ, विशेष रूप से निरन्तर पालन करता हुआ—

उस केवलिप्ररूपित धर्म की आराधना के लिए उद्यत होता हूँ और विराधना से विरत-
निवृत्त होता हूँ ।

असंयम को ज्ञपरिज्ञा से जानता और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्यागता हूँ तथा संयम को
स्वीकार करता हूँ ।

अब्रह्मचर्य को जानता और त्यागता हूँ और अब्रह्मचर्य को स्वीकार करता हूँ ।

अकल्प (अकृत्य) को जानता और त्यागता हूँ, कृत्य को स्वीकार करता हूँ ।

अज्ञान को जानता और त्यागता हूँ, ज्ञान को स्वीकार करता हूँ ।

अक्रिया-नास्तिकवाद को जानता तथा त्यागता हैं, क्रिया-सम्यग्वाद को स्वीकार करता हैं।

मिथ्यात्व को जानता और त्यागता हैं, सम्यक्त्व-सदाग्रह को स्वीकार करता हैं।

अबोधि-मिथ्यात्व को जानता एवं त्यागता हैं, बोधि को स्वीकार करता हैं।

हिंसा आदि अमार्ग को (ज्ञापरिक्षा से) जानता और (प्रत्यक्षानुरिता से) त्यागता हैं। अहिंसा आदि मार्ग को स्वीकार करता हैं।

जिन दोषों को स्मरण कर रहा हैं, जो याद हैं और जो समृतिगत नहीं हैं, जिनका प्रतिक्रमण कर चुका है और जिनका प्रतिक्रमण नहीं कर पाया है, उन दिवस सम्बन्धी अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हैं।

मैं श्रमण हूँ, संयमी हूँ, विरत-सावद्य व्यापारों से एवं संसार से निवृत्त हूँ, पापकर्मों को प्रतिहत करने वाला हूँ, निदानशाल्य से रहित अर्थात् आसक्ति से रहित हूँ, दुष्टसम्पन्न—सम्यग्दर्शन से युक्त हूँ, माया सहित मृषावाद—असत्य का परिहार करने वाला हूँ।

दोईं द्वीप और दो समुद्र परिमित मानव-क्षेत्र में अर्थात् पंद्रह कर्मभूमियों में जो भी रजोहरण, गुच्छक एवं पात्र को धारण करने वाले तथा पात्र महान्नतों, अठारह हजार शीलांगों-सदाचार के अंगों को धारण करने वाले एवं निरतिचार आचार के पालन त्वामी साधु मुनिराज हैं, उन सबको शिर नमाकर, मन से, भस्तक से बन्दना करता हूँ।

विवेचन—जैनधर्म भूलतः पापों से बचने का आदर्श प्रस्तुत करता है। अतः वह कृत कर्मों के लिए पश्चात्ताप कर लेना ही पर्याप्त नहीं समझता, प्रत्युत भविष्य में पुनः पाप न होने पाएं, इस बात की भी सावधानी रखने का निर्देश करता है।

प्रतिज्ञा करने से पहले संयम-पथ के महान् यात्री आदिनाथ श्री ऋषभ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थकर देवों को नमस्कार किया है। युद्धवीर युद्धवीरों का तो अर्थवीर ग्रथवीरों का स्मरण करते हैं। यह धर्मयुद्ध है, अतः यहाँ धर्मवीरों का ही स्मरण किया गया है। यह अटल नियम रहा है कि जैसी साधना करनी हो उसी साधना के उपासकों एवं उसमें सिद्धि प्राप्त करने वालों का स्मरण किया जाता है। अतः जैनधर्म के चौबीस तीर्थकरों की समृति हमारी आत्म-शुद्धि को स्थिर करने वाली है। तीर्थकर हमारे लिए अन्धकार में प्रकाशस्तंभ हैं।

भगवान् ऋषभदेव—वर्तमान कालचक्र में जो चौबीस तीर्थकर हुए हैं, उनमें भगवान् ऋषभदेव सर्वप्रथम हैं। आपके द्वारा ही मानव-सभ्यता का आविभाव हुआ है। आपसे पहले मानव जंगलों में रहता, बन फल खाता एवं सामाजिक जीवन से शून्य घूमा करता था। न उसे धर्म का पता था और न कर्म का ही। आत्मा का स्वरूपदर्शन सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने ही कराया।

भगवान् ऋषभदेव इस अवसर्पणीकाल में जैनधर्म के आदि प्रवर्तक हैं। जो लोग जैन-धर्म को सर्वथा आधुनिक माने बैठे हैं, उन्हें इस और लक्ष्य देना चाहिये। भगवान् ऋषभदेव के गुणमान वेदों और पुराणों तक में गाए गए हैं। वे मानव-संस्कृति के आदि उद्भारक थे, अतः वे मानव-मात्र के पूज्य रहे हैं। प्राचीन वैदिक ऋषि उनके महान् उपकारों को नहीं भूले थे, उन्होंने खुले हृदय से भगवान् ऋषभदेव का स्तुति-गान किया है—

अनवर्णं कृषभं मन्त्रजिह्वं,
सूहस्पति वर्षया नद्यमक्ते । —ऋग् म. २ स. १९० म. १

अथत् मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुतियोग्य कृषभ को पूजा-साधक मन्त्रों द्वारा वर्धित करो ।

भगवान् महावीर—इस युग के प्रारम्भ में भगवान् कृषभदेव के द्वारा संस्थापित जैनधर्म की गरिमा को मध्यवर्ती वाईस तीर्थकरों ने तथा चरम तीर्थकर भगवान् महावीर ने संबद्ध ना प्रदान की । किन्तु उस समय उन्हें धार्मिक एवं सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में अनेकानेक विकट समस्याओं से जूझना पड़ा था । आज से छब्बीस सौ वर्ष से कुछ अधिक वर्ष पूर्व यद्यपि धर्म का दीप प्रज्वलित था, पर देश की दशा अत्यन्त शोचनीय थी । चारों ओर हिंसा का ताण्डवनृत्य हो रहा था तथा शोषण एवं अनाचार की अति से मानवता कराह रही थी । धर्म के नाम पर पशुओं के रक्त की नदियाँ बहती थीं, शूद्रों पर तथा नारी जाति पर भी भयानक अत्याचार होते थे । उस विकट वेला में जगदुद्धारक वीर प्रभु ने जन्म लिया और अपनी आत्मशक्ति से अहिंसा धर्म की दुन्दुभि बजाई थी । भगवान् महावीर का कृष्ण भारतवर्ष पर अनन्त है, असीम है, हम किसी भी प्रकार से उनका कृष्ण अदा नहीं कर सकते । वे पूर्ण निष्काम थे, बदले में चाहते भी कुछ नहीं थे । लेकिन उनके अनुयायी अथवा सेवक होने के नाते हमारा कर्तव्य है कि हम उनके बताए हुए सन्मार्ग पर चलें और अद्वा एवं भक्ति के साथ मस्तक झुकाकर उनके शीरणों में बन्दन करें ।

निर्गमंथं पावयणं ‘पावयण’ विशेष्य है और ‘निर्गमंथ’ विशेषण है । जैन साहित्य से ‘निर्गमंथ’ शब्द प्रसिद्ध है । निर्गमंथ का संस्कृत रूप ‘निर्गन्ध्य’ होता है । निर्गन्ध्य का अर्थ है—धन-धान्य आदि बाह्य ग्रंथ और मिथ्यात्व, अविरति तथा क्रोध, मान, माया आदि आनन्दतर ग्रंथ अथवा परिग्रह से रहित, पूर्ण त्यागी एवं संयमी साधु ।

निर्गन्ध्यों अरिहन्तों का प्रवचन, नैर्गन्ध्यप्रावचन है ।^१

मूल में जो निर्गमंथ शब्द है, वह निर्गन्ध्य का वाचक न होकर ‘नैर्गन्ध्य’ का वाचक है । ‘पावयण’ शब्द के दो संस्कृत रूपान्तर हैं—प्रवचन और प्रावचन । आचार्य जिनदास प्रवचन कहते हैं और हरिभद्र प्रावचन । शब्दभेद होते हुए भी अर्थ दोनों आचार्य एक ही कहते हैं । जिसमें जीवादि पदार्थों का तथा ज्ञानादि रत्नश्रय की साधना का यथार्थ रूप से निरूपण किया गया है, वह सामाजिक से लेकर बिन्दुसार पूर्व तक का आगम-साहित्य निर्गन्ध्य प्रवचन या नैर्गन्ध्य प्रावचन में गमित हो जाता है ।^२

‘प्रकषेण अभिविधिना उच्यन्ते जीवादयो यस्मिन् तत्प्रावचनम् ।’ — आचार्य हरिभद्र ।

श्री कृषभदेव स्वामी से लेकर श्री महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीसों तीर्थकर भगवन्तों को मेरा नमस्कार हो । इस प्रकार नमस्कार करके तीर्थकर प्रणीत प्रवचन की स्तुति करते हैं—यही निर्गन्ध्य अथवा रजत आदि द्रव्यरूप और मिथ्यात्व आदि भावरूप ग्रंथ से रहित—मुनि सम्बन्धी

१. ‘निर्गन्ध्यानामिदं नैर्गन्ध्यं प्रावचनमिति ।’

—आचार्य हरिभद्र

२. ‘पावयणं सामाइपादि विन्दुसारपञ्जनसाणं जत्थ नाण-दंसण-नरित्तसाहृणवावारा अणेगधा वर्णिकज्जन्ति ।’

—आचार्य जिनभद्र, आवश्यकसूचि

सामायिक आदि प्रत्याख्यान पर्यन्त द्वादशाङ्ग गणपिटक स्वरूप तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट प्रवचन सत्य है।

सच्चं—सत्य आत्मा का स्वभाव, अनुभूति का विषय और आचरण का आदर्श है। जैसे मिश्री की मधुरता का अनुभव, आस्वादन उसे मुँह में रखने से ही हो सकता है, उसी प्रकार सत्य का महत्व उसे आचरण में उतारने से ही मालूम होता है। सत्य का उपासक जीवन के हर क्षेत्र में हर समय सत्य को साथ रखता है। सत्य एक सार्वभौमि तिष्ठानत है। सत्य को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता है।

सत्य से नीति सुशोभित होती है। जीवन और व्यवहार में सत्य की भलक आने पर मनुष्य का जीवन अपने आप धर्ममय हो जाता है। धर्म और नीति ग्रन्थों में रावंत्र सत्य की महिमा का मुक्तकंठ से बखान किया गया है। सत्य सर्वोत्तम है, सर्वोत्कृष्ट है। सत्य के बिना धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती है।

‘नाइसी धर्मो यत्र न सत्यमस्ति’ अर्थात् वह धर्म, धर्म नहीं है जो सत्य से दूर है। सत्य साधना का सार, मनुष्य की तत्त्व-चितना का तार और मोक्ष मंजिल का द्वार है। संसार का सम्पूर्ण सार तत्त्व इसमें निहित है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में सत्य को भगवान् का रूप कहा गया है।

जीवन का आधार है, सत्य सुखों की खान।

प्रश्नव्याकरण देखिये, सत्य स्वयं भगवान् ॥

केवलियं—मूल में ‘केवलियं’ शब्द है, इसके संस्कृत रूपान्तर दो किए जा सकते हैं—केवल और केवलिक। केवल का अर्थ अद्वितीय है। सम्यग्दर्शनादि तत्त्व अद्वितीय हैं, सर्वथेष्ठ हैं।

केवलिक का अर्थ है—केवलज्ञानियों द्वारा प्रसूपित अर्थात् प्रतिपादित।

पठिष्ठणं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही जैनधर्म हैं। वह अपने आप में सब और से प्रतिपूर्ण है।

नेयात्यं—‘नेयात्यं’ का संस्कृत रूप नैयायिक होता है। आचार्य हरिभद्र नैयायिक का अर्थ करते हैं—जो नयनशील है, ले जाने वाला है, वह नैयायिक है। सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष में ले जाने वाले हैं, अतः वे नैयायिक कहलाते हैं। ‘नयनशीलं नैयायिकं मोक्ष-गमकमित्यर्थः।’

श्री भावविजयजी न्याय का अर्थ ‘मोक्ष’ करते हैं। क्योंकि निश्चित आय—लाभ ही न्याय है और ऐसा न्याय एक मात्र मोक्ष ही है तथा साधक के लिए मोक्ष से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है—

“निश्चित आयो लाभो न्यायो मुक्तिरित्यर्थः, स प्रयोजनमस्येति नैयायिकः।”

—उत्तराध्ययनवृत्ति, अध्य. ४, गा. ५

इसका एक अर्थ युक्ति-तर्क से युक्त-भ्राद्यित भी हो सकता है।

१. ‘केवलियं’ केवल अद्वितीयं एतदेवैकं हितं नान्यद् द्वितीयं प्रवचनमस्ति। केवलिणा वा पण्णत्त केवलियं।”

—आचार्य जिनदास कृत आवश्यकचूर्ण

सत्त्वकास्त्रण—आगम की भाषा में शल्य का अर्थ है—‘माया, निदान और प्रियात्मा’। बाहर के शल्य कुछ काल के लिए ही पीड़ा देते हैं, परन्तु ये अन्दर के शल्य तो बड़े ही भयंकर होते हैं। अनादि काल से अनन्त आत्माएँ इन शल्यों के कारण पीड़ित हो रही हैं। स्वर्ग में पहुँच कर भी इससे मुक्ति नहीं मिलती। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है—‘निःशल्यो व्रती’। व्रती के लिए सर्वप्रथम निःशल्य अर्थात् शल्य-रहित होना परम आवश्यक है।

निज्जाणमग्न—आचार्य हरिभद्र ने नियणि का अर्थ मोक्षपद किया है। जहाँ जाया जाता है वह यान होता है। निरूपम यान नियणि कहलाता है। मोक्ष ही ऐसा पद है जो सर्वश्रेष्ठ यान-स्थान है। अतः वह जैन आगम साहित्य में नियणि पदवाच्य भी है।

अविसन्धि अविसन्धि अर्थात् सन्धि से रहित। सन्धि बीच के अन्तर को कहते हैं। आब यह है कि जिनशासन अनादि काल से निरन्तर अव्यवच्छिन्न चला आ रहा है। भरतादि क्षेत्र में किसी कालविशेष में नहीं भी होता है, परन्तु महाविदेह क्षेत्र में तो सदा काल अव्यवच्छिन्न बना रहता है। काल की सीमाएँ जैनधर्म की प्रगति में बाधक नहीं बन सकती। जिनधर्म निबध्म अर्थात् आत्मा का धर्म है। अतः वह तीन काल और तीन लोक में कहीं न कहीं सदा सर्वदा मिलेगा ही।

सर्व-दुःखप्रहीणमग्न—धर्म का अन्तिम विशेषण सर्वदुःखप्रहीणमार्ग है। संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख से व्याकुल है, क्लेश से संतप्त है। वह अपने लिए सुख चाहता है, आनन्द चाहता है, परन्तु संसार का कोई भी सुख ऐसा नहीं है, जो दुःख से असंभिन्न हो। क्योंकि व्यक्ति अज्ञान और भोग के वशीभूत होकर बाह्य पदार्थों में सुख ढूँढ़ता है। लेकिन जो पदार्थ आज सुखद और प्रीतिकर प्रतीत होते हैं, कालान्तर में वे ही कष्टप्रद, क्लेशजनक एवं शोक-संताप-वृद्धि के कारण बन जाते हैं। जिस धन की प्राप्ति के लिए व्यक्ति छल, कष्ट और माया का सेवन करता है, जिसे प्राप्त करने के लिए दिन-रात एक करता है, वही धन प्राणों के नाश का कारण भी बन जाता है। कर, टेक्स आदि की चोरी के कारण कारागृह का मेहमान भी बनाता है। जो पुत्र बचपन में माता-पिता की ग्रांखों का तारा, दिल का टुकड़ा, हृदय का दुलारा होता है, वही बड़ा होने वर दुराचारी बन जाने के कारण हृदय का शूल, ग्रांखों का कोटा, कुल का कलंक बन जाता है। उसका नाम सुनने में भी कष्ट होता है। लज्जा से मस्तक झुक जाता है। अगर पदार्थ में सुख होता तो एक पदार्थ एक समय सुख का और दूसरे समय दुःख का कारण कैसे बन जाता? सच्चे अर्थ में वह सच्चा सुख नहीं, सुखाभास है। ‘संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा’ सच तो यह कि आत्मभिन्न बाह्य पदार्थों के संयोग के कारण ही जीव अनादि काल से दुःखों को भुगत रहा है। सच्चा सुख तो सम्यादर्शनादि रत्नत्रय रूप धर्म की साधना से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए आचार्य हरिभद्र लिखते हैं—सर्वदुःख-प्रहीणमार्ग—सर्वदुःख-प्रहीणो मोक्षस्तकारणमित्यर्थः।****

सिजभक्ति—जैनधर्म में आत्मा के अनन्त गुणों का पूर्ण विकास हो जाना ही सिद्धत्व माना गया है।

जब तक ज्ञान अनन्त न हो, दर्शन अनन्त न हो, चारित्र अनन्त न हो, वीर्य अनन्त न हो, अर्थात् प्रत्येक गुण अनन्त न हो, तब तक जैनधर्म मोक्ष होना स्वीकार नहीं करता है। ‘सिजभक्ति’ का अर्थ है—भगवन् के बताये हुए मार्ग में स्थित जीव सिद्ध होते हैं।

बुद्धभावि बुद्ध होते हैं। बुद्ध अर्थात् पूर्ण ज्ञानी। यहाँ शंका हो सकती है कि बुद्धत्व तो सिद्ध होने से पहले ही प्राप्त हो जाता है। आड्यात्मिक विकास के क्रमस्वरूप चौदह गुणस्थानों में, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि गुण तेरहवें गुणस्थान में ही प्राप्त हो जाते हैं और मोक्ष, चौदहवें गुणस्थान के बाद होता है। अतः 'सिद्धभावि' के बारे बुद्धभावि कहने का इया अभिप्राय है? समाधान—केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त हो जाता है। अतः विकासक्रम के अनुसार बुद्धत्व का स्थान पहला है और सिद्धत्व का दूसरा, परन्तु यहाँ सिद्धत्व के बाद जो बुद्धत्व कहा है उसका अभिप्राय यह है कि सिद्ध हो जाने के बाद भी बुद्धत्व बना रहता है, नष्ट नहीं होता है। कुछ दार्शनिक मुक्तात्माओं में ज्ञान का अभाव हो जाना कहते हैं, उनकी मान्यता का निषेध इस विशेषण से हो जाता है।

मुच्चर्चिति—'मुच्चर्चिति' पद का अर्थ है—कर्मों से मुक्त होना। जब तक एक भी कर्म-परमाणु आत्मा से सम्बन्धित रहता है तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र के दसवें अध्ययन के प्रथम सूत्र में लिखा है—“कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः” अर्थात् समस्त कर्मों के नष्ट होने पर मोक्ष होता है।

मोक्षप्राप्ति के लिए जिज्ञासु साधकों को ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अंतराय इन घातिक कर्मों को सर्वप्रथम नष्ट करने के लिए ज्ञानपूर्वक शुभ किया करनी चाहिये, क्योंकि आत्मा शुभ से ही शुद्ध की ओर अग्रसर होती है और एक समय ऐसा भी आता है कि कष्टसाध्य साधना के द्वारा आत्मा में बोध की किरण प्रस्फुटित हो जाती है। जो अघातिक कर्म वेदनीय, नाम, गोत्र एवं आयुकर्म जली हुई रस्सी के समान शेष रहते हैं, उनको पांच लघु अक्षर उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने स्वरूप समय में नष्ट करके ही आत्मा सिद्धि को प्राप्त हो जाती है।

आशय यह है कि आत्मा के साथ अनादि काल से जो कर्मों का सम्बन्ध है, उनका भेदन करके ही आत्मा स्वदशा में स्थिर हो सकती है।

महाश्रमण महावीर का कर्मवाद एवं आत्मवाद सिद्धान्त अत्यन्त गहन है। प्रत्येक साधक को साधना-पथ पर गतिशील होने से पूर्व सभी तत्त्वों के सम्बन्ध में सम्यक् प्रकारेण जानकारी कर लेनी चाहिये, जिससे साधक निभ्रन्ति होकर सहज ही साधना-रत हो सके तथा सिद्ध, बुद्ध हो सके। अर्थात् कर्ममुक्त होकर शाश्वत एवं अक्षय मोक्ष-सुख को प्राप्त कर सके।

मोक्ष एक है—आत्मा का कर्म रूप पाश से अलग होना मोक्ष है। यह मोक्ष यद्यपि ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों से तत्-तत् कर्मों के छूटने से आठ प्रकार का है, फिर भी मोक्षन-सामान्य की अपेक्षा यह एक है। इसमें भेद नहीं है। जीव की मुक्ति एक ही बार होती है। जो जीव एक बार मोक्ष प्राप्त कर लेता है वह फिर से संसार में जन्म के कारणों का अभाव होने से जन्म धारण नहीं करता, अतः जो स्थिति प्राप्त हो गई है वह सादि होकर भी अपर्यावसित है। उसकी पुनः प्राप्ति का अभाव है, अतः मोक्ष एक ही है।

परिनिव्यायंति—आत्मा स्वभाव से ऊर्ध्वगमी है। सम्यग्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के द्वारा आत्मा शुद्ध, बुद्ध, विशुद्ध, अमल, विमल, उज्ज्वल एवं उन्नत बनती है। ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है। इससे भिन्न जितने भी राग-द्वेष, कर्म-शरीर आदि भाव हैं, वे सब संयोगजन्य बाह्य भाव हैं।

‘अन्नो जीवो अन्नं सरीर’ अर्थात् आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है ।

—सूत्रकृतांग सूत्र (२-१-९)

शब्द, रूप, कामभोगादि जड़ पदार्थों से रहित आत्मा ही मोक्षगमी हो सकती है । जैनधर्म की यह दृढ़ मान्यता है कि हर एक आत्मा में महान् ज्योति जाज्वल्यमान है । आनन्द और अमर शान्ति का महासागर उसमें हिलोरें मार रहा है । प्रत्येक प्रसुप्त आत्मा का जब चैतन्य जाग उठता है तो वह आत्मा परमात्मा बीतराग एवं क्षुद्र से विराट् और लघु से महान् बन जाती है । अन्त में परिनिवरण को प्राप्त हो जाती है ।

निवरण की प्रशस्ति नहीं हो सकती । वह ऐसे अनिर्वचनीय, अनुपम, असाधारण परमानन्द का स्थान है कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

सब्बबुक्खाणमंतं करेति— श्रीमद् आचाराङ्गसूत्र में बतलाया है—हे गौतम ! मोक्ष के सुख का स्वरूप बतलाने के लिए कोई शब्द नहीं है । जैसे गूँगा आदमी गुड़ के स्वाद को जानता है, लेकिन उसका वर्णन नहीं कर सकता; इसी प्रकार जो मुक्तात्मा जीव, जिन्हें निरंजन पद प्राप्त हुआ है, वे मोक्षसुख का अनुभव तो करते हैं, मगर उसे प्रकट करने के लिए उनके पास भी कोई शब्द नहीं है । निरंजन पद की प्राप्ति के बाद सभी दुःखों का अन्त हो जाता है ।

बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा जिसकी सेवा में खड़े रहते हैं और हाथ जोड़े आङ्गा की प्रतीक्षा करते रहते हैं, उस छह खण्ड के अधिपति चक्रवर्ती का सुख उत्तम है या मोक्ष का सुख उत्तम है ? अगर चक्रवर्ती का सुख उत्तम होता तो स्वयं चक्रवर्ती भी अखण्ड षट्खण्ड के महान् साम्राज्य को ठोकर मार कर क्यों भिक्षुजीवन स्वीकार करते ? चक्रवर्ती स्वयं अपने सुख को मोक्ष-सुख की तुलना में तुच्छ, अति तुच्छ समझता है अर्थात् धर्माराधक साधक मोक्ष प्राप्त कर शारीरिक एवं मानसिक सब प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है । आचार्य जिनदास कहते हैं—“सब्बेसि लारीर-माणसाणं दुक्खाणं अन्तकरा भवन्ति, वोच्छिण्णसब्बदुक्खा भवन्ति ।” अर्थात् सिद्ध भगवान् समस्त शारीरिक और मानसिक दुःखों का अन्त करने वाले हैं, समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाते हैं ।

सद्गुणमि—मैं श्रद्धा करता हूँ । श्रद्धा जीवननिर्माण का मूल है । श्रद्धा के बिना कोई भी मनुष्य इस संसार-सागर से पार हो जाए, यह संभव नहीं । व्यक्ति कितना भी विद्वान् हो, ज्ञानवान् हो, पण्डित हो, दार्शनिक हो किन्तु अगर उसमें सम्यक्त्व नहीं है, उसकी आत्मा के प्रति श्रद्धा नहीं है तो विविध भाषाओं का ज्ञान तथा अनेक प्रकार की कलाओं का अभ्यास भी उसे संसार-सागर से पार नहीं कर सकता । अतः श्रद्धा ही जीवन के लिए अपूर्त है । किसी भी साध्य को प्राप्ति दुर्लभ नहीं है, किन्तु श्रद्धा अथवा विश्वास दुर्लभ है—

“**सद्गुणमुल्लहा ।**”

—उत्तरा. सू. अ. ३

श्रद्धा के बिना मनुष्य अपने आपको भी नहीं पहचान सकता । श्रद्धा के बिना ज्ञान भी पंगु के सदृश हो जाता है । मेधावी तथा महान् वही होता है जिसकी रग-रग में श्रद्धा बसी हुई हो । ध्येय के प्रति एकनिष्ठ रहकर साधना करने से सफलता मिलती है । ध्येयसिद्धि में एकनिष्ठता

ही वह भूमिका है कि जिस पर सफलता का अंकुर उत्पन्न होता है, पनपता है, बढ़ता है और फलप्रद होकर कृतकृत्य बना देता है। जिस व्यक्ति की अपने ध्येय में एकनिष्ठा नहीं, दृढ़ आस्था नहीं, अटूट विश्वास नहीं, उस हुलमुल साधक का कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता। चाहे विद्याभ्यास हो, कलासाधना हो, व्यापार हो, उद्योग हो ग्रथवा धार्मिक किया हो, सभी में एकनिष्ठ बनकर श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक पुरुषार्थ करने से ही सफलता प्राप्त हो सकती है। श्रद्धा के दो रूप होते हैं—ज्ञान सम्बन्धीय श्रद्धा एवं दृष्टिश्रद्धा। सम्यक् श्रद्धा विवेकपूर्ण होती है तथा अन्ध श्रद्धा अविवेकमय होती है। दोनों का उद्गमस्थान मानव का हृदय है। जैसे गौ के स्तनों से विवेकी मानव दूध प्राप्त कर लेता है और जोकि नामक जीव रक्त प्राप्त करता है। स्थान तो एक ही है। एक ही खान से हीरा और कोयला, एक ही पीढ़ी से फूल और शूल प्राप्त होते हैं। किसे क्या प्रहण करना है, यह सब अपनी दृष्टि पर निर्भर करता है।

सम्यक् श्रद्धा दो प्रकार की है—सुगुरु, सुदेव एवं सुधर्म पर श्रद्धा होना व्यवहार-समक्षित (श्रद्धा) है तथा जो साधक सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र—इन आत्मिक गुणों में निष्ठावान् होता है, जिसे आत्मा का असली स्वरूप अवगत हो गया है और आत्मा के अनन्त सामर्थ्य पर विश्वास है, वह साधक निश्चय सम्यक्त्व का अधिकारी कहलाता है। श्रद्धा मुक्ति-महल में प्रवेश करने का प्रथम सौपान है।

वास्तव में साधना का धरातल सम्यग्दर्शन ही है। इसके अभाव में किसी भी क्रिया के साथ धर्म यद्दृढ़ नहीं जुड़ सकता। साधक प्रस्तुत पाठ में प्रतिज्ञा करता है कि वीतराग के बताए धर्म पर मैं श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ अर्थात् धर्म में विश्वास करता हूँ, प्रीति करता हूँ एवं रुचि करता हूँ आदि।

फासेमि-पालेमि-अणुपालेमि—जैनदर्शन के बल श्रद्धा एवं प्रतीति को ही साध्य की सिद्धि में हेतुभूत नहीं मानता है। प्रथम सौपान पर चढ़कर वहीं जगे रहने से मुक्ति-महल में प्रवेश नहीं किया जा सकता। आगमकारों ने साधक को संकेत दिया है कि आत्म-सिद्धि के लिए सम्यक्-श्रद्धा के साथ आगे बढ़ना होगा, ऊपर चढ़ना होगा और यह प्रतिज्ञा भी करनी होगी कि मैं धर्म का स्पर्श करता हूँ, जीवन पर्यन्त प्रत्येक स्थिति में उसका पालन करता हूँ अर्थात् अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में भी स्वीकृत धर्मचार की रक्षा करता हूँ। पूर्व आप्त पुरुषों द्वारा आचरित धर्म का दृढ़तापूर्वक प्रतिपल पालन करता हूँ।

इस प्रतिज्ञा की भुमुक्षु साधक बार-बार पुनरावृत्ति करता रहता है। तभी वह अपने ध्येय में सफल हो सकता है। जैसे दर्जी खण्ड पट को अखण्ड रूप देने के लिए सुई के साथ धागा भी लेता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व (श्रद्धा) के साथ आचरण की भी अनिवार्यता है।

श्रद्धमुद्दिश्योमि—प्रस्तुत पाठ में साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं धर्म की श्रद्धा, प्रीति, प्रतीति, स्पर्शन, पालना तथा अनुपालना करता हुआ धर्म की आराधना में सम्यक् प्रकारेण अस्युत्थिन होता हूँ अर्थात् तैयार होता हूँ, धर्माधना के क्षेत्र में दृढ़ता के साथ खड़ा होता है।

ज्ञ-परिज्ञा एवं प्रत्याख्यान-परिज्ञा—आचाराङ्ग आदि आगम साहित्य में दो प्रकार की परिज्ञाओं का उल्लेख आता है—एक ज्ञ-परिज्ञा, दूसरी प्रत्याख्यान-परिज्ञा। ज्ञ-परिज्ञा का अर्थ है

हेय-उपादेय-ज्ञेय पदार्थ को स्वरूपतः जानना । प्रत्याख्यान-परिज्ञा का अर्थ है हेय का प्रत्याख्यान करना, छोड़ना । प्रत्याख्यान के भी दो प्रकार हैं—१. सुप्रत्याख्यान एवं २. दुष्प्रत्याख्यान ।

प्रत्याख्यान का स्वरूप तथा जिसका प्रत्याख्यान किया जाता है उन पदार्थों का स्वरूप जानकर प्रत्याख्यान करना सुप्रत्याख्यान है । इसके विपरीत प्रत्याख्यान अर्थात् स्वरूप जानेसमझे बिना किया जाने वाला प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है ।

असंयम, प्राणातिपात आदि, अब्रह्मचर्य-मंथुनवृत्ति, अकल्प-अकृत्य, अज्ञान-मिथ्याज्ञान, अक्रिया-असत्क्रिया, मिथ्यात्व आदि आत्मविरोधी प्रतिकूल आचरण को त्याग कर संयम, अह्मचर्य, कृत्य, सम्यग्ज्ञान आदि को स्वीकार करते हुए यह ज्ञानशक्ति है कि एहसे असंयम आदि का स्वरूप ज्ञात कर लिया जाय । जब तक यह पता नहीं चलेगा कि असंयम आदि क्या है, उनका स्वरूप क्या है, उनके होने से क्या हानि है तथा उन्हें त्यागने से साधक को क्या लाभ है, तब तक उन्हें त्यागा करें जाएंगा ? अतः प्रत्याख्यान-परिज्ञा से पहले ज्ञ-परिज्ञा अत्यन्त आवश्यक है । अज्ञानी साधक की कठोर से कठोर क्रियाएं एवं उग्र से उग्र बाह्य साधना भी संसार-परिग्रामण का ही कारण होती है ।

प्रस्तुत पाठ में 'असंज्ञमं परियाणामि, संज्ञम उवसंपज्ञामि' इत्यादि पाठ में जो 'परियाणामि' क्रिया है उसका अर्थ न केवल जानना है और न केवल छोड़ना, अपितु सम्मिलित अर्थ है 'जानकर छोड़ना ।'

आचार्य जिनदास भी कहते हैं—

"परियाणामित्ति ज्ञ-परिण्णया जाणामि, पञ्चदखाण-परिण्णया पञ्चक्षामि ।"

अकृप्य-कृप्य—कल्प का अर्थ है आचार । अतः चरण-करण रूप आचार-व्यवहार को आगम की भाषा में कल्प कहा जाता है । इसके विपरीत अकल्प होता है । साधक प्रतिज्ञा करता है कि मैं अकल्प-अकृत्य को जानता तथा त्यागता हूँ और कल्प-कृत्य को स्वीकार करता हूँ ।'

आचार्य जिनदास ने सामान्यतः कहे हुए एकविध असंयम के ही विशेष विवक्षा भेद से दो भेद किये हैं—'मूलगुण-असंयम और उत्तरगुण-असंयम ।' श्रीर किर अब्रह्म शब्द से मूलगुण-असंयम का तथा अकल्प शब्द से उत्तरगुण-असंयम का ग्रहण किया है ।^१ आचार्यश्री के कथनानुसार प्रतिज्ञा का रूप इस प्रकार होता है “मैं मूलगुण-असंयम का विवेकपूर्वक परित्याग करता हूँ और मूलगुण संयम को स्वीकार करता हूँ ।”

अन्नाण-नाण—अज्ञान का अर्थ यहाँ ज्ञानावरणकर्म के उदय से होने वाला ज्ञान का अभाव नहीं अपितु मिथ्याज्ञान समझना चाहिये । ज्ञान का अभाव अर्थ लिया जाए तो उसके त्यागने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । जो है ही नहीं, उसका त्याग कैसा !

१. “अकल्पोऽकृत्यमाख्यायते कलास्तु दृष्ट्यमिति ।” —आचार्य हरिभद्र

२. “रो य असंज्ञमो विसेततो दुविहो—मूलगुण-असंज्ञमो उत्तरगुण-असंज्ञमो य । अतो सामणेण भणिक्ण संवेगाद्यर्थं विसेततो चेत भणति अब्रंभ अब्रंभगहणेण मूलगुण भण्णनि ति एवं... अकृपगहणेण उत्तरगुणति ।” —आवश्यकचूणि

ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से ज्ञान प्राप्त होता है और मिथ्यात्व का उदय उसे मिथ्या बना देता है। यही मिथ्याज्ञान यहाँ अज्ञान कहा गया है। सम्यग्दर्शन-सहचर ज्ञान सम्यज्ञान कहलाता है। उसे यहाँ ज्ञान शब्द से कहा गया है।

अकिरिया-किरिया—अकिरिया अर्थात् नास्तिकवाद को जानता तथा त्यागता हूँ। आचार्य हरिभद्र अकिरिया को अज्ञान का ही विशेष भेद मानते हैं और किरिया को ज्ञान का भेद कहते हैं—“अकिरिया नास्तिकवादः किरिया सम्यग्वादः।” लोक-परलोक, धर्म-अधर्म आदि पर विश्वास न रखना नास्तिकवाद है। इसके विपरीत लोक-परलोक, धर्म-अधर्म आदि पर विश्वास रखना आस्तिकवाद है।

आचार्य जिनदास के अनुसार—“अप्पसत्था किरिया अकिरिया, इतरा किरिया इति।” अर्थात् अयोग्य किया को अकिरिया एवं प्रशस्त—योग्य किया को किरिया कहते हैं।

मिथ्यात्म-सम्मत—पाप के अठारह प्रकार हैं। उनमें अन्तिम अठारहवां पाप मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व ही एक ऐसा पाप है जो समस्त पापों का पोषक, रक्षक एवं वर्धक है। इसी का फल है कि जीव को अनादि काल से जन्म-मरणादि समस्त दुःखों को सहन करना पड़ा है। जब तक मिथ्यात्व है, तब तक सभी पाप सुरक्षित हैं।

मिथ्यात्व, संसार-चक्र में कंसाये रखने वाला है और सम्यक्त्व, मोक्ष का परम सुख प्रदान कर प्रात्मा को परमात्मा बनाने वाला है। मिथ्यात्व मारक है और सम्यक्त्व तारक है, रक्षक है। इस प्रकार साधक मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व का स्वरूप समझकर मिथ्यात्व का त्याग करता है और सम्यक्त्व को स्वीकार करता है।

अबोधि बोधि—“अबोधिः मिथ्यात्वकार्यं, बोधिस्तु सम्यक्त्वस्येति।”

— आचार्य हरिभद्र ।

अबोधि मिथ्यात्व का कार्य है और बोधि सम्यक्त्व का कार्य ।

असत्य का दुराग्रह रखना, संसार के कामभोगों में आसक्ति रखना, धर्म की निदा करना, बोतराग अरिहंत भगवान् का अवर्णवाद बोलना इत्यादि मिथ्यात्व के कार्य हैं। सत्य का आग्रह रखना, संसार के कामभोगों से उदासीन रहना, धर्म के प्रति दृढ़ आस्था रखना, प्राणिमात्र पर प्रेम एवं करुणा का भाव रखना इत्यादि सम्यक्त्व के कार्य हैं। अबोधि को जानकर अर्थात् समझकर त्यागना एवं बोधि को स्वीकार करना ।

अमार्ग-मार्ग—अमार्ग—हिंसा आदि अमार्ग—कुमार्ग को जानता तथा त्यागता हूँ और अहिंसा आदि मार्ग—सन्मार्ग-मोक्षमार्ग को स्वीकार करता हूँ। अथवा जिनमत से विरुद्ध पाश्चर्य निहित तथा कुतीर्थिक-सेवित अमार्ग को छोड़कर ज्ञानादि रत्नश्रय रूप मार्ग को स्वीकार करता हूँ।

जं संभरामि, जं च न संभरामि

जं पदिकमामि, जं च न पदिकमामि—मानव के मन की अनादिकालीन कामना यही रही है कि वह अपने कदम प्रगति की ओर बढ़ाये। चाहे विद्यार्थी हो अथवा व्यवसायी, चाहे कलाकार हो अथवा कोई अन्य साधक, वह चाहता यही है कि उसका निस्तर विकास होता रहे और कदम आगे से आगे बढ़ते रहें। किन्तु एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि मनुष्य

की वास्तविक प्रगति धन बढ़ा लेने में, प्रसिद्धि प्राप्त करने में, भौतिक ज्ञान प्राप्त करके विद्वान् कहलाते में अथवा नेता बन जाने में नहीं है, अपितु आत्मिक गुणों की वृद्धि करने में है। आत्मिक गुणों की वृद्धि के लिए अपनी भूलों का अथवा दोषों का अवलोकन करते रहना आवश्यक है। साधक जब तक छापस्थ है, घातिकमोदय से युक्त है, तब तक जीवन में दोषों का होना स्वाभाविक है। वह भूल या दोष जानकारों से ही सकता है अथवा अनजान में भी, अर्थात् असंयम अथवा दोष की स्मृति रहती है और कभी नहीं भी रहती है। साधक उन सबका प्रतिक्रमण करता है। इस प्रकार ज्ञानपूर्वक प्रतिक्रमण करने से साधक की प्रगति होती है।

'जं संभरामि' आदि से लेकर 'जं च न पडिक्कमामि' तक के सूत्रांश का सम्बन्ध 'तस्स सब्बस्स देवसिथस्स अइयारस्स पडिक्कमामि' से है। प्रस्तुत सूत्र का भाव यह है कि जिनका स्मरण करता हूँ अथवा जिनका स्मरण नहीं करता हूँ, जिनका प्रतिक्रमण करता हूँ, जिनका प्रतिक्रमण नहीं करता हूँ, उन सब देवसिक अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ।

शंका—जिनका प्रतिक्रमण करता हूँ फिर भी उनका प्रतिक्रमण करता हूँ—इसका अर्थ क्या है? प्रतिक्रमण का भी प्रतिक्रमण करना कुछ संगत प्रतीत नहीं होता?

आचार्य जिनदास ने उपर्युक्त शंका का सुन्दर समाधान किया है। वे 'पडिक्कमामि' का अर्थ 'परिहरामि' करते हैं—

‘संघयणादि-दीर्घल्याविना जं पडिक्कमामि-परिहरामि करणिञ्जं, जं च न पडिक्कमामि
अकरणिञ्जं ।’ —आवश्यकचूणि

अर्थात् शारीरिक दुर्बलता आदि किसी विशेष परिस्थितिवश यदि मैंने करने योग्य सत्कार्य छोड़ दिया हो—अर्थात् न किया हो, और न करने योग्य कार्य किया हो तो उस सब अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ।

समणोऽहं संजय-विरय पडिहय० “इस सूत्रांश का अर्थ है—“मैं श्रमण हूँ, संयम-विरत-प्रतिहत—प्रत्याख्यात पापकर्मी हूँ, अनिदान हूँ, दृष्टिसम्पन्न हूँ और मायामृषाविवर्जित हूँ।”

‘श्रमण’ शब्द ‘श्रम’ धातु से बना है। इसका अर्थ है श्रम करना। आचार्य हरिमद्र दशायंकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की तीसरी गाथा का मर्मोद्घाटन करते हुए श्रमण का अर्थ तपस्वी करते हैं। जो अपने ही श्रम से तपः-साधना से मुक्ति-लाभ करते हैं, वे श्रमण कहलाते हैं।

संयत का अर्थ है—‘संयम में सम्यक् यतन करने वाला।’ अहिंसा, सत्य आदि कर्तव्यों में साधक को सदैव सम्यक् प्रयत्न करते रहना चाहिये। ‘संजतो—सम्मं जतो, करणीयेषु जोगेषु सम्यक् प्रयत्नपर इत्यर्थः।’ —आवश्यकचूणि

विरत का अर्थ है—सब प्रकार के सावद्य योगों से विरति—निवृत्ति करने वाला, अर्थात् पहले किये हुए पापों की निन्दा और भविष्य काल के लिए संवर करके सकल पापों से रहित होना।

प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मी अर्थात् भूतकाल में किए गए पापकर्मों की निन्दा एवं गहरी के द्वारा प्रतिहत (विनष्ट) करने वाला और वर्तमान तथा भविष्य में होने वाले पापकर्मों को नहीं करने

का प्रतिज्ञा रूप प्रत्याल्पयन के द्वारा परित्याग करने वाला। यह विशेष साधक की त्रैकालिक जीवन-शुद्धि का प्रतीक है। साधना का अर्थ है—पाप कर्मों पर त्रिकाल विजयी होना। कहा भी है—‘पडिहृतं—अतीतणिदणं—गरहणावीहि, पच्चक्खात् सेसं अकरणतया। पावकम्मं पावाचारं येण संतथा।’

— आचार्य जिनदास।

अनिदान — निदान का अर्थ है—निश्चय रूप से यथेष्ट प्राप्ति की आकांक्षा। अनिदान का अर्थ है अनासत्त भाव से किया जाने वाला तप आदि अनुष्ठान। जैसे किसी व्यापारी ने लाख रुपये का सामान खरीदना चाहा, यदि उसके पास में लाख रुपये से अधिक या लाख रुपये हैं तब तो वह मनचाहा लाख रुपये का भाल खरीद सकेगा। किन्तु उसके पास लाख से कम हैं तो वह लाख रुपये का भाल नहीं खरीद सकेगा। इसी प्रकार यदि साधक के पास पुण्य कर्म का आधिक्य है तो निदान करने पर उसे यथेष्ट ऋद्धि प्राप्त हो सकती है अन्यथा नहीं। लेकिन वह ऋद्धि निदान करने से उसी जन्म में परिसमाप्त हो जाती है। निदान के परिणामस्वरूप आगे अधोगति में उस आत्मा को उत्पन्न होना पड़ता है। आगमकारों के कथानुसार वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों को निदान से ही त्रिखण्ड के साम्राज्य आदि की ऋद्धि उपलब्ध होती है। तत्पश्चात् उनका अधोगमन ही होता है। इसीलिए लोकोत्तर आप्त पुरुषों का साधकों के लिए निर्देश है कि वह निदान रहित तप करे और यह प्रतिज्ञा करे कि मुझे संसार के लुभावने भोगों में कोई आसक्ति नहीं है, मेरी साधना केवल आत्मशुद्धि के लिए है, मेरा छ्येय बंधन नहीं, मुक्ति है। ऐसे दृढ़ संकल्प को लेकर साधक अपनी साधना के द्वारा साध्य की उपलब्धि कर सकता है।

दृष्टिसम्पन्न—दृष्टिसंपन्न का अर्थ है—सम्यग्दर्शन रूप विशुद्ध दृष्टि से सम्पन्न। भोक्षाभिलाषी साधक के लिए शुद्ध दृष्टि का होना अनिवार्य है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के अभाव में साधक को हिताहित का सच्चा विवेक नहीं हो सकता तथा ब्रमधिमं, आत्मा-अनात्मा का भेद-विज्ञान भी नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि साधक ही दस प्रकार के मिथ्यावादों से बच सकता है। सत्य और तथ्य का अन्वेषण शुद्ध दृष्टिसम्पन्न साधक ही कर सकता है। सम्यग्दर्शन वस्तुतः सब गुणों का भूल है ‘दिदिसम्पन्नो’—अथर्त् ‘सब्बगुण—मूलभूतगुणयुक्तत्वम्।’ — आचार्य जिनदास।

सम्यग्दृष्टि आत्मा संसार में रहकर भी सब कुछ यथावत् देख सकता है, मिथ्यादृष्टि नहीं। जैसे निर्मल काँच की पेटी में बन्द होते हुए भी व्यक्ति बाहर के दृश्यमान पदार्थों को देख सकता है, किन्तु लोहे की पेटी में बन्द व्यक्ति नहीं देख सकता। कोई तंराक, तंरने की कला जिसको याद हो, गहरे पानी में तल तक पहुंच कर टनों पानी उसके सिर पर होने पर भी ढूब नहीं सकता, किन्तु जो तंरने की कला से अनभिज्ञ है, थोड़े-से पानी में ढूब सकता है। जैनदर्शन में साधना अविरतसम्यग्दृष्टि नामक नौये गुणस्थान से ही प्रारंभ होती है।

माया-मूषादिवर्जित—माया-मूषा से रहित। माया-मूषा अठारह महापापों में सत्तरहवां महापाप है। तीन शल्य में प्रथम शल्य है। जैसे पैर में शूल गहरा उत्तर जाता है और दिखाई तो नहीं देता, किन्तु पथिक के कदम शूल की चुभन के कारण पथ पर बढ़ नहीं सकते, इसी प्रकार मायावी अथर्त् अपने दोषों को छिपाने वाले साधक का एक कदम भी अपनी साध्य की सिद्धि के लिए साधना एवं पर नहीं बढ़ सकता है। अंधेरे में जैसे सांप और रस्सी को नहीं पहचाना जा

सकता है, इसी प्रकार माया से भूढ़ बना व्यक्ति अधर्म और धर्म की पहचान भी नहीं कर सकता। अतः साधक को चाहिये कि वह अपने पूर्वकृत पापों की वर्तमान में आलोचना और प्रायशिच्छा के द्वारा शुद्धि कर ले। स्वस्थ शरीर में यदि फोड़ा हो जाय तो नश्तर के द्वारा डाक्टर आपरेशन करके उसका मवाद निकाल सकता है। बिना आपरेशन के यदि मलहम पट्टी कर दी जाएगी तो मवाद पूरे शरीर में भी फैल सकता है।

अङ्गाहजेसु दीवसमुद्देसु.....—प्रस्तुत पाठ के अन्त में अङ्गाई द्वीप, पन्द्रह कर्मभूमियों में विद्यमान समस्त साधुओं को मस्तक नमाकर नमस्कार किया गया है। अभिप्राय यह है—

जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और अर्ध पुष्करद्वीप तथा अपहरण की अपेक्षा से लबण एवं कालोदधि समुद्र और उनमें भी पन्द्रह क्षेत्र—कर्मभूमियों ही अमण्डधर्म की साधना का क्षेत्र हैं। आगे के क्षेत्रों में न मानव हैं और न श्रमणधर्म की साधना है। अतः अङ्गाई द्वीप के मानवक्षेत्र में जो भी साषु, साध्वी रजोहरण, पूजनी और प्रतिग्रह अर्थात् पात्र को धारण करने वाले, पांच महाब्रतों के पालक और आठारह हजार शीलाङ्गुरथ के धारक तथा अक्षत आत्मारवात्—आधाकर्म आदि ४२ दोषों को टालकर आहार लेने वाले, ४७ दोष टालकर आहार भोगने वाले, अखण्ड आचार को पालने वाले ऐसे स्थविरकल्पी, जिनकल्पी मुनिराजों को शिर से, मन से और मस्तक से बन्दना करता हैं।

शिरसा, मनसा, मस्तकेन—प्रस्तुत सूत्र में 'सिरसा, मणसा मत्थएण बन्दामि' पाठ आता है। इसका अर्थ है—शिर से, मन से और मस्तक से बन्दना करता है। प्रश्न हो सकता है कि शिर और मस्तक तो एक ही हैं, फिर इनका पृथक् उल्लेख क्यों किया गया? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—शिर, समस्त शरीर में मुख्य है। अतः शिर से बन्दना करना अर्थात् शरीर से बन्दन करना। मन अन्तःकरण है, अतः यह मानसिक बन्दना का द्योतक है।

'मत्थएण बन्दामि' का अर्थ है—मस्तक भुकाकर बन्दना करता है। यह वाचिक बन्दना का रूप है, अतएव मानसिक, वाचिक और कायिक त्रिविधि बन्दना का स्वरूप-निर्देश होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है।

जैनधर्म के अनुसार अहंकार तीचगोत्र-कर्म के बन्ध का कारण है तथा नम्रता से उच्चगोत्र का बंध होता है। अतः जो साधक नम्र हैं, वृद्धों का आदर करते हैं, सद्गुणी के प्रति पूज्य भाव रखते हैं, वे ही उच्च हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। जैनधर्म गुणों का पुजारी है। जैनधर्म में विनय एवं नम्रता को तप कहा है। कहा है—

'विणश्रो जिनशासणमूलं,' 'विणयमूलो धम्मो।'

विनय जिनशासन का मूल है, विनय धर्म का मूल है।

दशवैकालिक सूत्र में भी विनय का गुणगान किया गया है। विनयाध्ययन में वृक्ष का रूपक देते हुए कहा है—

मूलाश्रो खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाश्रो पछासमुद्देति साहा।

साह-प्पसाहा विवर्हति पत्ता, तश्रो से पुण्यं च फलं रसो य ॥

एवं धर्मस्त्र विणश्चो, मूलं परमो से मोक्षो ।

जेण कित्ती सुर्यं स्तिर्यं, निस्तेसं चाभिगच्छइ ॥

—दश. ११२।१-२

अर्थात्—जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएँ और फिर क्रम से पत्र, पुष्प, फल एवं रस उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार धर्मवृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल एवं रस मोक्ष है।

विणश्चो सासणे मूलं, विणीश्चो संजश्चो भवे ।

विणयाऽ विष्वमुक्तकस्स, कश्चो धर्मो कश्चो तत्त्वो ॥

—आवश्यकचूणि

जिनशासन का मूल विनय है। विनीत साधक ही सच्चा संयमी हो सकता है। जो विनय से हीन है, उसका कैसा धर्म और कैसा तप !

शिष्य का अहंकार व उद्दण्डता एवं अनुशासनहीनता गुह के मन को खिल कर देती है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—

रमणे पंडिते सासं, हृष्यं भद्रं व वाहए ।

बालं सम्मद्द सासंतो, गतियस्तं व वाहए ॥

अर्थात्—जैसे उत्तम घोड़े का शिक्षक प्रसन्न होता है, वैसे ही विनीत शिष्यों को ज्ञान देने में गुह प्रसन्न होते हैं। किन्तु दुष्ट घोड़े का शिक्षक और अविनीत शिष्य के गुह खेदखिल होते हैं।

नम्रता मानव-जीवन का सुन्दर आभूषण है। इससे मनुष्य के गुण सीरभपूर्ण हो जाते हैं। विनम्रता जीवन का महान् गुण है। प्रस्तुत सूत्र में अखण्ड आचार—चारित्र को पालने वाले मुनिराजों को साधक शिर से, मन से और मस्तक से बन्दन करता है, अथवा 'बन्दन करता हूँ' ऐसी प्रतिज्ञा करता है।

अठारह हजार शीलाङ्ग—शास्त्रकारों ने अठारह हजार शील-अंगों की व्याख्या इस प्रकार की है—

जोगे करणे सण्णा, इंविय भोम्भाइ समणधर्मे थ ।

अण्णोण्णेहि अब्भस्था, अद्वारह सीलसहस्राइ ॥

अर्थात्—तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाएँ, पांच इन्द्रियाँ, दस प्रकार के पृथ्वीकाय आदि जीव और दस श्रमणधर्म—इन सबका परस्पर गुणाकार करने से शील के १८ हजार भेद होते हैं।

'शील' का अर्थ है 'आचार'। भेदानुभेद की दृष्टि से आचार के अठारह हजार प्रकार होते हैं। दसविध श्रमणधर्म—क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग एवं ब्रह्मचर्य। दशविध श्रमणधर्म के धारक मुनि, पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावरों एवं द्वीन्द्रिय आदि चार त्रसों और एक अजीव—इस प्रकार दश का आरम्भ नहीं करते हैं।

अठारह हजार शीलाङ्ग रथ इस प्रकार हैं—१. पृथ्वीकाय आरंभ, २. अप्काय आरम्भ, ३. तेजस्काय आरंभ, ४. वायुकाय आरंभ, ५. बनस्पतिकाय आरंभ, ६. द्वीन्द्रिय आरंभ, ७. श्रीन्द्रिय आरंभ, ८. चतुरन्द्रिय आरंभ, ९. पञ्चेन्द्रिय आरंभ, १०. अजीव आरंभ। ये दस भेद क्षान्ति के हुए, इसी प्रकार मुक्ति, आर्जव, यावत् ब्रह्मचर्य के ये सब श्रोत्रेन्द्रिय के साथ १०० भेद हुए, इसी प्रकार

चक्षुरिन्द्रिय के १००, ब्राणेन्द्रिय के १००, रसनेन्द्रिय के १००, स्पर्शेन्द्रिय के १००, ये सब आहार-संज्ञा के ५०० भेद हुए, इसी प्रकार भयसंज्ञा के ५००, मैथुनसंज्ञा के ५००, परिश्रहसंज्ञा के ५००, ये सब २००० भेद हुए, इन्हें न करने, न कराने और न अनुभोदन करने के द्वारा तिगुणा करने पर ६००० भेद हुए, फिर इन्हें मन वचन और काया से तिगुणा करने पर १८००० भेद शीलाज्ञरथ के होते हैं।

बड़ी संलेखना का पाठ

अहं भंते ! अपच्छिममारणंतियं संलेहणा भूसणा आराहणा पौष्टिकशाला, पूंजि, पूंज के उच्चार-पासवणभूमिका पड़िलेहे, पड़िलेह के, गमणागमणे, पड़िककमे, पड़िककम के, दर्भादिक संथारा संथारे, संथार के दर्भादिक संथारा दुरुहे, दुरुह के पूर्व तथा उत्तर दिशा समुख पल्यांकादिक आसन से बैठे, बैठ के 'करयलसंपरिग्यहियं सिरसावतं मैथए अंजलि कट्टु' एवं वयासी 'नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं' ऐसे अनन्त सिद्ध भगवान् को नमस्कार करके, 'नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपादितकामाणं' जयवन्ते दर्तमान काले महाविवेह क्षेत्र में विचरते हुए तोथंकर भगवान् को नमस्कार करके अपने धर्मचार्यजी महाराज को नमस्कार करता हैं। साधु साध्वी प्रमुख धारों तीर्थ को खमाकर, सर्व जीवराशि को खमाकर, पहले जो वत आदरे हैं उनमें जो अतिचार दोष लगे हों, वे सर्व शाश्वतोच के, लतिकम के, निन्द्र के निःशाल्य इकर के, सर्व पाणाइवायं पञ्चवद्धामि, सर्वं मुसावायं पञ्चवद्धामि, सर्वं प्रादिष्णावायं पञ्चवद्धामि, सर्वं मेष्टणं पञ्चवद्धामि, सर्वं परिग्रहं पञ्चवद्धामि, सर्वं कोहं भाणं जाव मिच्छादंसणसल्लं पञ्चवद्धामि, सर्वं अकरणिज्जं जोगं पञ्चवद्धामि जावज्जीवाए तिविहुं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, करतंषि अन्तं न समणुजाणामि मणसा, वयसा, कश्यसा ऐसे अठारह पापस्थानक पञ्चवद्ध कर, सर्वं असणं पाणं, खाइयं, साइयं, चउष्विहुंपि आहारं पञ्चवद्धामि जावज्जीवाए ऐसे धारों आहार पञ्चवद्ध कर जं पि य इमं शरीरं इट्ठं, कंतं, पिंयं, मणुर्णं, मणामं, घिड्यं, विसासियं सम्मयं, आणुमयं, बहुमयं भण्डकरण्डसमाणं रयणकरण्डभूयं, मा णं सीयं, मा णं उण्हं, मा णं खूहा, मा णं पिवासा, मा णं बाला, मा णं चोरा, मा णं दंसभसगा, मा णं बाइयं पिस्तियं, कण्फियं, संभीयं, सणिणवाइयं दिविहा रोगायंका परिसहर उवसगा फासा फुसन्तु, एवं पि य णं चरमेहि उस्सासणिस्सासेहि बोसिरामि ति कट्टु ऐसे शरीर को बोसिरा कर कालं आणवकंखमाणे चिहरामि, ऐसी भेदी सहृणा, प्रहृपणा तो है, फरसवा कर्त्त तब शुद्ध होऊं, ऐसे अपच्छिम मारणंतियं संलेहणा, झूसणा, आराहणा ए पंच अद्यारा जाणियव्या न समायरियव्या, तं जहा ते आलोऊं इहलोगा-संसप्पद्गोगे, परसोगासंसप्पद्गोगे, जीवियासंसप्पद्गोगे, मरणासंसप्पद्गोगे, कामभोगासंसप्पद्गोगे, तस्स मिळाला मि दुरकडं ।

भावार्थ—मृत्यु का समय निकट आने पर संलेखना तप का प्रीति पूर्वक सेवन करने के लिए सर्वप्रथम पौष्टिकशाला का प्रमार्जन करे। मल-भूत त्यागने की भूमि का प्रतिलेखन करे। चलने-फिरने की किंवा का प्रतिक्रमण कर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके पल्यक (पालथी) आदि आसन लगाकर दर्भादिक के आसन पर बैठे और हाथ जोड़ कर शिर से आवर्तन करता हुआ

मस्तक पर हाथ जोड़कर “नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं” इस प्रकार बोलकर सिद्ध भगवान् को नमस्कार करे। तत्पश्चात् “नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपादितामाणं” ऐसा बोलकर वर्तमान काल में महाविदेह ध्येय में जो तीर्थकर विचर रहे हैं, उनको नमस्कार करे। फिर अपने धर्मचार्य जी महाराज को नमस्कार करे। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका इस प्रकार चतुर्विधि संघ से कमायाचना करे, पुनः समस्त जीवों से क्षमा मांगे। पहले धारण किये हुए ज्ञातों में जो अतिचार लगे हों उनकी आलोचना और निन्दा करे। सम्पूर्ण द्विसा, भृठ, चोरी, अबहृचर्य (मैथुन) और परिग्रह—इन पांच पापों का तथा क्रोध, मान, माया, लोभ यावत् मिथ्यादर्शन शत्य आदि अठारह पापस्थानों का तथा सम्पूर्ण पापजन्य योग का तीन करण और तीन योग से त्याग करे। जीवनपर्यन्त चारों प्रकार के आहार का त्याग करे। इसके पश्चात् जो अपना शरीर मनोज्ञ है, उस पर से ममत्व हटावे और संलेखना संबंधी पापों अतिचारों को दूर करके शुद्ध अनशन करे। इस प्रकार श्रद्धा और प्ररूपणा की शुद्धि के लिये नित्य पाठ करे और अन्तिम समय में स्पर्शना हारा शुद्ध हो।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ इस प्रकार है—इट्ठ, इच्छानुकूल। कंतं—कमनीय। पिण्ड—प्रिय, प्यारा। मणुष्ण—मनोज्ञ, मनोहर। मणामं—अत्यन्त मनोहर। धिज्जं—धारण करने योग्य, धैर्यशाली। विसासियं—विश्वास करने योग्य। संभयं—सन्मान को प्राप्त। अणुमयं—विशेष सम्मान को प्राप्त, अहुमयं बहुत सन्मान को प्राप्त। अण्डकरण्डगसमाणं—आभूषणों के करण्डक (डिब्बे) के समान। रयणकरण्डगभूयं—रत्नों के करण्डक के समान। मा णं सीयं—शीत (सर्दी) न हो। मा णं उण्हं—उष्णता (गर्मी) न हो। मा णं खुहा—भूख न लगे। मा णं पिवासा—प्यास न लगे। मा णं बाला—सर्प न काटे। मा णं चोरा—चोरों का भय न हो। मा णं बंसमसगा—डांस और मच्छर न सतावें। मा णं बाहियं—व्याक्तियों न हों। पित्तियं—पित्त। कफियं—कफ। संभीमं—भयंकर। सम्बिकाइयं—सम्भिपात। विद्विहा—अनेक प्रकार के। रोगायंका—रोग और आतंक। परिसहा—क्षुधा आदि का कष्ट। उवसगा—उपसर्ग (देव, तिर्थ आदि हारा दिया गया कष्ट)।) फासा फुसन्तु—सम्बन्ध करें। चरमेहि—अन्त के। उसासनिस्सासेहि—उच्छ्रवास-निःश्वासों (श्वासोच्छ्रवासों) से। वोसिरामि—त्याग करता हूँ। ति कट्टु ऐसा करके। कार्ल अणवक्षमाणे—काल की आकौशा (वांछा) नहीं करता हुआ। विहरामि—विहार करता हूँ, विचरण करता हूँ। इहलोगासंसप्तश्रोगे—इस लोक के चक्रवर्ती आदि के सुखों की इच्छा करना। परलोगासंसप्तश्रोगे परलोक सम्बन्धी इन्द्र के सुखों की इच्छा करना। जीवियासंसप्तश्रोगे—जीवित रहने की इच्छा करना। मरणासंसप्तश्रोगे महिमा, पूजा न देखकर अथवा विशेष दुःख होने से मरने की इच्छा करना। कामभोगासंसप्तश्रोगे—कामभोगों की इच्छा करना। मा—मत। मज्ज—मेरे। हुज्ज हो। मरणते वि—मृत्यु हो जाने पर भी। सङ्गायरुषणमिम—श्रद्धा प्ररूपण में। अग्रहाभावो—विपरीत भाव।

पांचों घटों की विवरण

पहले पद श्री अरिहन्त भगवान् जघन्य बीस तीर्थकरजी, उत्कृष्ट एक सौ साठ तथा एक सौ सत्तर देवाधिदेवजी, उनमें वर्तमान काल में बीस विहरमान जी महाविदेह ध्येय में विचरते हैं। एक हजार आठ लक्षण के धरणहार, चौंतीस अतिशय, पैंतीस वाणी गुणों करके विराजमान, चौसठ इन्द्रों के

वन्दनीय, अठारह दोष रहित, बारह गुण सहित, अनन्त ज्ञान, अनन्त चारित्र, अनन्त बलबीर्य, अनन्त सुख, दिव्यध्वनि, भास्मण्डल, स्फटिक सिंहासन, अशोक वृक्ष, कुसुमवृष्टि, देवदुन्दुभि, छत्र धरावे, चंचर विजावे, पुरुषाकार पराक्रम के धरणहार, अङ्गाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र में विचरे, जघन्य दो करोड़ के वली और उत्कृष्ट नव करोड़ के वली, केवलज्ञान केवलदर्शन के धरणहार, सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के जाननहार—

ऐसे श्री अरिहंत भगवन्त महाराज आपकी दिवस एवं रात्रि संबंधी अविनय आशातना की हो तो हे अरिहंत भगवन् ! मेरा अपराध बारम्बार क्षमा करिये । हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार नमस्कार करता हूँ ।

(यहाँ तिक्खुत्तों का पाठ बोलना)

आप मंगलिक हो, उत्तम हो, हे स्वामिन् ! हे नाथ ! आपका इस भव, परभव एवं भव-भव में सदाकाल शरण हो ।

दूसरे पद श्री सिद्ध भगवान् पन्द्रह भेदे अनन्त सिद्ध हुए हैं - तीर्थसिद्धा, अतीर्थसिद्धा, तीर्थकरसिद्धा, स्वयंबुद्धसिद्धा, प्रत्येकबुद्धसिद्धा, बुद्धबोधितसिद्धा, स्त्रीलिंगसिद्धा, पुरुषलिंगसिद्धा, नपुंसकलिंगसिद्धा, स्वलिंगसिद्धा, अन्यलिंगसिद्धा, गृहस्थलिंगसिद्धा, एकसिद्धा, अनेकसिद्धा । जहाँ जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, भय नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं, दारिद्र्य नहीं, कर्म नहीं, काया नहीं, मोह नहीं, माया नहीं, चाकर नहीं, ठाकर नहीं, भूख नहीं, तृष्णा नहीं, ज्योत में ज्योत विराजमान, सकल कार्य सिद्ध करके चबदे प्रकारे पन्द्रह भेदे अनन्तसिद्ध भगवान् हुए हैं । अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, क्षायिक सम्प्रवत्त, अनन्तसुख, अटल अवगाहना, अमूर्तिक, अगुरुलधु, अनन्तबीर्य, ये आठ गुण करके सहित हैं ।

ऐसे श्री सिद्ध भगवन्त जो महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो बारम्बार हे सिद्ध भगवान् ! मेरा अपराध क्षमा करिये । हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमा कर, तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार नमस्कार करता हूँ । यावत् भव-भव सदा काल शरण हो ।

तीसरे पद श्री आचार्य महाराज छत्तीस गुण करके विराजमान हैं, पांच महाव्रत पाले, पांच आचार पाले, पांच इन्द्रिय जीते, चार कषाय टाले, नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य पाले, पांच समिति, तीन गुणि शुद्ध आराधे, ये छत्तीस गुण और आठ सम्पदा (१. आचारसम्पदा, २. श्रुत-सम्पदा, ३. शरीरसम्पदा, ४. वचनसम्पदा, ५. वाचनासम्पदा, ६. मतिसम्पदा, ७. प्रयोगमति-सम्पदा, ८. परिज्ञासम्पदा) सहित हैं ।

ऐसे आचार्य महाराज न्यायपक्षी, भद्रिक परिणामी, त्यागी, वैरागी, महागुणी, गुणानुरागी हैं । ऐसे श्री आचार्य जो महाराज आपकी दिवस एवं रात्रि संबंधी अविनय आशातना की हो तो बारम्बार मेरा अपराध क्षमा करिये । हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार नमस्कार करता हूँ यावत् भव-भव सदा काल शरण हो ।

चौथे पद श्री उपाध्याय जो महाराज पच्चीस गुण करके सहित (ग्यारह अङ्ग, बारह उपांग चरणसत्तरी, करणसत्तरी इन से युक्त) हैं तथा अङ्ग-उपांग सूत्रों को मूल अर्थ सहित जानें ।

स्यारह अंग—आचारांग, सूयगडांग, ठाणांग, समवायांग, विवाहपञ्चति (भगवती), णायाधम्मकहा (ज्ञाताधर्मकथा), उपासकदसा, अंतगडदसा, अणुप्तरोववाई, पण्हावागरणा (प्रश्नव्याकरण), विवाग-सुयं (विपाकश्रूत) :

बारह उपांग—उववाई, रायध्यसेणी, जीवाजीवाभिगम, पञ्चवणा, जम्बुदीवपञ्चति, चन्दपञ्चति, सूरपञ्चति, निरयावलिया, कप्पवर्डसिया, पुणिक्या, पुण्फचूलिया, वल्लिदशा ।

चार मूलसूत्र—उत्तरज्ञभयण (उत्तराध्ययन), दसवेयालियसुत्तं (दशवेकालिकसूत्र) णंदी सुत्तं (नन्दीसूत्र) अणुओगद्वार (अनुयोगद्वार) ।

चार छेदसूत्र—दसासुयकखंशो (दशाश्रुतस्कंध), विहककप्पो (बृहत्कल्प), बवहारसुत्तं (ब्यवहारसूत्र), णिसीहसुत्तं (निशीथसूत्र) और वत्तीसवां आवस्सर्गं (आवश्यक) तथा सात नय, चार निषेक, स्वमत और परमत के जानकार, जिन नहीं पर जिन सरीखे, केवली नहीं पर केवली सरीखे ।

ऐसे श्री उपाध्याय जी महाराज मिथ्यात्क रूप अधिकार के मेटनहार, समकित रूप उद्घोत के करनहार, धर्म से डिगते हुए प्राणी को स्थिर करे, सारए, बारए, धारए, इत्यादि अनेक गुण करके सहित हैं ऐसे श्री उपाध्याय जी महाराज आपकी दिवस एवं रात्रि सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो बारम्बार है उपाध्यायजी महाराज ! मेरा अपराध क्षमा करिये, हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर, तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार नमस्कार करता हूँ (करती हूँ) । यावत् भव-भव सदा काल शरण हो ।

पांचवं पद 'णमो लोए सब्बसाहूण' अढाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र रूप लोक में सर्व साधुजी महाराज जधन्य दो हजार करोड़, उत्कृष्ट नव हजार करोड़ जयवन्त विचरे, पांच महाव्रत, पांच इन्द्रिय जीतें, चार कषाय टालें, भावसच्चे, करणसच्चे, जोगसच्चे, क्षमावन्ता वैराग्यवन्ता, मन-समाधारणिया, वयसमाधारणिया, कायसमाधारणिया, नाणसंपन्ना, दंसणसंपन्ना, चारित्रसंपन्ना, वेदनीयसमाग्रहियासनीया, मरणान्तियसमाग्रहियासनीया, ऐसे सत्ताईस गुण करके सहित हैं । पांच आचार वाले, छः काय की रक्षा करें, आठ मद छोड़ें, दश प्रकार यति धर्म धारें, बारह भेदे तप करें, सत्रह भेदे संयम पालें, बावोस परिषह जीतें, ब्यालीस दोष टालकर आहार पानी लेवें, सेतालीस दोष टालकर भोगवें, बावन अनाचार टालें, तेड़िया आवे नहीं, नेतिया जीमे नहीं, सचित के त्यागी, अचित के भोगी इत्यादि मोह ममता रहित हैं ।

ऐसे मुनिराज महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो बारम्बार है मुनिराज ! मेरा अपराध क्षमा करिये । हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर, तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार नमस्कार करता हूँ (करती हूँ), यावत् भव-भव में सदा काल शरण हो ।

बर्णनसम्यक्त्य का पाठ

अरिहन्तो मह वेदो, जावजीवं सुसाहूणो गुरुणो ।

जिणपण्णतं तत्तं, इय सम्मतं मए वहियं ॥

परमस्थसंथवो वा सुविदुषरमत्थसेवणा वावि ।

वावण-कुदंसण-वज्जणा वा सम्मतसहृणा ॥

इथ सम्भवस्स पंच अहयारा पेयाला जाणियद्वा न समायरियद्वा, तं जहा ते आलोऽ—संका,
कंखा, चितिगिर्छा, पर-पासंडपतंसा, परपासंडसंयदो ।

इस प्रकार श्री समकित रत्न पदार्थ के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऽ—

१. श्री जिनवचन में शंका की हो,
२. परदर्शन की आकॉक्षा की हो,
३. परपाखण्डी की प्रशंसा की हो,
४. परपाखण्डी का परिचय किया हो,
५. धर्मफल के प्रति सन्देह किया हो,

ऐसे मेरे सम्यक्त्व-रत्न पर मिथ्यात्व रूपी रज-मैल लगा हो तो तस्स मिछ्छा मि दुक्कड़ ।

भावार्थ— राग-द्वेष आदि आश्यक्त्वर शशुद्धों को जीतने वाले वीतराग अरिहंत भगवान् मेरे देव हैं, जीवन पर्यन्त संयम की साधना करने वाले निर्जन्थ गुरु हैं तथा वीतरागकथित अर्थात् श्री जिनेश्वर देव द्वारा उपदिष्ट अर्हिसा, सत्य आदि ही मेरा धर्म है। यह देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा-स्वरूप सम्यक्त्व व्रत मैंने यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया है एवं मुझको जीवादि पदार्थों का परिचय हो, भली प्रकार जीवादि तत्त्वों को तथा सिद्धान्त के रहस्य को जानने वाले साधुद्धों की सेवा प्राप्त हो, सम्यक्त्व से अष्ट तथा मिथ्यात्वी जीवों की संगति कदापि न हो, ऐसी सम्यक्त्व के विषय में मेरी श्रद्धा बनी रहे।

मैंने वीतराग के वचन में शंका की हो, जो धर्म वीतराग द्वारा कथित नहीं है, उसकी आकॉक्षा की हो, धर्म के फल में सदेह किया हो, या साधु-साध्वी आदि महात्माओं के वस्त्र, पात्र, शरीर आदि को मलिन देखकर घृणा की हो, परपाखण्डी का चमत्कार देखकर उसकी प्रशंसा की हो तथा परपाखण्डी से परिचय किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ। मेरा वह सब पाप निष्फल हो।

गुरु-गुण-स्मरणसूत्र

पंचदिय-संवरणो, तह नवविह-बंधचेर-गुत्तिधरो ।

चउविह-कसाय-मुक्तो, इथ अट्टारस-गुणेहि संजुत्तो ॥

पंच महावय-जुत्तो, पंचविहायार-पालण-समत्थो ।

पंच-समिष्ठो-तिगुत्तो, छत्तीसगुणो गुरु मञ्ज ॥

भावार्थ— पांच इन्द्रियों के वैषयिक चांचल्य को रोकने वाले, ब्रह्मचर्य की नवविधि मुक्तियों को - नो वाङ्मों को धारण करने वाले, कोध आदि चार प्रकार के कषायों से मुक्त इस प्रकार अठारह गुणों से संयुक्त, अर्हिसा आदि पांच महावतों से युक्त, पांच आचारों को पालने में समर्थ, पांच समिति और तीन गुप्ति को धारण करने वाले, इस प्रकार उक्त छत्तीस गुणों वाले श्रेष्ठ साधु मेरे गुरु हैं।

बोहु

अनन्त चौबीसी जिन नमूँ, सिद्ध अनन्ते कोड़ ।

केवलज्ञानी गणधरा, बन्दूँ बे कर जोड़ ॥ १ ॥

दोय कोडि केवलधरा, विहरमान जिन बीस ।
 सहस्र युगल कोडि नमूँ, साधु नमूँ, निशदीश ॥ २ ॥
 धन साधु, धन साध्वी, धनन्धन हैं जिनधर्मे ।
 वे समर्था पाताक फूरे, दूरे आठों कर्म ॥ ३ ॥
 अरिहत्त सिद्ध समरूँ सदा, आचारज उपाध्याय ।
 साधु सकल के चरण को, बन्दूँ शीश नवाय ॥ ४ ॥
 शासननायक सुमरिये, भगवन्त बीर जिणद ।
 अलिय विघ्न दूरे हरे, आपे परमानन्द ॥ ५ ॥
 अंगुष्ठे अमृत बसे, लब्धि तणा भण्डार ।
 श्री गुरु गौतम सुमरिये, वंचित फल दातार ॥ ६ ॥
 गुरु गोविन्द दोनों खड़े, किसके लागूँ पाय ।
 बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो बताय ॥ ७ ॥
 लोभी गुरु तारे नहीं, तिरे सो तारणहार ।
 जो तूँ तिरियो चाह तो, निलोंभी गुरु धार ॥ ८ ॥
 साधु सती ने शूरमा, ज्ञानी ने गजदल ।
 हतना पीछा ना हटे, जो जुग जाय पढ़त ॥ ९ ॥
 गुरु दीपक गुरु चांदणी, गुरु बिन घोर अन्धार ।
 पलक न विसरूँ तुम भणी, गुरु मुझ प्राण आधार ॥ १० ॥

कामणासूत्र-

पाथरिय-खबरेभाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणे य ।
 जे मे केहि कसाया, सब्ये तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥
 सञ्चवस्स समणसंघस्स, भगवन्नो अंजलि करिय सीसे ।
 सञ्चं खमावइत्ता, खमामि सञ्चवस्स अहयंपि ॥ २ ॥
 सञ्चवस्स जीवरासिस्स, भावन्नो धम्मनिहियनियचित्तो ।
 सञ्चं खमावइत्ता, खमामि सञ्चवस्स अहयंपि ॥ ३ ॥

(मरणसमाधि-प्रकीर्णक और संस्तारक-प्रकीर्णक)

रागेण व दोसेण व, अहवा अक्यण्णुणा पढिनिवेसेण ।
 जे मे कि चि वि भणिअं, तमहं तिविहेण खामेमि ॥ ४ ॥

भावार्थ—आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साध्मिक, कुल और गण, इनके ऊपर मैंने जो कुछ कथाय किये हों, उन सबसे मैं मन, वचन और काया से क्षमा चाहता हूँ ॥ १ ॥

अङ्गलिबद्ध दोनों हाथ जोड़कर समस्त पूज्य मुनिगण से मैं अपराध की क्षमा चाहता हूँ और मैं भी उन्हें क्षमा करता हूँ ॥ २ ॥

धर्म में चित्त को स्थिर करके सम्पूर्ण जीवों से मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ और स्वयं भी उनके अपराध की क्षमा करता हूँ ॥ ३ ॥

राग-हृष, अकृतज्ञता अथवा आग्रह वश मेंने जो कुछ भी कहा हो, उसके लिए मैं मन, वचन काया से सभी से क्षमा चाहता हूँ ॥ ४ ॥

खामेमि सब्दे जीषा, सब्दे जीषा खमंतु मे।
मित्ती मे सब्दभूएसु^१, वेर मज्जं न केणइ ॥
एवमहं आलोइय, निदिय गरिहिय बुगंछियं सम्मे ।
तिविहेण पडिकंतो, बंशामि जिणे खडब्दीसं ॥

भावार्थ मैंने किसी जीव का अपराध किया हो तो मैं उससे क्षमा चाहता हूँ । सभी प्राणी मुझे क्षमा करें । संसार के प्राणिमात्र से मेरी मित्रता है, मेरा किसी से वेर-विरोध नहीं है ।

मैं अपने पापों की आलोचना, तिन्दा, गर्हा, और जुगुप्सा के द्वारा तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन और काय से प्रतिक्रमण कर, पापों से निवृत्त होकर चौबीस तीर्थकर देवों को बन्दना करता हूँ ।

दिवेचन—मन भावनाओं का भण्डार है । इसमें असंख्य शुभाशुभ भावनाएँ दिव्यमान रहती हैं और इन शुभाशुभ भावनाओं के फलस्वरूप हर क्षण अनन्तानन्त कर्म-परमाणुओं का आत्मा के साथ बन्ध होता रहता है । शुभ भावनाओं से शुभ कर्मों का और अशुभ भावनाओं से अशुभ कर्मों का । इन बन्धनों के कारण ही आत्मा अनादि काल से चौदह राजू परिमित लोक में, जौरासी लाख जीवयोनियों में परिच्रमण करता हुआ पौदगलिक अस्थायी सुख-दुःखों का भोग भी करता आ रहा है । सुख की अपेक्षा आत्मा ने दुःख एवं पीड़ाएँ बहुत सहन की हैं । कोटानुकोटि जन्मों के बाद आर्थं क्षेत्र, उत्तम कुल, मानव जन्म, आदि दस बोलों की जीव को प्राप्ति हुई है और साथ ही दीतराग वाणी श्रवण करने का तथा संत-समागम का सुअवसर भी प्राप्त हुआ है । अब श्रावश्यकता है अटल आस्था के साथ कर्म और आरम्भ अर्थात् जड़-चेतन के स्वरूप को समझकर आत्म-उत्थान के हेतुओं को जीवन में उतारने की ।

आत्मकल्याण के कारणों में प्रथम हेतु क्षमा-धर्म ही है । शास्त्र का वचन है—

बसविहे समणधन्मे पण्णते, तंभाहा—१. खंती, २. मूसी, ३. अज्जवे, ४. महवे, ५. लाघवे,
६. सञ्ज्वे, ७. संयमे, ८. लवे, ९. चियाए, १०. बंभवेरवासे । — समवायांगसूत्र

क्षमाश्रमण भगवान् महावीर ने दस प्रकार के यतिधर्मों में सर्वप्रथम क्षमा को ही बताया है । साधक जीवन में क्षमाधर्म की अनिवार्य श्रावश्यकता है । क्षमा के अभाव में व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में सुख-शान्तिमय जीवन नहीं जी सकता है । वास्तव में 'क्षमा' मनुष्य का नैसर्गिक गुण है, इसे किसी भी परिस्थिति में मनुष्य को छोड़ना नहीं चाहिये । क्षमा तथा प्रेम के प्रभाव से कूर दृदय भी बदले जा सकते हैं । कहा भी है—

“क्षमा बशीकृतिलोके क्षमया कि न साध्यते ?” —सुभाषितसंचय

अर्थात् क्षमा संसार में वशीकरण मंत्र है, क्षमा से क्या सिद्ध नहीं होता ? सबसे बड़ा तप क्षमा ही है । 'क्षान्तितुल्यं तपो नास्ति'—क्षमा के बराबर दूसरा तप नहीं है ।

१. सब्द जीवेशु, इति जिनदास महत्तराः ।

अपनी आत्मा के अभ्युदय का दृढ़ संकल्प रखने वाले साधक निश्चय ही मन को संयत बनाने में अर्थात् क्षमा करने में समर्थ होते हैं। भोगों के प्रलोभन उन्हें आकर्षित नहीं कर सकते, लालसाएँ उन्हें भावित नहीं कर पातीं तथा भीषण विपत्तियाँ और संकट उन्हें व्याकुल नहीं कर सकते। संयत व्यक्ति के हृदय पर लोभ के आक्रमण-प्रहार बेअसर हो जाते हैं तथा क्रोध की अग्नि उसके क्षमा-सागर में आकर समाप्त हो जाती है। ऐसा पुरुष शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों का समन्वय करके जिन-प्ररूपित नियमों के अनुसार साधना-रत रहता है। साधना-निरत व्यक्ति से कभी छद्मस्थ अवस्था के कारण जाने-अनजाने यदि भूल हो जाए तो वह तत्काल अपने अपराधों की सरल हृदय से क्षमायाचना कर लेता है।

प्रतिक्रमण की परिसमाप्ति पर प्रस्तुत क्षमापना सूत्र का उच्चारण करते समय मनोयोग, वचनयोग और काययोग—इन तीनों का समन्वय होना आवश्यक है। जीवन को निष्कलुष और निर्मल बनाने के लिए विगत भूलों पर पश्चात्ताप करना आवश्यक है, किन्तु पश्चात्ताप यदि कोरा पश्चात्ताप ही रहे तो उससे कुछ भी लाभ नहीं होता। पश्चात्ताप होने पर भूल को सुधारने का मन में ध्रुव संकल्प भी होता जाहिये और जो भूलें पड़ते हो तुम्हीं हैं उन्हें फिर न दोहराने का प्रयत्न करना चाहिये, तभी साधक का सच्चा क्षमापनासूत्र जीवन-उत्थान में उपयोगी बन सकता है। इस क्षमायाचना से जीवन के अपराधी संस्कार समाप्त हो जाते हैं और जीवन में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाता है तथा हृदय में तीन प्रकाश की किरणें स्फुटित हो जाती हैं। जैसे करोड़ों वर्षों से अन्धकाराच्छादित तामस गुफा में चक्रवर्ती का मणिरत्न (छह खण्ड की विजय करते समय) क्षण भर में आलोक फैला देता है, इसी प्रकार क्षमा गुण से संयुक्त संयत के जीवन में आत्मज्ञान का प्रकाश प्रस्फुटित हो जाता है।

चौरासी लाख जीवयोनि का पाठ

सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेजस्काय, सात लाख वायुकाय, दश लाख प्रत्येक बनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण बनस्पतिकाय, दो लाख द्वीन्द्रिय, दो लाख त्रीन्द्रिय, दो लाख चतुरन्द्रिय, चार लाख नारको, चार लाख देवता, चार लाख तिर्यङ्गच पञ्चेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य, ऐसे चार गति में चौरासी लाख जीवयोनि के सूक्ष्म-बादर, पर्यप्त-अपर्यप्त किसी जीव का हालते-चालते, उठते-बैठते, जानते-अजानते हृनन किया हो, कराया हो, हृनता प्रति अनुमोदन किया हो छेदा-भेदा हो, किलामणा उपजाई हो, मन, वचन, काया करके अठारह लाख चौबीस हजार एक सौ बीस (१८,२४,१२०)^१ प्रकारे तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ ।

विवेचन—चार गति में जितने भी संसारी जीव हैं, उनकी चौरासी लाख योनियाँ हैं। योनि का अर्थ है—जीवों के उत्पन्न होने का स्थान। समस्त जीवों के ८४ लाख प्रकार के उत्पत्ति-स्थान हैं।

१. जीव तत्त्व के ५६३ भेदों को अभिह्यादि देशों के साथ गुणाकार करने से ५६३० भेद होते हैं। फिर इनको राग और द्वेष के साथ द्विगुण करने से ११२६० भेद बनते हैं। फिर इन्हीं को मन, वचन, काया के साथ त्रिगुण करने से ३३७८० भेद हो जाते हैं। फिर तीन करणों के साथ गुणाकार करने से १०१३४० भेद बन जाते हैं, इनको त्रिभूमि तीन काल के साथ गुणाकार करने से ३०४५८२० भेद होते हैं। फिर अरिहन्त, सिद्ध, आनन्द, उग्राध्याय, गुरु और आत्मा, इस प्रकार छह से गुण करने पर १८२४१२० भेद बनते हैं। इस प्रकार से मैं मिच्छा मि दुक्कड़ देता हूँ और फिर पापकर्म न करने की प्रतिज्ञा करता हूँ।

यद्यपि स्थान तो इससे भी अधिक हैं, परन्तु वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान के रूप में जितने भी स्थान परस्पर समान होते हैं, उन सबका मिलकर एक ही स्थान माना जाता है।

पृथ्वीकायिक जीवों के मूल भेद ३५० है। पांच वर्ण से उक्त जीवों को गुणा करने से १७५० भेद होते हैं। पुनः दो गन्ध से गुणा करने पर ३५००, पुनः पांच रस से गुणा करने पर १७५००, पुनः आठ स्पर्श से गुणा करने पर १,४०,०००, पुनः पांच संस्थान से गुणा करने पर कुल सात लाख भेद होते हैं।

पृथ्वीकाय के समान ही जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय के भी प्रत्येक के मूल भेद ३५० हैं। उनको पांच वर्ण आदि से गुणा करने पर प्रत्येक की सात लाख योनियाँ हो जाती हैं। प्रत्येक वनस्पति के मूल भेद ५०० हैं। उनको पांच वर्ण आदि से गुणा करने से कुल दस लाख योनियाँ हो जाती हैं। कन्दमूल की जाति के मूल भेद ७०० हैं, अतः उनको पांच वर्ण आदि से गुणा करने पर कुल १४,००,००० योनियाँ होती हैं।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय रूप विकलन्त्रय के प्रत्येक के मूल भेद १०००-१०० हैं। उनको पांच वर्ण आदि से गुणा करने पर प्रत्येक की कुल चार-चार लाख योनियाँ होती हैं। मनुष्य जाति के मूल भेद ७०० हैं, अतः पांच वर्ण आदि से गुणा करने से मनुष्य की कुल १४,००,००० योनियाँ हो जाती हैं।

कुल कोडी खमाने का पाठ--

पृथ्वीकाय के बारह लाख कुलकोडी, अर्प्याय के सात लाख कुलकोडी, तेजस्काय के तीन लाख कुलकोडी, वायुकाय के सात लाख कुलकोडी, वनस्पतिकाय के अट्टाईस लाख कुलकोडी, द्वीन्द्रिय के सात लाख कुलकोडी, श्रीन्द्रिय के आठ लाख कुलकोडी, चतुरन्द्रिय के नव लाख कुलकोडी, जलचर के साढ़े बारह लाख कुलकोडी, स्थलचर के दस लाख कुलकोडी, सेचर के बारह लाख कुलकोडी, उरपरिसर्प के दस लाख कुलकोडी, भूजपरिसर्प के नव लाख कुलकोडी, नरक के पच्चीस लाख कुलकोडी, देवता के छब्बीस लाख कुलकोडी, मनुष्य के बारह लाख कुलकोडी, यों एक करोड़ साढ़े सत्तानवै लाख कुलकोडी की विराधना की हो तो देवसी सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुकड़।

प्रणिपात-सूत्र-

नमोस्युण

अस्त्रिहंताणं, भगवंताणं ॥१॥

आइगराणं, तित्थयराणं, सयंसंबुद्धाणं ॥२॥

पुरिसुत्तमाणं, पुरिस-सोहाणं,

पुरिसवरपुङ्डरीयाणं, पुरिसवरगंधहृत्योणं ॥३॥

लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं,

लोगपट्टियाणं, लोगपञ्जोयगराणं ॥४॥

अभयवयाणं, धर्मशुद्याणं, भगवयाणं,

सरणवयाणं, जीववयाणं, बोहिवयाणं ॥५॥

धर्मविद्याणं, धर्मदेसयाणं, धर्मनायगाणं,
 धर्मसारहीणं, धर्मवर-चाउरत-चक्रवटीणं ॥६॥
 दीपो ताणं-सरण-गई-पद्माणं,
 अप्पडिहृष्ट-बरनाण-वैसणधराणं, विष्टुलउमाणं ॥७॥
 जिणाणं, जावयाणं, तिण्याणं, तारयाणं,
 मुद्गाणं बोहयाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं ॥८॥
 सव्यवन्नूणं, सव्वदरिसीणं,
 सिव-मयलमरुष-मण्ट-मक्खय-मव्याख्या-मपुणराविति-सिद्धिगङ्गामधेयं ठाणं संपत्ताणं,
 नमो जिणाणं, जियभयाणं ॥

भावार्थ—श्री अरिहन्त भगवन्तों को नमस्कार हो । (अरिहन्त भगवान् क्ये हैं ?) धर्म की आदि करने वाले हैं । धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, (परोपदेश विना) स्वयं ही प्रवृद्ध हुए हैं ।

पुरुषों में श्रेष्ठ हैं, पुरुषों में सिंह (के समान पराक्रमी) हैं, पुरुषों में श्रेष्ठ पूण्डरीक—श्वेत कमल के समान हैं, पुरुषों में श्रेष्ठ गन्ध-हस्ती हैं । लोक में उत्तम हैं लोक के नाथ है, लोक के हितकर्ता हैं, लोक में दीपक हैं, लोक में उद्घोत करने वाले हैं ।

अभ्य देने वाले हैं, ज्ञान रूपी नेत्र देने वाले हैं, धर्ममार्ग को देने वाले हैं, शरण देने वाले हैं, संथम रूप जीवन के दाता हैं, धर्म के उपदेशक हैं, धर्म के नेता हैं, धर्म के सारथी—संचालक हैं ।

चार गति का अन्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म के चक्रवर्ती हैं, अप्रतिहत एवं श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले हैं, ज्ञानावरण आदि धातिकमों से अथवा प्रमाद से रहित हैं ।

स्वयं राम-द्वेष को जीतने वाले हैं, दूसरों को जिताने वाले हैं, स्वयं संसार-सागर से तरगए हैं, दूसरों को तारने वाले हैं, स्वयं बोध पा चुके हैं, दूसरों को बोध देने वाले हैं, स्वयं कर्म से मुक्त हैं, दूसरों को मुक्त कराने वाले हैं ।

सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं तथा शिव—कल्याणरूप, अचल—स्थिर, अरुज—रोग रहित, अनन्त—अनन्त रहित, अक्षय—क्षय रहित, अव्याबाध—बाधा-पीड़ा रहित, अपुनरावृत्ति-पुनरागमन से रहित अर्थात् जन्म-मरण से रहित, सिद्धगति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके हैं, भय को जीतने वाले हैं, राग-द्वेष को जीतने वाले हैं—ऐसे जिन भगवन्तों को मेरा नमस्कार हो ।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में अरिहन्त और सिद्ध भगवान् को नमस्कार किया गया है । अनादि काल से अब तक अनन्त अरिहन्त और सिद्ध हो चुके हैं, इस कारण तथा उनकी महत्ता—उत्कृष्टता प्रकट करने के लिए मूल पाठ में बहुवचन का प्रयोग किया गया है । रागादि आन्तरिक रिपुओं की विनष्ट करने वाले अरिहन्त कहलाते हैं और आत्मा के साथ बंधे आठ कर्मों को समूल भस्म कर देने वाले लोकोत्तर महापुरुष सिद्ध कहे जाते हैं । उन जैसा पद प्राप्त करने एवं जिस प्रशस्त पद पर प्रवाण करके उन्होंने परमोत्तम पद प्राप्त किया है, उसी पथ पर चलकर उस पद को प्राप्त करने के लिए अपने अन्तःकरण में संकल्प एवं सामर्थ्य जागृत करने के लिए उन्हें नमस्कार किया जाता है ।

मूल पाठ में कतिपय विशेषण ऐसे भी हैं जिनका रहस्य हमें विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिये। भगवान् को 'अभ्यदयाणं' आदि कहा गया है, अर्थात् भगवान् अभ्यदाता हैं, चक्षुदाता हैं, मार्ग के दाता हैं, बोधि के दाता हैं, इत्यादि। किन्तु जैनदर्शन के अनुसार, भगवान् के स्वयं के कथनानुसार कोई किसी को शुभ या अशुभ फल प्रदान नहीं कर सकता। आगम में कहा है—‘अता कर्ता विकर्ता य।’ अर्थात् पुरुष स्वयं अपने कर्मों का कर्ता-हत्ता और सुखःदुःख का जनक है। आचार्य अमितगति ने इसी तथ्य को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।

परेण दत्तं यदि लभते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

अर्थात् अतीत काल में आत्मा ने स्वयं जो शुभ या अशुभ कर्म किए हैं, उन्हीं का शुभ या अशुभ फल वह प्राप्त करता है। यदि दूसरे के द्वारा दिया फल मिलता हो तो स्पष्ट है कि अपने किए कर्में निष्फल हो जायें !

आगे वही कहते हैं—

निजाजितं कर्म विहाय वेहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन ।

विचारयन्नेवमनन्यमानसो परो ददातीति विमुञ्च शेषुषीम् ॥

अर्थात् अपने उपाजित कर्मों के सिवाय कोई किसी को कुछ भी नहीं देता। ऐसा विचार करके अनन्यमनस्क बनो—अपनी ओर दृष्टि लगाओ। दूसरा कोई कुछ देता है, इस बुद्धि का परित्याग कर दो।

जैनदर्शन का यह सच्चा आत्मवाद है और यह आत्मा के अनन्त, असीम पुरुषार्थ को जगाने वाला है। यह किसी के समक्ष दैन्य दिखला कर भिखारी न बनने का महामूल्य मंत्र है। यही पारमार्थिक दृष्टि है, तो फिर भगवान् को अभ्य आदि का दाता क्यों कहा गया है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि प्रत्येक कार्य के कारण दो प्रकार के होते हैं—उपादान और निमित्त। कार्य की निष्पत्ति दोनों प्रकार के कारणों से होती है, एक से नहीं। घट बनाने के लिए जैसे उपादान मृत्तिका आवश्यक है, उसी प्रकार कुम्भकार, चाक आदि निमित्तकारण भी अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं। इस नियम के अनुसार अपने उत्कर्ष का—मोक्ष का उपादान कारण स्वयं आत्मा है और निमित्तकारण अरिहन्त भगवान् एवं तत्प्ररूपित धर्म संघ आदि हैं। व्यवहारनय से निमित्त-कारण को भी कर्ता कहा जाता है, जैसे कुंभार को घट का कर्ता कहा जाता है। अतः प्रस्तुत पाठ में भी व्यवहारनय की दृष्टि की प्रधानता से अरिहन्त भगवान् को 'दाता' कहा है, क्योंकि अरिहन्त भगवान् उस पथ के उपदेष्टा हैं, जिसका अनुसरण करने से जीव सदा काल के लिए अभ्य—भयमुक्त बनता है। 'अभ्य' शब्द का अर्थ 'संयम' भी है। भगवान् संयमोपदेष्टा होने से भी अभ्यदाता है। इसी प्रकार चक्षुदाता आदि विशेषणों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ भगवान्ताम्—भगवन्तों को। 'भग' शब्द के छह अर्थ हैं—१. ऐश्वर्य-

वंभव, २. रूप, ३. यशःकीर्ति, ४. श्री—शोभा, ५. धर्म और ६. प्रयत्न-पुरुषार्थ ।^१ ये छह विशेषताएँ जिनमें समग्र सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान हों, वे भगवान् कहलाते हैं ।

प्राहगरा आदिकर—आदि करनेवाले । धर्म यद्यपि वस्तु का स्वभाव होने के कारण अनादि-अनन्त है, तथापि अहिसा, तप, संयम आदि रूप व्यवहार धर्म की मर्यादाओं में विभिन्न युगों में जो विकृति आ जाती है, उसे दूर करके धर्म के वास्तविक स्वरूप को, उसकी मर्यादाओं को काल के अनुरूप प्रस्थापित करने के कारण भगवान् आदिकर कहलाते हैं ।

पुरिससीह—पुरुषसिंह—वन्य पशुओं में सिंह सबसे अधिक पराक्रमशाली गिना जाता है और निर्भय होकर विचरता है । इसी प्रकार भगवान् अनन्त पराक्रमी और निर्भय होने के कारण पुरुषसिंह—पुरुषों में सिंह के समान हैं ।

पुरिसबरगंधहस्ती—पुरुषवरगन्धहस्ती—गन्धहस्ती—वह कहलाता है जिसके गण्डस्थल से सुगन्धित मद भरता रहता है । उस मद की सुगन्ध की अतिशय उग्रता के कारण अन्य हस्ती घबरा जाते हैं—दूर भाग जाते हैं । गंधहस्ती मांगलिक भी माना जाता है । भगवान् के सम्मुख जाते ही अन्य वादी निर्मद हो जाते हैं—टिक नहीं सकते हैं और भगवान् परम मांगलिक भी है, अतएव पुरुषों में श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान हैं ।

लोगनाह—लोकनाथ—योग अर्थात् अप्राप्त पदार्थ को प्राप्त कराने वाला तथा क्षेम अर्थात् प्राप्त पदार्थ की रक्षा करने वाला 'नाथ' कहलाता है—'योगक्षेमकरो नाथः ।' भगवान् अप्राप्त मांगलभय धर्म को प्राप्ति कराने वाले और प्राप्त धर्म की विविध विधियों के उपदेश द्वारा रक्षा करने वाले हैं । भगवान् विश्व के समस्त प्राणियों को समझा व स्वर्म का उपदेश करते हैं, अतएव समग्र लोक के नाथ हैं ।

लोगपर्हित—लोकप्रदीप—लोक में श्रद्धवा लोक के लिए उत्कृष्ट दीपक । लौकिक दीपक परिमित क्षेत्र में बाह्य अन्धकार को विनष्ट करके प्रकाश करता है, परन्तु भगवान् प्र-दीप-प्रकृष्ट दीप है, जो अनादिकाल से आत्मा में रहे हुए भिष्यात्वजन्य अज्ञानान्धकार को सदा के लिए दूर करते हैं । दीप-प्रकाश में अत्यल्प और स्थूल दृष्टिगोचर हो सकने वाले पदार्थ ही भासित होते हैं, किन्तु भगवान् के केवलज्ञान रूपी लोकोत्तर प्रदीप में त्रिकाल संबंधी, सूक्ष्म-स्थूल, इन्द्रियगम्य, अतीन्द्रिय, सभी पदार्थ प्रतिभासित होते हैं । द्रव्य-दीप में स्थूल पदार्थ भी अपने सम्पूर्ण रूप में दिखाई नहीं देते, केवल उनका रूप और आकार ही दृष्टिगोचर होता है, भगवान् के ज्ञानप्रदीप में प्रत्येक पदार्थ अपने अनन्त-अनन्त गुण-पर्यायों समेत प्रतिबिम्बित होता है । द्रव्य-दीप तैलक्षय, पवन के देव आदि कारणों से दुःख जाता है, परन्तु भगवान् का ज्ञानप्रदीप एक बार प्रज्ज्वलित होकर सदैव प्रज्ज्वलित ही रहता है । अतएव वह दीप नहीं प्रदीप—लोकोत्तर दीपक है । भगवान् का ज्ञान भगवान् से अभिन्न है और वह समग्र लोकों के लिए प्रकाश-प्रदाता है, अतएव भगवान् लोकप्रदीप है ।

अपुणरादिति—अपुनरावृत्ति—सिद्धिगति-स्थान के लिए अनेक विशेषणों का यहाँ प्रयोग किया गया है । वे विशेषण सुगम हैं । मोक्ष शिव अर्थात् सब प्रकार के उपद्रवों से रहित है, अचल—

१. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः शिवः ।

--दण्डैकालिकचूर्ण—जिनदाम

धर्मस्याय प्रयत्नस्य, पृष्णां भग इतीज्ञाना ॥

स्थिर है, अरुज—सभी प्रकार के बाह्याभ्यन्तर रोगों से रहित है, अनन्त है। उसका कदापि अन्त नहीं होता, अक्षत है, अर्थात् उसमें कभी कोई क्षति न्यूनता नहीं आती, अव्यावाध है—समस्त बाधाओं से विवर्जित है और अपुनरावृत्ति है, अर्थात् एक बार सिद्धि प्राप्त हो जाने पर फिर कभी वहाँ से वापिस नहीं लौटना पड़ता ।

यहीं विचारणीय है कि अनन्त और अक्षत (अक्षय) विशेषणों का प्रयोग करने के पश्चात् 'अपुनरावृत्ति' विशेषण के प्रयोग की क्यों आवश्यकता हुई ? समाधान यह है कि कलिपय दार्शनिकों की ऐसी मान्यता है कि मुक्तात्मा जब अपने तीर्थ की अवहेलना होते देखते हैं तो उसके रक्षण के लिए मोक्ष को छोड़कर पुनः संसार में आ जाते हैं। इस मान्यता को भ्रान्त बतलाने के लिए इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। जैसे बीज के दग्ध हो जाने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्मबीज के भस्म हो जाने पर भव-अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि पूर्ववर्ती कर्म ही नवीन कर्म को उत्पन्न करता है, एक बार कर्म का समूल नाश हो जाने पर नवीन कर्मों का उद्भव संभव नहीं है और कर्म के अभाव में पुनः संसार में जन्म होना संभव नहीं। वस्तुतः मोक्ष-पद सादि और अनन्त है। इस आशय को व्यक्त करने के लिए 'अपुनरावृत्ति' पद का प्रयोग किया गया है।

'नमोत्थुण' पाठ दो बार पढ़ा जाता है—अरिहन्त भगवन्तों को लक्ष्य करके और सिद्ध भगवन्तों को लक्ष्य करके। जब अरिहन्तों को लक्ष्य करके पढ़ा जाता है तो 'ठाणं संपादित्कामाणं' ऐसा बोला जाता है और जब सिद्ध भगवन्तों की स्तुति की जाती है तो 'ठाणं संपत्ताणं' ऐसा पाठ लोला जाता है। दोनों पाठों के झार्ण में अन्तर इस प्रकार है—'ठाणं संपादित्कामाणं' अर्थात् मुक्ति पद को प्राप्त करने का लक्ष्य रखने वाले—छयेय वाले। 'ठाणं संपत्ताणं' का अर्थ है—मुक्ति पद को जो प्राप्त कर चुके हैं।



ब्रतों की उपयोगिता।

१. जीवन को सुधड़ बनाने वाली और आलोक की ओर ले जाने वाली मर्यादाएँ नियम कहलाती हैं अथवा जो मर्यादाएँ सार्वभौम हैं, प्राणिमात्र के लिए हितावह हैं और जिनसे स्व-पर का हितसाधन होता है, उन्हें नियम या व्रत कहा जा सकता है।

२. अपने जीवन के अनुभव में ग्राने वाले दोषों को त्यागने का दृढ़ संकल्प उत्पन्न होता है तभी व्रत की उत्पत्ति होती है।

३. सरिता के सतत गतिशील प्रवाह को नियंत्रित रखने के लिए दो किनारे आवश्यक होते हैं, इसी प्रकार जीवन को नियंत्रित, मर्यादित और गतिशील बनाये रखने के लिए व्रतों की आवश्यकता है। जैसे किनारों के अभाव में प्रवाह छिन्न-भिन्न हो जाता है, इसी प्रकार व्रतविहीन मनुष्य की जीवनशक्ति भी छिन्न-भिन्न हो जाती है। अतएव जीवनशक्ति को केन्द्रित और योग्य दिशा में उसका उपयोग करने के लिए व्रतों की अत्यन्त आवश्यकता है।

४. आकाश में ऊंचा उड़ने वाला पतंग सोचता है मुझे डोर के बन्धन की क्या आवश्यकता है। यह डोर न हो तो मैं स्वच्छन्द भाव से मगन-विहार कर सकता हूँ। किन्तु हम जानते हैं कि डोर टूट जाने पर पतंग की क्या दशा होती है। डोर टूटते ही पतंग के उन्मुक्त व्योमविहार का स्वप्न भंग हो जाता है और उसे धूल में मिलना पड़ता है। इसी प्रकार जीवन रूपी पतंग को उन्नत रखने के लिए व्रतों की डोर साथ बंधे रहने की आवश्यकता है।

चार प्रकार से व्रतों में दोष लगता है—

१. अतिक्रम—स्वीकृत व्रत को भंग करने की इच्छा होना।

२. व्यतिक्रम—स्वीकृत व्रत को भंग करने हेतु तत्पर होना।

३. अतिचार—स्वीकृत व्रत को एकदेश भंग करना।

४. अनाचार—स्वीकृत व्रत को सर्वथा भंग करना।

इन दोषों से व्रतों की रक्षा करना आवश्यक है और प्रमादवश कदाचित् दोष लग जाए तो उसका प्रतिक्रमण करके शुद्धि कर लेना चाहिए। इसी दृष्टि से यहाँ अतिचारों का पाठ दिया गया है। स्मरण रहे कि यह प्रतिक्रमण-पाठ श्रावक-श्राविकायों के व्रतों से संबंधित है।

बारह द्रष्टों के अतिचारों का प्रतिक्रमण

१. अहिंसाणुव्रत के अतिचार

पहला अणुव्रत—थूलाओं पाणाइवायामो वेरमणं, त्रस जीव बेहंदिय, तेहंदिय, चउर्विय, पंचिदिय, जान के पहचान के संकरण करके उसमें स्व सम्बन्धी शरीर के भीतर में पोडाकारी, सापराधी को छोड़कर निरपराधी को ग्राकुट्रो (हनने) की शुद्धि से हनने का पञ्चक्खण जावज्जीवाए दुष्टिहंतिविहेण—न करेमि, न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा । ऐसे पहले स्थूल प्राणातिपातवेरमण व्रत के पंच अद्यारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा- ते आलोड़—बंधे, वहे, छविच्छेष, अहसारे, भत्तपाणविच्छेष, तस्स मिच्छा मि दुष्कर्डं ।

भावार्थ—श्रावक के बत बारह हैं, उनमें पांच अणुव्रत मूल और सात उत्तर गुण कहलाते हैं । गृहीत व्रतों का देशतः उल्लंघन अतिचार कहलाता है । प्रत्येक व्रत के पांच-पांच अतिचार हैं । उनमें यहाँ अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचारों की शुद्धि का विधान किया गया है । मैं स्व, सम्बन्धी (अपने और अपने सम्बन्धी जनों) के शरीर में पीडाकारी अपराधी जीवों को छोड़कर द्विन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और पंचन्द्रिय त्रस जीवों की हिसा संकल्प करके मन, वचन और काया से न करूँगा और न कराऊंगा । मैंने किसी जीव को यदि बन्धन से बांधा हो, चाबुक, लाठी आदि से मारा हो, पोटा हो, किसी जीव के चर्म का छेदन किया हो, अधिक भार लादा हो तथा अन्न-पानी का विच्छेद किया हो तो वे सब पाप निष्फल हों ।

तात्पर्य यह है कि गृहस्थ श्रावक अहिंसाणुव्रत में निरपराध त्रस जीवों की संकल्पी हिसा का ही त्याग करता है । वह स्थावर जीवों की हिसा का त्यागी नहीं होता । किन्तु उनकी भी निरर्थक हिसा का त्याग करता है । त्रस जीवों में भी अपराधी की हिसा का नहीं, केवल निरपराध जीवों की हिसा त्यागता है और निरपराधों की भी संकल्पी हिसा का - 'मैं इसे मार डालू' इस प्रकार की शुद्धि से घात करने का त्याग करता है । कृषि, गृह-निर्माण, व्यवसाय आदि में निरपराध त्रस जीवों का भी हनन होता है, तथापि वह आरंभी हिसा है, संकल्पी नहीं । अतएव गृहस्थ श्रावक उसका त्यागी नहीं । इस कारण उसका पहला व्रत स्थूल प्राणातिपातवेरमण कहलाता है । यह दो करण और तीन योग से स्वीकार किया जाता है ।

२. मूषावादविरमणद्रत के अतिचार

दूजा अणुव्रत थूलाओं मुसावायामो वेरमणं, कस्तालीए, गोवालीए, भोमालीए, जासावहारो (थापणमोसो), कूडसयिखज्जे (कूड़ी साख) इत्यादिक मोटा भूठ बोलने का पञ्चक्खण, जावज्जीवाए दुष्टिहंतिविहेण—न करेमि, न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा एवं दूजा स्थूल मूषावादवेरमण व्रत के पंच अद्यारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा से आलोड़—सहस्रभक्खणे, रहस्यभक्खणे सदारमन्तभेष, मोसोब्बएसे, कूडलेहकरणे, तस्स मिच्छा मि दुष्कर्डं ।

भावार्थ—मैं जीवनपर्यन्त मन, वचन, काया से स्थूल भूठ नहीं बोलूँगा और न बोलाऊंगा। कन्या-वर के सम्बन्ध में, गाय, भैंस आदि पशुओं के विषय में तथा भूमि के विषय में कभी असत्य नहीं बोलूँगा। किसी की रखी हुई धरोहर (मौंपी हुई रकम आदि) के विषय में असत्यभावन नहीं करूँगा और न धरोहर को हीनाधिक बताऊंगा तथा भूठी साक्षी नहीं दूँगा। यदि मैंने किसी पर भूठा कलंक लगाया हो, एकान्त में मंत्रणा करते हुए व्यक्तियों पर भूठा आरोप लगाया हो, अपनी स्त्री के गुप्त विचार प्रकाशित किए हों, मिथ्या [उपदेश दिया हो], भूठा लेख (स्टाम्प बही-खाता आदि) लिखा हो तो मेरे वे सब पाप निष्फल हों।

३. अवत्तावानविरमणाणुव्रत के अतिचार

तीजा अणुव्रत—थूलाश्रो अविष्णवाणाश्रो वेरमणं खात खनकर, गांठ खोलकर, ताले पर कूंचो लगाकर, मार्ग में चलते को लूटकर, पढ़ी हुई धणियाली मोटी वस्तु जानकर लेना, इत्यादि मोटा अवत्तावान का पञ्चक्खाण, सगे सम्बन्धी व्यापार सम्बन्धी तथा पढ़ी निर्झमी वस्तु के उपरान्त अवत्तावान का पञ्चक्खाण जावज्जीवाए बुधिहं तिविहेण—न करेमि, न कारवेमि मणसा, बयसा, कायसा एवं तीजा स्थूल अवत्तावानवेरमण व्रत के पंच अहयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोड़—तेनाहडे, तस्करप्पश्चोगे, विरुद्धरज्जाइकमे, कूडतुल्लकूडमाणे, तप्पडिलवयवहारे तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ं।

भावार्थ—मैं किसी के मकान में खात लगाकर अर्द्धत् भीत (खोदकर) फोड़कर, गांठ खोलकर, ताले पर कूंची लगाकर अथवा ताला तोड़कर किसी की वस्तु को नहीं लूँगा, मार्ग में चलते हुए को नहीं लूटूँगा, किसी की मार्ग में पढ़ी हुई मोटी वस्तु को नहीं लूँगा, इत्यादि रूप से सगे सम्बन्धी, व्यापार सम्बन्धी तथा पढ़ी हुई शंका रहित वस्तु के उपरान्त स्थूल चोरी को मन-वचन-काय से न करूँगा और न कराऊंगा। यदि मैंने चोरी की वस्तु ली हो, चोर को सहायता दी हो, या चोरी करने का उपाय बतलाया हो, लड़ाई के समय विरुद्ध राज्य में आया-नया होऊँ, भूठा तोल व माप रखा हो, अथवा उत्तम वस्तु दिखाकर खराब वस्तु दी हो (वस्तु में मिलावट की हो), मैं इन कुकुत्यों (बुरे कामों) की आलोचना करता हूँ। वे मेरे सब पाप निष्फल हों।

४. अह्यचर्याणुव्रत के अतिचार

चौथा अणुव्रत थूलाश्रो मेहुणाश्रो वेरमणं सदारसंतोसिए^१ अवसेस महृणविहि पञ्चक्खामि जावज्जीवाए देव देवी सम्बन्धी बुधिहं तिविहेण न करेमि, न कारवेमि मणसा, बयसा, कायसा तथा मनुष्य तिर्यञ्च सम्बन्धी एगविहं एगविहेण न करेमि कायसा एवं चौथा स्थूल सदारसंतोष, परवारविवर्जन रूप मैयुनवेरमणव्रत के पंच अहयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोड़ इत्तरिय परिग्रहियागमणे, अपरिग्रहियागमणे, अनंगकोडा, परविवाहकरणे कामभोग-तिव्वाभिलासे, तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ं।

१. 'सदारसंतोष' ऐसा पुरुष को बोलना चाहिए और लंबी को 'स्वपतिसंतोष' ऐसा बोलना चाहिये।

भावार्थ—चौथे अणुव्रत में स्थूल मैथुन से विरमण किया जाता है। मैं जीवनपर्यन्त अपनी विवाहिता स्त्री में ही संतोष रखकर शेष सब प्रकार के मैथुन-सेवन का त्याग करता हूँ अर्थात् देव-देवी सम्बन्धी मैथुन का सेवन मन, वचन, काया से न करूँगा और न कराऊंगा। मनुष्य और तिर्यज्ञ सम्बन्धी मैथुनसेवन काया से न करूँगा। यदि मैंने इत्वरिका परिमृहीता अथवा अपरिगृहीता से गमन करने के लिए आलोचना-संलग्नादानि किया हो, प्रकृति के विस्तृ अंगों से कामकीड़ा करने की बेष्टा की हो, दूसरे के विवाह करने का उद्यम किया हो, कामभोग की तीव्र अभिलाषा की हो तो मैं इन दुष्कृतियों की आलोचना करता हूँ। वे मेरे सब पाप निष्फल हों।

५. परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार

पांचवां अणुव्रत—यूलाओं परिग्रहाओं वेरमण, लेतवत्थ का यथापरिमाण, हिरण्ण-सुवण्ण का यथापरिमाण, धन-धान्य का यथापरिमाण, दुपय-चउपय का यथापरिमाण, कुविय धातु का यथापरिमाण, जो परिमाण किया है उसके उपरान्त अपना करके परिग्रह रखने का पञ्चवक्षण, जावज्जीवाए एगविहं तिविहेण न करेमि मणसा, वयसा कायसा एवं पांचवां स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत के पंच अद्यारा जाणियत्वा न समायरियत्वा, तं जहा ते आलोकं—लेतवत्थप्यमाणाद्वकमे, हिरण्णसुक्षणप्यमाणाद्वकमे, धणधृष्णप्यमाणाद्वकमे, दुपयचउपयप्यमाणाद्वकमे, कुवियप्यमाणा-द्वकमे तस्स मिच्छा मि दुक्कड़े।

भावार्थ—खेत—खुली जगह, बास्तु—महल-मकान आदि, सोना-चांदी, दास-दासी, गाय, हाथी, घोड़ा, चौपाये आदि, धन-धान्य तथा सोना-चांदी के सिवाय कांसा, पीतल, तांबा, लोहा आदि धातु तथा इनसे बने हुए वर्तन आदि और शैया, आसन, वस्त्र आदि घर सम्बन्धी वस्तुओं का मैंने जो परिमाण किया है, इसके उपरान्त सम्पूर्ण परिग्रह का मन, वचन, काया से जीवन पर्यन्त त्याग करता हूँ। यदि मैंने खेत, बास्तु—महल—मकान के परिमाण का उल्लंघन किया हो, सोना, चांदी के परिमाण का उल्लंघन किया हो, धन, धान्य के परिमाण का उल्लंघन किया हो, दास, दासी आदि द्विषद और हाथी, घोड़ा आदि चतुष्पद की संख्या के परिमाण का उल्लंघन किया हो, (इनके अतिरिक्त) दूसरे द्रव्यों की मर्यादा का उल्लंघन किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे वे सब पाप निष्फल हों।

६. दिशव्रत के अतिचार

छठा दिशव्रत—उड्डविसि का यथापरिमाण, अहोदिसि का यथापरिमाण, तिरियदिसि का यथापरिमाण किया हो, उसके उपरान्त स्वेच्छा से काया से आगे आकर पांच आश्रव सेवन का पञ्चवक्षण जावज्जीवाए छठे एगविहं तिविहेण—न करेमि मणसा, वयसा, कायसा एवं छठे दिशव्रत के पंच अद्यारा जाणियत्वा न समायरियत्वा, तं जहा ते आलोकं—उड्डविसिप्यमाणाद्वकमे, अहोदिसिप्यमाणाद्वकमे, तिरियदिसिप्यमाणाद्वकमे, खित्तवुड्ढी, सहग्रन्तरद्वा, तस्स मिच्छा मि दुक्कड़े।

भावार्थ—जो मैंने ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्यक्दिशा का परिमाण किया है, उसके आगे गमनागमन आदि कियाओं की मन, वचन, काया से न करूँग। यदि मैंने ऊर्ध्वदिशा,

अधोदिशा और तिर्यक्‌दिशा का जो परिमाण किया है उसका उल्लंघन किया हो, क्षेत्र को बढ़ाया दो, शेषपरिमाण को सीपा गे राहें होने पर आगे चढ़ा होकं तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ। मेरे वे सब पाप मिथ्या हों।

ऊँची, नीची, तिरछी दिशाओं के उल्लंघन को यहाँ अतिचार कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि मयदा की हुई भूमि से बाहर जाने की इच्छा कर रहा है लेकिन बाहर गया नहीं है तब तक अतिचार है, बाहर चले जाने पर अनाचार है।

७. उपभोग-परिभोगपरिमाणवत् के अतिचार

सातवां व्रत—उबभोग-परिभोगविहि पञ्चक्खायमाणे—१. उल्लणियाविहि, २. दंतणविहि, ३. फलविहि, ४. आवभंगणविहि, ५. उबटृष्णविहि, ६. मञ्जणविहि, ७. वत्थविहि, ८. विलेवणविहि, ९. पुष्कविहि, १०. आभरणविहि, ११. धूषविहि, १२. पेजजविहि, १३. भक्षणविहि, १४. श्रोदणविहि, १५. सूपविहि, १६. विगयविहि, १७. सागविहि, १८. महरविहि, १९. जीमणविहि, २०. पाणोशविहि, २१. मुख्यासविहि, २२. वाहणविहि, २३. उवाहणविहि, २४. सयणविहि, २५. सञ्चितविहि, २६. वडविहि, इत्यादि का धथापरिमाण किया है, इसके उपरान्त उबभोग-परिभोग वस्तु को भोगनिमित्त से भोगने का पञ्चक्खाण, जावज्जीवाए, एगविहं तिविहेण न करेमि भनसा, वयसा, कायसा एवं सातवां उबभोग-परिभोग दुविहे पञ्चते, तं जहा—भोयणाऽय, कम्मश्चोय; भोयणाऽयो समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्या, तं जहा ते आलोउ—सचित्ताहारे, सचित्तपिबद्धाहारे, अप्पउलियोसहिभक्षणया, दुप्पउलियोसहिभक्षणया, सुच्छोसहिभक्षणया। कम्मश्चोय णं समणोवासएण पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न समायरियव्वाइं, तं जहा ते आलोउ—इंगालकम्मे, घणकम्मे, साढोकम्मे, भाडोकम्मे, फोडोकम्मे, दंतवाणिज्जे, लक्ष्मवाणिज्जे, रसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे, जंतपोलणकम्मे, निललंछण-कम्मे, दवग्गिदावणया, सरदहृतलायसोसणया, असईजणपोसणया, तस्स मिच्छा मि दुककड़े।

भावार्थ मैंने शरीर पोंछने के अंगोंचे आदि वस्त्र का, दातौन करने का, आँखिला आदि फल से बाल धोने का, तेल आदि की मालिश करने का, उबटन करने का, स्नान करने के जल का, वस्त्र पहनने का, चन्दनादि का लेपन करने का, पुष्प सूधने का, आभूषण पहनने का, धूप जलाने का, धूध आदि पीने का, चावल-गेहूं आदि का, मूँग आदि की दाल का, विगय (धूध, दही, धी, गुड़ आदि) का, शाक-भाजी का, भधुर रस का, जीमने का, पीने के पानी का, इलायची-लौंग इत्यादि मुख को सुगन्धित करने वाली वस्तुओं का, घोड़ा, हाथी, रथ आदि सवारी का, जूते आदि पहनने का, शय्या-पलंग आदि का, सचित वस्तु के सेवन का तथा इनसे बचे हुए बाकी के सभी पदार्थों का जो परिमाण किया है, उसके सिवाय उपभोग तथा परिभोग में आने वाली वस्तुओं का त्याग करता हूँ।

उपभोग-परिभोग दो प्रकार का है—भोजन (भोग्य पदार्थ) सम्बन्धी और कर्म (जिन व्यापारों से भोग्य पदार्थ की प्राप्ति होती है उन वाणिज्य) सम्बन्धी। भोजन सम्बन्धी उपभोग-परिभोग के पांच और कर्म सम्बन्धी उपभोग-परिभोग के पन्द्रह, इस तरह इस व्रत के कुल बीस अतिचार

होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं, उनकी आलोचना करता हूँ। यदि मैंने १. मर्यादा से अधिक सचित्त वस्तु का आहार किया हो, २. सचित्त वृक्षादि के साथ लगे हुए गोद आदि पदार्थों का आहार किया हो, ३. अमिन से बिना पकी हुई वस्तु का भोजन किया हो, ४. अधपकी वस्तु का भोजन किया हो, ५. तुच्छ औषधि का भक्षण किया हो तथा पन्द्रह कर्मदान का सेवन किया हो तो मैं उनकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरा सब पाप निष्फल हो।

एक बार उपयोग में आने वाली वस्तु आहारादि की गणना उपभोग में और बार-बार काम में आने वाली वस्त्र आदि वस्तु परिभोग में गिनी जाती है। जिनसे तीव्रतर कर्मों का आदान-ग्रहण बन्धन होता है, वे व्यवसाय या धन्धे कर्मदान हैं। उनकी सेव्या पन्द्रह है और अर्थ इस प्रकार है—

१. इंगालकर्म—लकड़ियों के कोयले बनाने का, भड़भूंजे का, कुंभार का, लोहार का, सुनार का, ठंडेरे-कसेरे का और ईंट पकाने का धन्धा करना 'अंगारकर्म' कहलाता है।

२. बनकर्म—बनस्पतियों के छिन्न या अच्छिन्न पत्तों, फूलों या फलों को बेचना तथा अनाज को दलने या पीसने का धन्धा करना 'बनजीविका' है।

३. शकटकर्म—छकड़ा, गाढ़ी आदि या इनके पहिया आदि लंगों को लगाने, बनवाने, चलाने तथा बेचने का धन्धा करना 'शकटजीविका' है।

४. भाटककर्म—गाढ़ी, बैल, भैंसा, ऊंट, गधा, खच्चर आदि पर भार लादने की अर्थात् इनसे भाड़ा-किराया कमाकर आजीविका चलाना 'भाटकजीविका' है।

५. स्फोटकर्म—तालाब, कूप, बावड़ी आदि खुदवाने और पत्थर फोड़ने-गढ़ने आदि पृथ्वी-काय की प्रचुर हिसा रूप कर्मों से आजीविका चलाना^१ 'स्फोटजीविका' है।

६. दन्तवाणिज्य—हाथी के दाँत, चमरी गाय आदि के बाल, उलूक आदि के नाखून, शंख आदि को ग्रस्ति, शेर-चीता आदि के चर्म और हंस आदि के रोम और अन्य व्रस-जीवों के अंगों को उनके उत्पत्ति स्थान में जाकर लेना या पेशगी द्वय देकर खरीदना 'दन्तवाणिज्य' कहलाता है।

७. लाक्षावाणिज्य—लाख, मेनसिल, नील, धातकी के फूल, छाल आदि, टंकण-खार आदि पाप के कारण है, अतः उनका व्यापार भी पाप का कारण है। यह 'लाक्षा-वाणिज्य' कर्मदान कहलाता है।

८-९. रस-केश-वाणिज्य—मवखन, चर्बी, मघु और मद्य आदि बेचना 'रसवाणिज्य' कहलाता है और द्विपद एवं चतुष्पद अर्थात् पशु-पक्षी आदि का विक्रय करने का धन्धा करना 'केशवाणिज्य' कहलाता है।

१०. विषवाणिज्य—विष, शस्त्र, हल, यंत्र, लोहा और हरताल आदि प्राणघातक वस्तुओं का व्यापार करना 'विषवाणिज्य' कहलाता है।

१. बन से घास, लकड़ी काट कर लाना और बेचना।

२. जमीन फोड़कर खनिज पदार्थ निकालना, बेचना।

११. यंत्रपीडनकर्म—तिल, ईख, सरसों और एरंड आदि को पीलने का तथा रहट आदि चलाने का धंधा करना, तिलादि देकर तेल लेने का धंधा करना और इस प्रकार के यंत्रों को बनाकर आजीविका चलाना 'यंत्रपीडनकर्म' कहलाता है।

१२. निलीच्छनकर्म—जानवरों की नाक बीधना—नत्थी करना, आंकना—डाम लगाना, बधिया- खस्सी करना, ऊंट आदि की पीठ गालना और कान तथा गल-कंबल का छेदन करना 'निलीच्छनकर्म' कहा गया है।

१३. असतीपोषणकर्म मैना, तोता, बिल्ली, कुत्ता, मुर्ग एवं मयूर को पालना, दासी का पोषण करना - किसी को दास-दासी बनाकर रखना और पेसा कमाने के लिए दुश्शील स्त्रियों को रखना 'असती पोषणकर्म' कहलाता है।

१४-१५. दबवाव तथा सरक्षोषणकर्म—आदत के बश होकर या पुण्य समझ कर दब-जंगल में आग लगाना 'दब-दाव' कहलाता है और तालाब, नदी, द्रह आदि को सुखा देना 'सरक्षोषकर्म' है।

टिष्ठण - उक्त पञ्चह कर्माद्वय दिग्दर्शन के लिए है। इनके समान विशेष हिंसाकारी अन्य व्यापार-धंधे भी हैं, जो श्रावक के लिए त्याज्य हैं। यही बात अन्यान्य व्रतों के अतिचारों के संबंध में भी समझती चाहिए। एक-एक व्रत के पांच-पांच अतिचारों के समान अन्य अतिचार भी व्रत रक्षा के लिए त्याज्य हैं।

—योगशास्त्र, तृतीय प्र. १०१-११३

८. अनर्थदण्डविरमणव्रत के अतिचार

आठवाँ ग्रन्थाद्वयविरमणव्रत अउक्तिहे श्रणद्वादंडे पण्णते तं जहा अवज्ञाणायरिए पमायायरिए हिंसाप्ययाणे पावकम्मोवएसे (जिसमें आठ आगार—ग्राए वा, राए वा, नाए वा, परिवारे वा, बेवे वा, नागे वा, जक्खे वा, भूए वा, एत्तिएहि आगारेहि श्रणस्थ) जावउजीवाए दुक्खिं तिक्खिहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, बयसा, कायसा एवं आठवाँ श्रणद्वाद्वयविरमणव्रत के पांच ग्रहयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोऊँ—कंदप्पे कुक्कुइए भोहरिए संजुत्ताहिगरणे जब-भोगपरिभोगाइरिते तस्स मिच्छा मि दुक्कड़े।

भावार्थ विना प्रयोजन दोषजनक-हिंसाकारी कार्य करना अनर्थदण्ड है। इसके चार भेद हैं - अपध्यान, प्रमादचर्या, हिंसादान और पापोपदेश। इष्ट संयोग एवं अनिष्ट वियोग की चिता करना, दूसरों की हानि पहुँचाने आदि का विचार करना अर्थात् मन में किसी भी प्रकार का दुर्ध्यान करना अपध्यान है। असावधानी से काम करना, धार्मिक कार्यों को त्याग कर दूसरे कार्यों में लगे रहना प्रमादचर्या है। दूसरों को हल, ऊखल-मूसल, तलबार-बन्दूक आदि विना प्रयोजन हिंसा के उपकरण देना हिंसादान है। पाप कार्यों का दूसरों को उपदेश देना पापोपदेश है।

मैं इन चारों प्रकार के अनर्थदण्ड का त्याग करता हूँ। (यदि आत्मरक्षा के लिए, सज्जा की आज्ञा से, जाति के तथा परिवार के, कुटुम्ब के मनुष्यों के लिए, यथा, भूत आदि देवों के वशीभूत होकर अनर्थदण्ड का सेवन करना पड़े तो इनका आगार (अपवाद-छूट) रखता हूँ। इन आगारों के सिवाय) मैं जन्मपर्यन्त अनर्थदण्ड का मन, वचन, काया से स्वर्य सेवन नहीं करूँगा और न कराऊँगा।

यदि मैंने काम जागृत करने वाली कथाएँ की हों, भांडों की तरह दूसरों को हँसाने के लिए हँसी-दिलगी की हो या दूसरों की नकल की हो, निरर्थक बकवाद किया हो, तलवार, ऊखल, भूसल आदि हिसाकारी हथियारों या औजारों का निष्प्रयोजन संग्रह किया हो, मकान बनाने आदि आरंभ-हिसा का उपदेश दिया हो, अपनी तथा कुटुम्बियों की आवश्यकताओं के सिवाय अप्र, वस्त्र आदि का संग्रह किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और मैं उसका हूँ कि देरे सड़ जाए निष्काय हैं।

६. सामायिकदत्त के अतिकार

नववार्ता सामायिकदत्त सावज्ज्ञं जोगं पञ्चकण्ठाभि जावनिष्टमं पञ्जुधासामि, दुष्विहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा, ऐसी सद्बहणा प्रलृपणा तो है, सामायिक का अवसर आए सामायिक कर्त्ता तथा फरसना करके शुद्ध होऊँ एवं नवमे सामायिकदत्त के पंच आइयारा जाणियच्छा न समायरियच्छा, तं जहा ते आलोउ—भणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सह अकरणया, सामाइयस्स अणवद्वियस्स करणया तस्स मिच्छा मि दुवकडं।

आवार्थ——मैं मन-वचन-काया की दुष्ट प्रवृत्ति को त्याग कर जितने काल का नियम किया है, उसके अनुसार सामायिकदत्त का पालन करूँगा। मन में बुरे विचार उत्पन्न नहीं होने से, कठोर या पापजनक वचन नहीं बोलने से, काया की हलन-चलन आदि क्रिया को रोकने से आत्मा में जो शांति-समाधि उत्पन्न होती है, उसको सामायिक कहते हैं। इसलिए मैं नियमपर्यन्त मन, वचन, काया से पापजनक क्रिया न करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा। यदि मैंने सामायिक के समय में बुरे विचार किए हों, कठोर वचन या पापजनक वचन बोले हों, अयतनापूर्वक शरीर से चलना-फिरना, हाथ पांव को फैलाना-संकोचना आदि क्रियाएँ की हों, सामायिक करने का काल याद न रखा हो तथा अल्प-काल तक या अनवस्थित रूप से जैसे-तैसे ही सामायिक की हो तो (तस्स मिच्छा मि दुवकडं) मैं आलोचना करता हूँ। मेरा वह सब पाप निष्फल हो।

१०. देशावकाशिकदत्त के अतिकार

दसवार्ता देशावगासिकदत्त दिन प्रति प्रभात से प्रारंभ करके पूर्वाविक छहों दिशा में जितनी शूमिका की मर्यादा रखती हो, उसके उपरान्त शरणे जाने का तथा दूसरों को भेजने का पञ्चकण्ठाण जाव अहोरसं दुष्विहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा। जितनी भूमिका की मर्यादा रखती है, उसमें जो द्रव्याविक की मर्यादा की है, उसके उपरान्त उपभोग-परिभोग निभित्त से भोगने का पञ्चकण्ठाण जाव अहोरसं एविहं, तिविहेणं न करेमि मणसा, वयसा, कायसा, एवं दसवें देशावगासिक दत्त के पंच आइयारा जाणियच्छा न समायरियच्छा, तं जहा ते आलोउ—अणवणप्पओगे, पेसदणप्पओगे, सदाणुवाए, रुद्याणुवाए, बहिया पुरगलपक्षेवे, तस्स मिच्छा मि दुवकडं।

आवार्थ——छठे दिव्यदत्त में सदा के लिए जो दिशाओं का परिमाण किया है, देशावकाशिक दत्त में उसका प्रतिदिन संकोच किया जाता है। मैं उस संकोच किये गये दिशाओं के परिमाण से बाहर के क्षेत्र में जाने का तथा दूसरों को भेजने का त्याग करता हूँ। एक दिन और एक रात तक

परिमाण की गई दिशाओं से आगे मन, वचन, काया से न स्वयं जाऊंगा और न हूसरों को भेजूंगा । मर्यादित क्षेत्र में द्रव्यादि का जितना परिमाण किया है, उस परिमाण के सिवाय उपभोग-परिभोग निमित्त से भोगने का त्याग करता है । मन, वचन, काया से मैं उनका सेवन नहीं करूँगा । देशावकाशिक व्रत की आराधना में यदि मैंने मर्यादा से बाहर की कोई वस्तु मंगाई हो, मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में किसी वस्तु को मंगाने के लिए या लेन-देन करने के लिए किसी को भेजा हो, मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में रहने वाले मनुष्य को शब्द करके अपना ज्ञान कराया हो, मर्यादा से बाहर के मनुष्यों को बुलाने के लिए अपना या पदार्थ का रूप दिखाया हो या कंकर आदि फेंककर अपना ज्ञान कराया हो तो मैं आलोचना करता हूँ । मेरा वह सब पाप निष्फल हो ।

११. पौष्टिकव्रत के अतिचार

ग्यारहवां पठियुण्णपीषधव्रत—असणं पाणं खाइमं साइमं का पञ्चकखाण, अबंभसेवन का पञ्चकखाण, अमुक मणि-सुवर्ण का पञ्चकखाण, माला-बन्नग-विलेवण का पञ्चकखाण, सरथ मूसलादिक सावज्ज जोग सेवन का पञ्चकखाण आदि अहोरत्तं पञ्चवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि मणसा, वथसा, कायसा, ऐसी नहीं सद्गुणा तो हैं, पौष्टि का अवसरे पौष्टि करूँ तब फर-सना करके शुद्ध होऊँ एवं ग्यारहवां प्रतिपूर्णपौष्टिकव्रत का पंच अह्यारा जाणियज्वा न समायरि-यज्वा, तं जहा ते आलोड़—अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय सेवजासंथारए, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय सेवजा-संथारए, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय उच्चारणासवणभूमि, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय उच्चार-पासवणभूमि, पोसहस्त सम्बं अणणुपालणया, तस्स मिच्छा मि दुक्कड़े ।

भावार्थ—मैं प्रतिपूर्ण पौष्टिकव्रत के विषय में एक दिन एवं रात के लिए अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ । अब्रहार्चर्य सेवन का, अमुक मणि-सुवर्ण आदि के आभूषण पहिनने का, फूलमाला पहिनने का, चूर्ण और चन्दनादि के लेप करने का, तलवार आदि शस्त्र और हल, मूसल आदि औजारों के प्रयोग संबंधी जितने सावद्य व्यापार हैं, उन सबका त्याग करता हूँ । यावत् एक दिन-रात पौष्टिकव्रत का पालन करता हुआ मैं उक्त पाप-क्रियाओं को मन, वचन, काया से नहीं करूँगा और न अन्य से करवाऊंगा, ऐसी मेरी थदा-प्ररूपणा तो है किन्तु पौष्टि का समय आने पर जब उसका पालन करूँगा तब शुद्ध होऊँगा । पौष्टिकव्रत के समय शय्या के लिए जो कुश, कम्बल आदि आसन हैं उनका मैंने प्रतिलेखन और प्रमार्जन नहीं किया हो अथवा यतनापूर्वक अच्छी तरह प्रतिलेखन और प्रमार्जन न किया हो, मल-मूत्र त्याग करने की भूमि का प्रतिलेखन और प्रमार्जन न किया हो अथवा अच्छी तरह से न किया हो तथा सम्यक् प्रकार आगमोक्त मर्यादा के अनुसार पौष्टि का पालन न किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरा सब पाप निष्फल हो ।

१२. अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार

बारहवां अतिथिसंविभागव्रत—तमणे निमांथे फासुयएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइम-वथ्थ-पठिग्गह-कंबल-पायपुंछणेषं पठिहारिय-पीढ़-फलक-सेवजा-संथारएणं ओसह-भेलज्जेणं पठि-लाभेमाणे विहरामि, ऐसी मेरी सद्गुणा प्ररूपणा है, साधु-साध्वी का थोग मिलने पर निर्दोष दान हूँ

तब शुद्ध होऊँ एवं बारहवें अतिथिसंविभागन के पंच आह्यारा जाणियज्वा न समायरियथा, तं जहा
ते आलोङ्म—सचित्तनिक्षेपणया, सचित्पिहणया, कालाइकमे, परववएसे, मच्छरियाए । जो मे
देवासिद्धो आह्यारो कग्रो तस्स मिळाला मि दुष्कड़ ।

भावार्थ—मैं अतिथिसंविभागन का पालन करने के लिए निर्गन्ध साधुओं को अचित्त, दोष
रहित अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार का, वस्त्र पात्र कम्बल पाद-पौद्धन, चौकी, पट्टा, संस्तारक
शौधिं आदि का साधु-साठवी का योग मिलने पर दान दृ तब शुद्ध होऊँ, ऐसी मेरी श्रद्धा प्रस्तुपणा
है । यदि मैंने साधु के योग्य अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु पर रखा हो, अचित्त वस्तु को सचित्त
वस्तु से ढका हो, भोजन के समय से पहले या पीछे साधु को भिक्षा के लिए प्रार्थना की हो, दान
देने योग्य वस्तु को दूसरे की बता कर साधु को दान नहीं दिया हो, दूसरे को दान देते ईर्ष्या की हो,
मत्सरभाव से दान दिया हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरा वह सब पाप
निष्फल हो ।



पञ्चमाद्ययन : कायोटसर्ग

पांचवां आवश्यक कायोत्सर्ग है। निर्णय-परम्परा का यह एक पारिभाषिक शब्द है। ये 'काय' और 'उत्सर्ग' शब्दों के मिलने से यह शब्द निष्पत्र हुआ है, किन्तु इसका अर्थ काय—शरीर का उत्सर्ग—त्याग करना नहीं, वरन् शरीर के ममत्व का त्याग करना है। समस्त जागतिक वस्तुओं पर जो ममत्वभाव उत्पन्न होता है, उसका भूल शरीर ही है। जिस साधक के मन में शरीर के प्रति ममता न रह जाए, अन्य प्रत्यक्षतः मिल दिखने वाले पदार्थों पर उसमें ममता रह ही नहीं सकती। मुक्तिपथ का पथिक साधक प्रभु के समक्ष इसीलिए यह प्रार्थना—कामना करता है—

शरीरतः कर्तुं मनन्तशक्तिः,
विभिन्नमात्मानमपास्त्रोषम् ।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खद्गयष्टि,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥ — शाचार्य अमितगति

अर्थात् हे जिनेन्द्र ! आपके प्रसाद से मुझमें ऐसी शक्ति आविर्भूत हो जाए कि मैं अपने आपको—अपने आत्मा को उसी प्रकार शरीर से पृथक् कर सकूँ, जिस प्रकार म्यान से तलबार को पृथक् कर लिया जाता है।

इस प्रकार की कामना करते-करते साधक एक दिन उस उच्च स्थिति पर पहुँच जाता है, जिसके लिए आगम निर्देश करता है—

‘श्रवि अप्यणो चि देहस्मि नायरंति भमाइयं ।’ — दशवेकालिक

अर्थात् अपने देह पर भी साधक का भमभाव नहीं रहता।

इस प्रकार देह में रहते हुए भी देहातीत दशा प्राप्त हो जाना महत्वपूर्ण साधना है। इसी को प्राप्त करने के स्पृहणीय उद्देश्य से कायोत्सर्ग किया जाता है और इसे आवश्यकों में परिणित किया है। यह एक प्रकार का प्रायशिक्ति भी है, जिसके द्वारा पूर्वकृत पापों का विनाश होता है और साधना में निर्मलता आती है—

तस्य उत्तरीकरणेण, पाष्ठचिठ्ठकरणेण, विसोहीकरणेण, विसल्लीकरणेण पत्वाणं कम्माणं णिरधायणद्वाए ठामि कावस्त्वाणं ।

अर्थात् संयम को अधिक उच्च बनाने के लिए, प्रायशिक्ति करने के लिए, विशुद्धि करने के लिए, आत्मा को शल्यरहित करने के लिए और पाप-कर्मों का समूल नाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

कायोत्सर्ग दो प्रकार का है—द्रव्यकायोत्सर्ग और भावकायोत्सर्ग। शारीरिक चेष्टाओं—व्यापारों का त्याग करके, जिन-मुद्रा से एक स्थान पर निश्चल खड़े रहना द्रव्यकायोत्सर्ग है। आत्म

और रीढ़ ध्यानों का त्याग कर धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में निरत होना, मन में शुभ भावनाओं का प्रवाह बहाना, आत्मा को अपने शुद्ध मूलस्वरूप में प्रतिष्ठित करना।

‘सो पुण काउत्सर्गो दब्बतो भावतो य भवति, दब्बतो कापचेट्टानिरोहो, भावतो काउत्सर्गो भाणः ।’
—आचार्य जिनदास

उत्तराध्ययनसूत्र में कायोत्सर्ग को समस्त दुःखों से सर्वथा मुक्त करने वाला कहा गया है।

कायोत्सर्ग हो अथवा अन्य कोई क्रिया, भावपूर्वक करने पर ही वास्तविक फलप्रद होती है। ऊपर कायोत्सर्ग का जो महत्व प्रदर्शित किया गया है, वह वस्तुतः भावपूर्वक किये जाने वाले कायोत्सर्ग का ही महत्व है। भावविहीन मात्र द्रव्यकायोत्सर्ग आत्मविशुद्धि का कारण नहीं होता। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए एक आचार्य ने कायोत्सर्ग के चार रूपों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—

१. उत्थित-उत्थित—कायोत्सर्ग करने वाला साधक जब द्रव्य के साथ भाव से भी खड़ा होता है अर्थात् दुर्घटना से हट कर जब धर्म-शुक्लध्यान में रमण करता है, तब वह उत्थित-उत्थित कायोत्सर्ग करता है। यह रूप सर्वथा उपादेय है।

२. उत्थित-निविष्ट—द्रव्य से खड़ा होना, भाव से खड़ा न होना अर्थात् दुर्घटना करना। यह रूप हेय है।

३. उपदिष्ट-उत्थित—कोई अशक्त या अतिवृद्ध साधक खड़ा नहीं हो सकता, किन्तु भाव से खड़ा होता है—शुभध्यान में लीन होता है, तब वह कायोत्सर्ग उपदिष्ट-उत्थित कहलाता है। यह रूप भी उपादेय है।

४. उपदिष्ट-निविष्ट—कोई प्रमादशील साधक जब शरीर से भी खड़ा नहीं होता और भाव से भी खड़ा नहीं होता तब कायोत्सर्ग का यह रूप होता है। यह वास्तव में कायोत्सर्ग नहीं, किन्तु कायोत्सर्ग का दम्भमात्र है।

पंचम आवश्यकरूप कायोत्सर्ग करते समय यद्यपि अन्यान्य पाठों का भी उच्चारण किया जाता है, परन्तु ‘लोगस्स’ का ध्यान ही इसका प्रमुख अंग है। अन्यत्र उल्लिखित विधि से यह सब स्पष्ट हो जाएगा ।



षष्ठाईयन : प्रत्याख्यान

इसविहे पच्चक्षणे पण्णते, तं जहा—

‘अणागयमद्वक्तं, कोडीसहिं निर्यंटियं चेव ।
सागारमणागारं, परिमाणकुडं निरवसेसं ।
संकेयं चेव अद्वाए, पच्चक्षणं भवे दसहा ॥’

पिछले अध्ययनों में प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग द्वारा पूर्वसञ्चित कर्मों का क्षय कहा गया है। इस छठे अध्ययन में नवीन बंधने वाले कर्मों का निरोध कहा जाता है। अथवा पांचवें अध्ययन में कायोत्सर्ग द्वारा अतिचार रूप व्रत की चिकित्सा का निरूपण किया गया है। चिकित्सा के अनन्तर गुण की प्राप्ति होती है, जहाँ ‘गुणशास्त्र’ नामक इह प्रत्याख्यान इत्यायन में मूलोत्तर गुण की धारणा कहते हैं।

भविष्य में लगने वाले पापों से निवृत्त होने के लिए गुरुसाक्षी या आत्मसाक्षी से हेय वस्तु के त्याग करने को प्रत्याख्यान कहते हैं। प्रत्याख्यान भविष्यत्कालिक पापों का निरोधक है। वह दस प्रकार का है—

(१) अवागत—वैयाकृत्य आदि किसी अनिवार्य कारण से, नियत समय से पहले ही तप कर लेना।

(२) अतिक्रान्त—कारणवश नियत समय के बाद तप करना।

(३) कोटिसहित—जिस कोटि (नवुर्थभक्त आदि के क्रम) से तप प्रारम्भ किया, उसी से समाप्त करना।

(४) नियन्त्रित—वैयाकृत्य आदि प्रबल कारणों के हो जाने पर भी संकल्पित तप का परित्याग न करना। (यह प्रत्याख्यान वच्चक्रृष्टभनाराच्चसंहननधारी अनगार ही कर सकते हैं।)

(५) साकार—जिसमें उत्सर्ग (अवश्य रखने योग्य अण्णत्वणाभोग और सहसागाररूप) तथा अपवाद रूप आगार रखे जाते हैं, उसे साकार या सागार कहते हैं।

(६) अनाकार—जिस तप में अपवादरूप आगार न रखे जाएं, उसे अनाकार कहते हैं।

(७) परिमाणकृत—जिसमें दत्ति आदि का परिमाण किया जाय।

(८) निरवशेष—जिसमें अशनादि का सर्वथा त्याग हो।

(९) संकेत—जिसमें मुट्ठी खोलने आदि का संकेत हो, जैसे—“मैं जब तक मुट्ठी नहीं खोलूँगा तब तक मेरे प्रत्याख्यान है” इत्यादि।

(१०) अद्वाप्रत्याख्यान—मुहूर्त, पौरुषी आदि काल की श्रवणि के साथ किया जाने वाला प्रत्याख्यान ।

१. नमस्कारसहितसूत्र

उगाए सूरे नमोक्तारसहितं पञ्चकलाभिः चउद्धिष्ठहं पि आहारं—असर्ण, पाणं, खाइमं, साइमं । अन्नस्त्रियाभोगेण, सहसामारेण, बोसिरामि ।

भावार्थ—सूर्य उदय होने पर नमस्कारसहित—दो घण्टी दिन चढ़े तक का (नोकारसी का) प्रत्याख्यान ग्रहण करता हूँ और अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम—इन चारों ही प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ ।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान में दो आगार अर्थात् अपवाद हैं—अनाभोग—अत्यन्त विस्मृति और सहसाकार—शीघ्रता (अचानक) । इन दो आगारों के सिवा चारों आहार बोसिराता हूँ—त्याग करता हूँ ।

विवेचन—नमस्कारसहित अर्थात् सूर्योदय से लेकर दो घण्टी दिन चढ़े तक यानी मुहूर्त भर के लिये नमस्कार पढ़े बिना आहार ग्रहण नहीं करना । साधारण बोलचाल की भाषा में इसे 'नवकारसी' (नोकारसी) कहते हैं ।

चार प्रकार का आहार

(१) अशन—इसमें दोहरे चावल साहि आसी प्रसार का भोजन आ जाता है ।

(२) पान—दूध, पानी आदि सभी वीने योग्य चीजें पान में समाविष्ट हैं । किन्तु परम्परा के अनुसार यहाँ पान से केवल जल ही ग्रहण किया जाता है ।

(३) खादिम—मेवा, फल आदि । कुछ आचार्य मिष्टान्न को अशन में ग्रहण करते हैं और कुछ खादिम में ।

(४) स्वादिम—लौंग, इलायची, सुपारी आदि मुख्यास को स्वादिम माना है । इस आहार में उदरपूर्ति की दृष्टि न होकर मुख्यतया मुख के स्वाद की दृष्टि होती है ।

संस्कृत भाषा का 'आकार' ही प्राकृत भाषा में 'आगार' कहलाता है । आकार का अर्थ—अपवाद माना जाता है । अपवाद का अर्थ है—यदि किसी विशेष स्थिति में त्याग की हुई वस्तु सेवन कर ली जाए या करनी पड़े जाए तो प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है । अतएव व्रत अंगीकार करते समय आवश्यक आगार खेना चाहिये । ऐसा न करने पर व्रत भंग की संभावना रहती है—

'आक्रियसे विद्यीयते प्रत्याख्यानभंगपरिहारार्थमित्याकारः'—'प्रत्याख्यानं च अपवादरूपाकार-सहितं कर्त्तव्यम्, अन्यथा तु भंगः स्यात् ।'

—आचार्य हेमचन्द्र (योगशास्त्र)

अनाभोग और सहसाकार दोनों ही आगारों के सम्बन्ध में यह बात है कि जब तक पता न चले, तब तक तो व्रत भंग नहीं होता । परन्तु पता चल जाने के बाद भी मुख में ग्रास ले लिया हो और उसे थूके नहीं एवं आगे खाना बन्द नहीं करे तो व्रत भंग हो जाता है । अतः साधक का कर्त्तव्य है कि जैसे ही पता चले, भोजन बन्द कर दे और जो कुछ मुख में हो, वह सब यतना के साथ थूक दे । ऐसा न करे तो व्रत भंग हो जाता है ।

२. पौरषीसूत्र

उभा ए सूरे पोरिसि पञ्चकल्पामि; चउद्धिहं पि आहारं—असरं, पाणं, खाइमं, साहमं ।

अन्नत्यऽणाभोगेण, सहसागारेण, पञ्चश्चकालेण, दिशामोहेण, साधुवयणेण, सञ्चसमाहिति-यागारेण, बोसिरामि ।

भावार्थ—पौरषी का प्रत्याख्यान करता है। सूर्योदय से लेकर अज्ञान, पान, खादिम और स्वादिम चारों ही प्रकार के आहार का एक प्रहर दिन चढ़े तक त्याग करता है।

इस व्रत के आगार छह हैं—(१) अनाभोग, (२) सहसाकार, (३) प्रच्छन्नकाल, (४) दिशामोह, (५) साधुवचन, (६) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। इन छह आकारों के सिवाय पूर्णतया चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है।

विवेचन—सूर्योदय से लेकर एक प्रहर दिन चढ़े तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, पौरषी-प्रत्याख्यान है।

पौरषी का शाब्दिक अर्थ है—‘पुरुष-प्रमाण छाया।’ एक प्रहर दिन चढ़ने पर मनुष्य की छाया घटते-घटते अपने शरीर प्रमाण लम्बी रह जाती है। इसी भाव को लेकर ‘पौरषी’ शब्द प्रहर-परिमित कालविशेष के अर्थ में लक्षण वृत्ति के द्वारा रूढ़ हो गया है।

पौरषी के छह आगार इस प्रकार हैं

(१) अनाभोग—प्रत्याख्यान की विस्मृति—उपयोगशुन्यता हो जाने से भोजन कर लेना।

(२) सहसाकार—अकस्मात् जल आदि का मुख में चले जाना।

(३) प्रच्छन्नकाल—बादल अथवा आंधी आदि के कारण सूर्य के ढक जाने से पौरषी पूर्ण हो जाने की झान्ति से आहार कर लेना।

(४) दिशामोह—पूर्व को पश्चिम समझ कर पौरषी न आने पर भी सूर्य के ऊंचा चढ़ आने की झान्ति से अशनादि सेवन कर लेना।

(५) साधुवचन—‘पौरषी आ गई’ इस प्रकार किसी आप्त पुरुष के कहने पर बिना पौरषी आए ही पौरषी का पारण कर लेना।

(६) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—किसी आकस्मिक शूल आदि तीव्र रोग की उपशांति के लिए ग्रीष्मि आदि ग्रहण करना।

प्रच्छन्नकाल, दिशामोह और साधुवचन, उक्त तीनों आगारों का अभिप्राय यह है कि झान्ति के कारण पौरषी पूर्ण न होने पर भी पूर्ण समझकर भोजन कर ले तो व्रत भंग नहीं होता है। यदि भोजन करते समय यह मालूम हो जाए कि अभी पौरषी पूर्ण नहीं हुई है तो उसी समय भोजन करना छोड़ देना चाहिए।

पौरषी के समान ही सार्धपौरषी-प्रत्याख्यान, भी होता है। इसमें डेढ़ प्रहर दिन चढ़े तक आहार का त्याग करना होता है। अतः जब उक्त सार्धपौरषी का प्रत्याख्यान करता हो तब ‘पोरिसि’ को स्थान पर ‘सङ्घपोरिसि’ पाठ बोलना चाहिए।

३. पूर्वार्धसूत्र

उग्रए सूरे, पुरिमड़ुं पच्चक्षामि; चरचिहुं पि आहारं—प्रसणं, पाण, खाइमं, साइमं ।

अग्नत्यज्ञाभोगेण, सहसागारेण, पच्छन्नकालेण, विसामोहेण, साधुवयणेण, महत्तरागारेण, सब्बसमाहित्यागारेण दोसितमि ।

भावार्थ—सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्वार्ध तक अर्थात् दो प्रहर तक चारों प्रकार के आहार—श्रान्त, पान, खादिम, स्वादिम का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन, महत्तराकार और सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार, इन सात आगारों के सिवाय पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ ।

विवेचन--यह पूर्वार्ध-प्रत्याख्यान का सूत्र है । इसमें सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्व भाग तक अर्थात् दो प्रहर दिन चढ़े तक चारों तरह के आहार का त्याग किया जाता है ।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान में सात आगार माने गए हैं । छह तो पूर्वोक्त पौरुषी के ही आगार हैं, सातवां आगार महत्तराकार है । 'महत्तराकार' में 'महत्तर' शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया गया है—महत्तर अर्थात् अपेक्षाकृत महान् पुरुष आचार्य, उपाध्याय आदि गच्छ या संघ के प्रमुख तथा अपेक्षाकृत महान् निर्जरा बाला कोई प्रयोजन या कार्य, तदनुसार अर्थ है कि महान् - अपेक्षाकृत अधिक निर्जरा को ध्यान में रखकर रोगी आदि की सेवा के लिए या श्रमणसंघ के किसी अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए निश्चित समय से पहले ही प्रत्याख्यान पार लेना । यहाँ महत्तर का अर्थ है—महान् निर्जरा-साधक प्रयोजन । यथा आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है—

'महत्तरं—प्रत्याख्यानपालनवशालनभ्यनिर्जरापेक्षया वृहत्तरनिर्जरालाभहेतुभूतं, पुरुषाल्लरेण साधयितुमशक्यं ग्लानवैत्यसंघादि-प्रयोजनं, सर्वेष आकारः—प्रत्याख्यानापवादो महत्तराकारः ।'

अर्थात्--प्रत्याख्यान के पालन से जितनी निर्जरा होती है, उससे भी महान् निर्जरा का कारण एवं किसी अन्य पुरुष से जो न हो सकता हो, ऐसा कोई रुग्णमुनि की सेवा या संघ संबंधी कोई प्रयोजन उपस्थित हो जाना महत्तराकार है । ऐसी स्थिति में यदि समय से पूर्व आहार ग्रहण कर लिया जाए तो व्रतभर्ग नहीं होता । इस अर्थ के अनुसार आचार्यादि के आदेश के बिना भी व्रतधारी अपने विवेक से ही इस आगार का सेवन कर सकता है ।

किन्तु आचार्य नमि प्रतिक्रमण-सूत्र वृत्ति में लिखते हैं—

"अतिशयेन महान् महत्तर आचार्यादिस्तस्य अच्छेन मर्यादिया करणं महत्तराकारो, यथा केनादि साधुना भक्तं प्रत्याख्यातं, ततश्च कुल-गण-संघादि-प्रयोजनमनन्यसाध्यसुत्यन्तं, तत्र चासो महत्तरेराचार्यच्छिन्नियुक्तः, ततश्च यदि शक्नोति तथेष कतुं लब्दा करोति; अथ न, तदा महत्तर-कादेशेन भुङ्गानस्य न भंग इति ।"

तात्पर्य यह है—जो बहुत महान् हों, वे आचार्यादि महत्तर कहलाते हैं । उनके आदेश से मर्यादापूर्वक जो किया जाए वह महत्तरागार कहलाता है । यथा—किसी साधु ने आहार का त्याग किया । उसके पश्चात् कुनै, गण या संघ आदि का कोई कार्य आ पड़ा और वह कार्य भी ऐसा कि

दूसरे के द्वारा हो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में यदि प्रत्याख्यान का पालन करता हुआ उस कार्य को कर सके तो करे। यदि प्रत्याख्यान के साथ वह कार्य सम्पन्न न कर सके तो आहार कर ले। इस अवस्था में प्रत्याख्यान भंग नहीं होता। इस अर्थ के अनुसार आचार्यादि महान् पुरुष 'महत्तर' हैं। उनके आदेश से ही यह आगार सेवन किया जा सकता है।

पूर्वीष्ठ-प्रत्याख्यान के समान ही अपार्ध-प्रत्याख्यान भी होता है। अपार्ध-प्रत्याख्यान का अर्थ है - तीन प्रहर दिन चढ़े तक आहार ग्रहण न करना। अपार्ध-प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय 'पुरिमढ़' के स्थान में 'अवड़' पाठ बोलना चाहिये। शेष पाठ दोनों प्रत्याख्यानों का समान है।

४. एकासनसूत्र

एगासणं पञ्चवस्त्वामि तिविहं पि आहारं असणं, खाद्यमं, साइमं ।

अन्नत्वदण्मोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, आउटण-पसारणेणं, गुह-प्रब्लूट्ठानेणं, पारिद्धावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सर्वसमाधिवत्यागारेण बोसिरामि ।

भावार्थ—मैं एकाशन तप स्वीकार करता हूँ। फलतः अशन, खादिम और स्वादिम—इन तीनों प्रकार के आहारों का प्रत्याख्यान करता हूँ। इस व्रत के आगार आठ हैं, यथा—

(१) अनाभोग, (२) सहसागार, (३) सागारिकाकार, (४) आकुञ्चन-प्रसारण, (५) गुर्वभ्युत्थान, (६) पारिष्ठापनिकाकार, (७) महत्तराकार, (८) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। उक्त आठ आहारों के सिवा आहार का त्याग करता हूँ।

द्विवेचन दिन में एक बार भोजन करना, एकाशन तप कहलाता है। एकाशन का अर्थ है—एक + अशन,^१ अर्थात् एक बार भोजन करना।

प्रत्याख्यान, गृहस्थ तथा साधु दोनों के लिए समान ही है। फिर भी गृहस्थ को ध्यान रहे कि वह एकाशन में अचित्त अर्थात् प्रासुक आहार-पानी ही ग्रहण करे। साधु को तो यावज्जीवन के लिए अप्रासुक आहार का त्याग ही है। शावक को मूल पाठ बोलते समय 'पारिद्धावणियागरेण' पाठ नहीं बोलना चाहिए।

एकाशन और द्विकाशन में भोजन करते समय तो यथेच्छ चारों आहार लिए जा सकते हैं, परन्तु भोजन के बाद शेषकाल में भोजन का त्याग होता है। यदि एकाशन तिविहार करना हो तो शेषकाल में पानी पिया जा सकता है। यदि चउविहार करना हो तो पानी भी नहीं पिया जा सकता। यदि दुविहार करना हो तो भोजन के बाद पानी तथा स्वादिम—मुखवास लिया जा सकता है। आज-

१. 'एगासण' प्राकृत-शब्द है, जिसके संस्कृत रूपान्तर दो होते हैं—'एकाशन' और 'एकासन'।

(१) 'एकाशन' का अर्थ है—एक बार भोजन करना।

(२) 'एकासन' का अर्थ है—एक आसन से भोजन करना।^२

'एगासण' में दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं। 'एकं सकृत् अशनं—भोजनं एकं वा आसनं पुताचलनतो यत्र प्रत्याख्याने तत्वेकाशनमेकाशनं वा, प्राकृते त्र्योरपि एगासणमिति रूपम्।'

--- प्रब्रह्मनसारोद्धार्त्वृत्ति

आचार्य हरिभद्र एकाशन की व्याख्या करते हैं कि एक बार बैठकर फिर न उठते हुए भोजन करना।

'एकाशनं नाम सहवृपविष्ट पताचालनेन भोजनम्।'

— आवश्यकवृत्ति

कल तिविहार एकाशन की प्रथा ही प्रचलित है, अतः मूलपाठ में 'तिविह' पाठ दिया है। यदि चउविहार करना हो तो 'चउविहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साहमं' ऐसा पाठ बोलना चाहिए।

दुविहार-एकाशन की परम्परा प्राचीनकाल में थी। आज के युग में इसका प्रचलन बहुत कम है, यद्यपि सर्वथा का अभाव नहीं है।

एकाशन में आठ आगार होते हैं। चार पहले आ चुके हैं, शेष चार इस प्रकार हैं—

१. सागारिकाकार—आगम की भाषा में सागारिक गृहस्थ को कहते हैं। गृहस्थ के आ जाने पर उसके सम्मुख भोजन करना निषिद्ध है। अतः सागारिक के आने पर साधु को भोजन करना छोड़कर यदि बीच में ही उठकर, एकान्त में जाकर पुनः दूसरी बार भोजन करना पड़े तो व्रत भंग नहीं होता है।

२. आकुञ्चनप्रसारण—भोजन करते समय सुन्न पड़े जाने पर हाथ, पैर आदि अंगों का सिकोड़ना या फैलाना।

३. गुर्वभ्युत्थान—गुरुजन एवं किसी अतिथिविशेष के आने पर उनका विनय-स्तकार करने के लिए उठना, खड़े होना।

प्रस्तुत आगार का आशय बड़ा ही महत्वपूर्ण है। गुरुजन एवं अतिथिजन के आने पर अवश्य ही उठकर खड़ा हो जाना चाहिए। उस समय यह भ्रांति नहीं रखनी चाहिए कि 'एकाशन में उठकर खड़े होने का विधान नहीं है। अतः उठने या खड़े होने से व्रत भंग के कारण मुझे दोष लगेगा।' गुरुजनों के लिए उठने में कोई दोष नहीं है, इससे व्रत भंग नहीं होता, प्रत्युत विनय तप की आराधना होती है। आचार्य सिद्धसेन लिखते हैं—

'गुरुणामभ्युत्थानाहृत्वादवश्यं भुञ्जानेनाऽप्युत्थानं कर्त्तव्यमिति, न तत्र प्रत्याल्प्यानभङ्गः।'

—प्रवचनसारोद्घारवृत्ति

४. पारिष्ठापनिकाकार—जैन मुनि के लिए विधान है कि वह अपनी आवश्यक क्षुधापूति के लिए परिभित मात्रा में ही आहार लाए, अधिक नहीं। तथापि कभी भ्रांतिवश यदि किसी मुनि के पास आहार अधिक आ जाय और वह परठना डालना पड़े तो आहार को मुरुदेव की आज्ञा से तपस्वी मुनि को ग्रहण कर लेना चाहिए।

आचार्य सिद्धसेन ने कहा है 'आहार को परठ देने में बहुत दोषों की सम्भावना रहती है और उसे ग्रहण भक्षण कर लेने में आगमिक न्याय के अनुसार गुण-लाभ है, अतएव गुरु की आज्ञा से पुनः उसका उपभोग कर लेने से व्रत-भंग नहीं होता।'

५. एगटूणपञ्चवक्षाण

एकाशनं एगटूणं पञ्चवक्षामि, तिविहं^२ पि आहारं असणं, खाइमं, साहमं।

अनन्त्यज्ञाभोगेण, सहसागारेण, सागारियागारेण, गुरुब्रह्मटूणेण, पारिद्वाविजियागारेण, महस्तरागारेण, सब्बसमाहिवत्यागारेण शोसिरामि।

१. प्रवचनसारोद्घारवृत्ति।

२. चारों प्रकार के आहार का त्याग करना हो तो 'चउविहं पि' ऐसा पाठ बोलना चाहिए।

भावार्थ—एकाशन रूप एकस्थान व्रत को ग्रहण करता हूँ। अशन, खादिम और स्वादिम तीनों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हूँ।

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार, (३) सागारिकाकार, (४) गुर्वभ्युत्थान, (५) पारिष्ठापनिकाकार, (६) महत्तराकार और (७) सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार—उक्त सात आगारों के सिवा पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—यह एकस्थान का सूत्र है। एकस्थानान्तर्गत 'स्थान' शब्द 'स्थिति' का वाचक है। अतः एक स्थान का फलितार्थ है—'दाहिने हाथ एवं मुख के अतिरिक्त शेष सब अंगों को हिलाए बिना, दिन में एक ही आसन से और एक ही बार भोजन करना। अथत् भोजन प्रारम्भ करते समय जो स्थिति, जो अंगविन्यास हो, जो आसन हो, उसी स्थिति, अंगविन्यास एवं आसन से भोजन की समाप्ति तक बैठे रहना चाहिए।'

आचार्य जिनदास ने आवश्यकचूणि में एक स्थान की यही परिभाषा की है—'एकटुणे जं जथा अंगुवंगं ठवियं तहेव समुद्दिसितवं, आगारे से आउटणपसारणं तत्थं, सेसा सत्त तहेव।'

एक स्थान की अन्य विधि सब 'एकाशन' के समान है। केवल हाथ, पैर आदि के आकुचन-प्रसारण का आगार नहीं रहता। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में 'आउटणपसारणे' का उच्चारण नहीं किया जाता है।

६. आचाम्ल—आयंबिलप्रत्याख्यानसूत्र

आयंबिलं पञ्चकषामि, अन्नत्थडणाभोगेण, सहसागारेण, लेपलेपेण, उविष्टत्विवेगेण, गिहि-संसद्वेण, पारिष्ठावणियागारेण, महत्तरागारेण, सर्वसमाहित्तियागारेण बोक्षिरतमि।

भावार्थ—आयंबिल अथत् आचाम्ल तप ग्रहण करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, लेपलेप, उत्क्षिप्तविवेक, गृहस्थसंसृष्टि, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—उक्त आठ आकार अथत् अपवादों के अतिरिक्त अनाचाम्ल आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—आचाम्ल व्रत में दिन में एक बार रूक्ष, नीरस एवं विकृति-रहित आहार ही ग्रहण किया जाता है, दूध, दही, घी, तेल, गुड़, शक्कर, पक्काज आदि किसी भी प्रकार का स्वादुभोजन, आचाम्ल-व्रत में ग्रहण नहीं किया जा सकता। प्राचीन आचारग्रन्थों में चावल, उड्ढ अथवा सतू आदि में से किसी एक के द्वारा ही आचाम्ल करने का विधान है।

एकाशन और एकस्थान की अपेक्षा आयंबिल का महत्व अधिक है। एकाशन और एकस्थान में तो एक बार के भोजन में यथेच्छ सरस आहार भी ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु आयंबिल के एक बार के भोजन में तो केवल उबले हुए उड्ढ के बाकले आदि लवण रहित, नीरस आहार ही ग्रहण किया जाता है। भावार्थ यह है कि आचाम्ल तप में रसलोलुप्ता पर विजय प्राप्त करने का महान् आदर्श है। जिह्वेन्द्रिय का संयम, एक बहुत बड़ा संयम है।

आयंबिल भी साधक को इच्छानुसार चतुर्विधाहार एवं त्रिविधाहार किया जाता है। चतुर्विधाहार करना हो तो, 'चउष्विहं पि आहारं असणं, खाइमं, साइमं' बोलना चाहिए और त्रिविधि में पाण नहीं बोलना चाहिये।

आयं बिल में आठ आगार भाने गए हैं। आठ में से पांच आगार तो पूर्व प्रत्याख्यानों के समान ही हैं, तीन आगार इस प्रकार हैं—

१. लेपालेप—आचाम्लव्रत में ग्रहण न करने योग्य शाक तथा घृत आदि विकृति से यदि पात्र अथवा हाथ आदि लिप्त हो और दाता गृहस्थ यदि उसे पौँछकर उनके द्वारा आचाम्ल-योग्य भोजन बहराए तो ग्रहण कर लेने पर व्रत भंग नहीं होता है।

'लेपालेप' शब्द 'लेप' और 'अलेप' मिलकर बना है। लेप का अर्थ घृतादि से पहले लिप्त होना है। अलेप का अर्थ है बाद में उसको पौँछकर अनिप्त कर देना। पौँछ देने पर भी विकृति का कुछ अंश लिप्त रहता ही है। अतः आचाम्ल में लेपालेप का आगार रखा जाता है।

'लेपश्च अलेपश्च लेपालेपं तस्मादन्यप्र, भाजने विकृत्यादव्यवसद्भावेऽपि न-भङ्ग इत्यर्थः ।'
—प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

२. उत्क्षप्त-विवेक—शुष्क ओदन एवं रोटी आदि पर गुड़ तथा शक्कर आदि अद्रव—सूखी विकृति पहले से रखी हो, आचाम्लव्रतधारी मुनि को यदि कोई वह विकृति उठाकर रोटी आदि देना चाहे तो ग्रहण की जा सकती है। उत्क्षप्त का अर्थ उठाना है और विवेक का अर्थ है—हटाना—उठाने के बाद उसका न लगा रहना।

३. गृहस्थसंसृष्ट—घृत अथवा तैल आदि विकृति से छोके हुए कुल्माष आदि लेना गृहस्थ-संसृष्ट आगार है। उक्त आगार में यह ध्यान रखने की बात है कि यदि विकृति का अंश स्वल्प हो, तब तो व्रत भंग नहीं होता, परन्तु विकृति यदि अधिक मात्रा में हो तो वह ग्रहण कर लेने से व्रत भंग का निमित्त बनती है।

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि लेपालेप, उत्क्षप्त-विवेक, गृहस्थसंसृष्ट और पारिष्ठापनिकागार—ये चार आगार साधु के लिए ही हैं, गृहस्थ के लिए नहीं।

७. अभक्तार्थ—उपवाससूत्र

उग्रए सूरे, अभक्तदृढं पञ्चवक्षामि, चउष्णित्वं पि आहारं—ग्रसणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

अशत्यङ्गभोगेण, सहसागारेण पारिद्वावणियागारेण, महत्तरागारेण, सर्वसमाहिवत्तियागारेण वोसिरामि ।

भावार्थ—सूर्योदय से लेकर अभक्तार्थ—उपवास ग्रहण करता हूँ, फलतः ग्रसण, पाण, खाइम, स्वादिम, चारों ही प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—उक्त पांच आगारों के सिवाय सब प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

विवेकन—अभक्तार्थ—भक्त का अर्थ भोजन है। 'अर्थ' का अर्थ 'प्रयोजन' है। 'अ' का अर्थ 'नहीं' है। तीनों मिलाकर अर्थ होता है—भक्त का प्रयोजन नहीं है जिस व्रत में वह, अर्थात् उपवास । 'म विद्युते भक्तार्थो यस्मिन् प्रत्याख्याने सोऽभक्तार्थः स उपवासः ।' —आद्वप्रतिक्रमणवृत्ति, देवेन्द्रकृत

चउच्चिवहाहार और तिविहाहार के रूप में उपवास दो प्रकार का होता है। सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक आरों प्रकार के आहारों का त्याग करना 'चउच्चिवहाहार अभत्तदु' कहलाता है।

तिविहाहार अथत् त्रिविधाहार उपवास में पानी लिया जाता है। अतः जल सम्बन्धी छह आगार मूल पाठ में 'सञ्चसमाहिवत्तियागारेण' के आगे इस प्रकार बढ़ाकर बोलना चाहिये— 'पाषस्त्व लेवाडेण वा, अलेवाडेण वा, अच्छेण वा, बहुलेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा वोसिरामि ।'

उक्त छह आगारों का उल्लेख जिनदासमहत्तर, हरिभद्र और सिद्धसेन आदि प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने किया है। केवल उपवास में ही नहीं अन्य प्रत्यारुप्यान्तों में भी जहाँ त्रिविधाहार करना हो, सर्वत्र उपर्युक्त पाठ बोलने का विश्वान है। यद्यपि आचार्य जिनदास आदि ने इस का उल्लेख अभक्तार्थ के प्रसंग पर ही किया है।

उक्त जल सम्बन्धी आगारों का भावार्थ इस प्रकार है—

१. लेपकृत—दाल आदि का मौड तथा हमली, खजूर, द्राक्षा आदि का पानी। वह सब पानी जो पात्र में उपलेपकारक हो, लेपकृत कहलाता है। त्रिविधाहार में इस प्रकार का पानी ग्रहण किया जा सकता है।

२. अलेपकृत—छाढ़ आदि का निधरा हुआ और कौंजी आदि का पानी अलेपकृत कहलाता है। अलेपकृत पानी से वह धोवन लेना चाहिए, जिसका पात्र में लेप न लगता हो।

३. अच्छ—अच्छ का अर्थ स्वच्छ है। गर्म किया हुआ स्वच्छ पानी ही अच्छ शब्द से ग्राह्य है। हीं, प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति के रचयिता आचार्य सिद्धसेन उष्णोदकादि का कथन करते हैं। 'अपिच्छलात् उष्णोदकादेः ।' परन्तु आचार्यश्री ने स्पष्टीकरण नहीं किया कि 'आदि' शब्द से उष्ण जल के अतिरिक्त और कौन सा जल ग्राह्य है? संभव है फल आदि का स्वच्छ धोवन ग्राह्य हो। एक गुजराती अर्थकार ने ऐसा लिखा भी है।

४. बहुल—तिल, चावल और जौ आदि का चिकना मौड बहुल कहलाता है। बहुल के स्थान पर कुछ आचार्य बहुलेप शब्द का भी प्रयोग करते हैं।

५. ससिकथ—आटा आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदि का वह धोवन जिसमें सिक्थ अथत् आटे आदि के कण भी हों। इस प्रकार का जल त्रिविधाहार उपवास में लेने से व्रत भंग नहीं होता।

६. असिकथ—आटा आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदि का वह धोवन, जो छना हुआ हो, फलतः जिसमें आटे आदि के कण न हों।

पण्डित सुखलालजी का कहना है—प्रारम्भ से ही चउच्चिवहाहार उपवास करना हो तो 'पारिद्वावणियागारेण' बोलना चाहिए। यदि प्रारम्भ में त्रिविधाहार किया हो, परन्तु पानी न लेने के कारण सायंकाल के समय त्रिविहाहार से चउच्चिवहाहार उपवास करना हो तो 'पारिद्वावणियागारेण' नहीं बोलना चाहिए।

७. विवसच्चरिमसूत्रं

विवसच्चरिमं (भवचरिमं वा) पक्षक्षकामि चउच्चिहं पि आहारं—असण, पाण, खाइमं, साइमं। अस्त्वचामोगेण, सहसागारेण, महत्तरागारेण सञ्चसमाहिवत्तियागारेण धोसिरामि ।

आवार्थ—दिवसचरम का (अथवा भवचरम का) व्रत ग्रहण करता हूँ, फलतः अशन, पाण, खादिम और स्वादिम चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। अनाभोग, सहसागार, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार, उक्त चार आगारों के सिवाय आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—यह चरमप्रत्याष्ट्यानसूत्र है। 'चरम' का अर्थ 'अन्तिम' है। वह दो प्रकार का है—दिवस का अन्तिम भाग और भव अर्थात् आयु का अन्तिम भाग। सूर्य अस्त होने से पहले ही दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए चारों अथवा तीनों आहारों का त्याग करना। दिवसचरम-प्रत्याष्ट्यान है।

भवचरमप्रत्याष्ट्यान का अर्थ है जब साधक को यह निश्चय हो जाए कि आयु थोड़ी ही शेष है तो यावज्जीवन के लिए चारों या तीनों प्रकार के आहार का त्याग कर दे और संथारा ग्रहण करके संयम की आराधना करे। भवचरम का प्रत्याष्ट्यान जीवन भर की संयमसाधना सम्बन्धी सफलता का उज्ज्वल प्रतीक है।

'भवचरम' का प्रत्याष्ट्यान करना हो तो 'दिवसचरिम' के स्थान पर 'भवचरिम' बोलना चाहिए। शेष पाठ दिवसचरिम के समान ही है।

मुनि के लिए जीवनपर्यन्त त्रिविधं त्रिविधेन रात्रिभोजन का त्याग होता है। अतः उनको दिवसचरम के द्वारा शेष दिन के भोजन का त्याग होता है और रात्रिभोजनत्याग का अनुवादकर्त्त्वे न स्मरण हो जाता है। रात्रिभोजनत्यागी गृहस्थों के लिए भी यही बात है। जिनको रात्रि-भोजन का त्याग नहीं है, उनको दिवसचरम के द्वारा शेष दिन और रात्रि के लिए भोजन का त्याग हो जाता है।

९. अभिग्रहसूत्र

अभिग्रहं पञ्चक्षामि चउठिवहं पि आहारं असणं, पाणं, खादिमं, साहृमं ।

अन्नतथेऽणाभोगेण, सहसागारेण महत्तरागारेण, सर्वसमाहित्तियागारेण बोसिरामि ।

आवार्थ—मैं अभिग्रह का व्रत ग्रहण करता हूँ, अतएव अशन, पाण, खादिम, स्वादिम चारों ही प्रकार के आहार का (संकल्पित समय तक) त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार इन चार आगारों के सिवाय अभिग्रहपूर्ति तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—उपवास आदि के बाद अथवा विना उपवास आदि के भी अपने मन में निश्चित प्रतिज्ञा कर लेना कि अमुक बातों के मिलने पर ही पारणा अर्थात् आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा व्रत, बेला, आदि संकल्पित दिनों को अवधि तक आहार ग्रहण नहीं करूँगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा को 'अभिग्रह' कहते हैं।

अभिग्रह में जो बातें धारण करती हों, उन्हें मन में निश्चय कर लेने के बाद ही उपर्युक्त पाठ के द्वारा प्रत्याष्ट्यान करना चाहिये। अभिग्रह की प्रतिज्ञा कठिन होती है। धीर एवं बीर साधक ही अभिग्रह का पालन कर सकते हैं। जैन इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि एक साधु ने सिंह-केस-रिया मोदकों का अभिग्रह कर लिया था और वह अभिग्रह जब पूरा न हुआ तो पागल होकर रात-

दिन का विचार न रखकर पात्र लिए घूमने लगा। कल्पसूत्र की टीकाओं में उक्त उदाहरण आता है, अतः अभिग्रह करते समय अपनी शक्ति का विचार अवश्य कर लेना चाहिये।

१०. निविकृतिकसूत्र

निविकृतिकसूत्रं पञ्चक्षामि, अन्नत्यणाभोगेण, सहसागारेण, लेपालेपेण, गिहत्थसंसिट्डेण, उपिखत्तविवरेण, पञ्चुचन्नभिक्षाप्तेण, महत्तरगारेण सद्बससमाहित्तियागारेण, दोतिरामि।

भावार्थ—मैं विकृतियों का प्रत्याख्यान करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, गृहस्थ-संसृष्ट, उत्थिप्तविवेक, प्रतीत्यम्रक्षित, पारिष्ठापनिक, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार इन नी आगारों के सिवाय विकृति का परित्याग करता हूँ।

विवेषन—मन में विकार उत्पन्न करने वाले भोज्य पदार्थों को विकृति कहते हैं—

‘अनसो विकृतिहेतुरधाद् विकृतयः’—आचार्य हेमचन्द्र-कृत योगशास्त्रवृत्ति (तृतीय प्रकाश)।

विकृति में दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मधु आदि भोज्य पदार्थ सम्मिलित हैं।

भोजन का वास्तविक उद्देश्य है शरीर और साथ ही मन को सबलना। मन की सबलता से तात्पर्य है उसे शुद्ध अर्थात् दोष रहित रखना। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। कितु इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि मन के स्वस्थ न रहने पर भी काफी सीमा तक, जिसे हम केवल शारीरिक स्वस्थता कहते हैं, वह बनी रहती है। पर उससे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता बल्कि हानि ही होती है। अतः आवश्यक है कि शरीर को ऐसी शुद्ध खुराक दी जाए जिससे शरीर भी स्वस्थ रहे और मन भी तथा इन दोनों की शुद्धता से आत्मा उन्नत हो सके। इसलिए शास्त्रकारों ने बतलाया है कि भोजन में सात्त्विकता रखनी चाहिये। विकारजनक भोजन संयम को दूषित किए बिना नहीं रह सकता।

निविकृति के नी आगार हैं। आठ आगारों का वर्णन तो पहले के पाठों में यथास्थान आ चुका है। ‘प्रतीत्यम्रक्षित’ नामक आगार नया है। भोजन बनाते समय जिन रोटी आदि पर सिर्फ उंगली से घी आदि चुपड़ा गया हो ऐसी वस्तुओं को ग्रहण करना, प्रतीत्यम्रक्षित आगार कहलाता है। इस आगार का यह भाव है कि धृत आदि विकृति का त्याग करने वाला साधक धारा के रूप में धृत आदि नहीं खा सकता है। घी से अत्यल्प रूप में चुपड़ी हुई रोटियाँ खा सकता है।

‘प्रतीत्य सर्वथा रुक्षमण्डकादि, ईषत्सौकुभार्यं प्रतिपादनाय यदंगुल्या ईषद् धृतं गृहोत्था
म्रक्षितं तदा कल्पते, न तु धारया।’

—देवेन्द्र प्रतिक्रमणवृत्ति, तिलकाचार्य

११. प्रत्याख्यानपारणासूत्र

उगाए सूरे नमुक्कारसहित्यं पञ्चक्षाणं कर्यं। तं पञ्चक्षाणं सम्मं काएणं कासियं, पालियं, तोरियं, किट्रियं, सोहियं, आराहियं। जं च न आराहियं, तस्म मिच्छा मि बुक्कड़ं।

भावार्थ—सूर्योदय होने पर जो नमस्कार सहित या...प्रत्याख्यान किया था, वह प्रत्याख्यान (मन, वचन) शरीर के द्वारा सम्यक् रूप से स्पृष्ट, पालित, शोधित, तीर्ण, कीर्तित एवं आराधित किया और जो सम्यक् रूप से आराधित न किया हो, उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो।

विवेचन—यह प्रत्याख्यानपूर्ति का सूत्र है। कोई भी प्रत्याख्यान किया हो, उसकी समाप्ति प्रस्तुत सूत्र के द्वारा करनी चाहिये। ऊपर मूल पाठ में 'नमुक्कारसहिय' नमस्कारिका का सूचक सामान्य शब्द है। इसके स्थान में जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रखा हो, उसका नाम लेना चाहिये। जैसे कि पौरुषी ली हो तो 'पौरुषीपञ्चवद्वाणं क्य' ऐसा कहना चाहिये।

प्रत्याख्यान पालने के छह अंग हैं—

(१) **फासियं** (स्पृष्ट अथवा स्पशित) — गुरुदेव से या स्वयं विधिपूर्वक प्रत्याख्यान लेना।

(२) **पालियं** (पालित) — प्रत्याख्यान को बार-बार उपयोग में लाकर सावधानी के साथ उसकी सतत रक्षा करना।

(३) **सोहियं** (शोधित) — कोई दूषण लग जाए तो सहसा उसकी शुद्धि करना। अथवा 'सोहिय' का मंडकन रूप शोधित शी होता है। इस दशा में शर्ष होगा—

गुरुजनों को, साधियों को अथवा अतिथि जनों को भोजन देकर स्वयं भोजन करना।

(४) **तीरियं** (तीरित) — लिए हुए प्रत्याख्यान का समय पूरा हो जाने पर भी कुछ समय ठहरकर भोजन करना।

(५) **किट्रियं** (कीर्तित) — भोजन प्रारंभ करने से पहले लिए हुए प्रत्याख्यान को विचार कर उत्कीर्तन-पूर्वक कहना कि मैंने अमुक प्रत्याख्यान अमुक रूप से ग्रहण किया था, वह भली-भांति पूर्ण हो गया है।

(६) **आराहियं** (आराधित)^१ — सब दोषों से सर्वथा दूर रहते हुए ऊपर कही हुई विधि के अनुसार प्रत्याख्यान को आराधना करना।



१. आचार्य जिनदाम ने 'आराधित' के स्थान पर 'अनुपालित' कहा है। अनुपालित का अर्थ किया है तीर्थकर देव के वज्रों का बार-बार स्परण करते हुए प्रत्याख्यान का पालन करना। 'अनुपालित' नाम अनुसृत्य अनुसृत्य तीर्थकरवचनं प्रत्याख्यानं पालिथत्वं। —शावश्वकचूषि

आटशयक की तिथि

जीव-जन्मुरहित निरवद्य स्थान का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करके आसन बिछावे । फिर उस पर खड़े होकर शासनपति भगवान् महावीर स्वामी को एवं अपने वर्तमान गुरु महाराज को 'तिक्खुत्तो' के पाठ से तीन बार वंदना करके चौबीसस्तव की आज्ञा लेकर चौबीसस्तव करे । चौबीसस्तव में 'इच्छाकारेण' और 'तस्स उत्तरी' के पाठ कहकर काउस्सग करे । काउस्सग में दो 'लोगस्स' का ध्यान करे । 'नमो अरिहंताण' कह कर 'काउस्सग' पारे । 'काउस्सग' में मन, वचन, काया चलित हुए हों तो, आर्तध्यान, रीढध्यान ध्याया हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कड' बोलकर एक 'लोगस्स' प्रकट रूप में बोले । फिर तीचे बैठकर बायाँ घुटना खड़ा रखकर 'नमोत्थुण' का पाठ दो बार बोले । फिर प्रतिक्रमण करने की आज्ञा ऐ । 'इच्छामि य भर्ते' एक नवकार कहकर पहले आवश्यक की आज्ञा ले ।

पहले आवश्यक में करेमि भंते, इच्छामि ठामि तथा तस्स उत्तरी की पाटी बोलकर काउस्सग करे । काउस्सग में आगमे तिविहे, दंसण-समकित, अतिचार की पाटियाँ (पांच समिति, तीन गुप्ति, छः काय, पांच महाब्रत, छठा रात्रिभोजनत्याग व्रत) छोटी संलेखणा, अठारह पापस्थान, इच्छामि ठामि और एक नवकार मंत्र का मन में चितन करे । सब पाटियों में 'मिच्छामि दुक्कड' के बदले 'तस्स आलोऊ' कहे, 'नमो अरिहंताण' कहकर काउस्सग पारे । चार ध्यान का पाठ बोल कर पहला आवश्यक समाप्त करे । फिर दूसरे आवश्यक की आज्ञा ले ।

दूसरे आवश्यक में एक लोगस्स प्रकट कहे । फिर तीसरे आवश्यक की आज्ञा ले ।

तीसरे आवश्यक में 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ दो बार बोले । जहाँ 'निसोहियाए' शब्द आवे वहाँ दोनों घुटनों को खड़े कर के दोनों हाथ जोड़ कर बैठे और जब 'तित्तीसश्वराए' शब्द आवे तब खड़े होकर पाठ समाप्त करे । इसी तरह दूसरी बार 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ बोले । फिर चौथे आवश्यक की आज्ञा लेवे ।

चौथे आवश्यक में खड़े होकर आगमे तिविहे, दंसण समकित, अतिचार की पाटियाँ, छोटी संलेखना, अठारह पापस्थान, इच्छामि ठामि—जिनका काउस्सग में चितन किया था, उन्हें यहाँ प्रकट कहे । सभी पाटियों में 'मिच्छा मि दुक्कड' कहे । फिर 'तस्स सब्बस्स' का पाठ कहे । फिर 'अमणसूत्र' को आज्ञा लेकर दाहिना घुटना खड़ा करके बैठे, तदनन्तर एक नवकार, करेमि भंते, चत्तारि मंगल, इच्छामि ठामि, इच्छाकारेण, आगमे तिविहे, दंसण समकित, कहे । बाद में निद्रादोष-तिवृत्ति (पगामसिज्जाए) का, भिक्षादोष-निवृत्ति (गोदरगच्छरियाए) का, स्वाध्याय तथा प्रतिलेखन (चउकालसिज्जाए) का और तेतीस बोल का पाठ कहे । पश्चात् दोनों घुटने खड़े कर, दोनों हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर निर्गंथप्रवचन (नमो चउबीसाए) का पाठ कहे । जहाँ 'अब्मुट्टिओमि' शब्द हो वहाँ खड़ा होकर सर्व पाठ कहना चाहिए । फिर पालथी लगाकर बैठे और बड़ी संलेखना,

अठारह पापस्थान कहे, फिर खड़े होकर 'तस्स धम्मस्स' का पाठ कह कर पूर्ववत् दी बार 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ कहे। फिर दोनों घुटने नमा कर, घुटनों के ऊपर दोनों हाथ जोड़ कर भस्तक को नीचा नमा कर, एक नवकार मन्त्र कहकर, पांच पदों की बैदन्ता कहे। फिर नीचे बैठकर अनन्त चौबीस, आयरिउ वज्राए ढाई द्वीप, चौरासी लाख जीवयोनि, कुल कोडी का पाठ, खामेमि सब्बे जीवा, अठारह पापस्थानक कहे। फिर पांचवें आवश्यक की आज्ञा ले।

पांचवें आवश्यक में प्रायशिच्चत का पाठ, एक नवकार, करेमि भते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी की पाटी बोलकर काउस्सग में लोगस्स का ध्यान करे (देवसिय-राइसिय प्रतिक्रमण में चार, पक्खी प्रतिक्रमण में आठ, चौमासी प्रतिक्रमण में बारह और सांबत्सरिक प्रतिक्रमण में चौस लोगलज्जा का काउस्सग करता जातिये)। 'दत्तो शमिहंताण' कह कर काउस्सग पारे। फिर एक लोगस्स प्रकट कह कर दो बार 'इच्छामि खमासमणो' बोले। फिर छठे आवश्यक की आज्ञा ले।

छठे आवश्यक में खड़े होकर साधुजी महाराज से अपनी शक्ति प्रतुसार पञ्चकञ्चाण ग्रहण करे। यदि साधुजी महाराज न हों, तो ज्येष्ठ श्रावक से पञ्चकञ्चाण ग्रहण करे। यदि वे भी नहीं हों, तो स्वयमेव दश प्रत्यारूपानों में से यथाशक्ति स्वीकार करे। फिर दो नमोत्थुर्ण का पाठ पढ़ कर उत्तर तथा पूर्व दिशा में मुख कर सीमन्धर स्वामी, महाबीर स्वामी तथा मुनिराजों को बन्दना करे। बाद में सभी को अन्तःकरण से खमावे तथा चौबीसी आदि स्तवन बोले।



अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रबर श्री आत्मारामजी म० हारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वशोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्षिते असज्जाए पण्णते, तं जहा—उवकावाते, दिसिदाधे, गजिज्जते, विज्जुते, निग्धाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूभिता, महिता, रयउरघाते ।

दसविहे ओरालिते असज्जातिते, तं जहा—अट्ठी, मंस, सोणिते, असुतिसामते, सुसाणसामते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायबुग्हे, उवस्सयस्स अंती ओरालिए सरीरगे ।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

तो कप्पति निगंथाण वा, निगंथीण वा चउहि महापाडिवएहि सज्जायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तशपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। तो कप्पइ निगंथाण वा निगंथीण वा, चउहि संभाहि सज्जायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते मज्जभण्हे, अङ्गठरत्ते। कप्पइ निगंथाणं वा निगंथीण वा, चाउककालं सज्जायं करेत्तए, तं जहा—पुच्चण्हे अवरण्हे, पश्चोसे, पच्चूसे ।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देशक २

उपर्युक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस ओदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा को पूणिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं, जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात्तारापत्तम—यदि महत् तारापत्तन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिव्वाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. गर्जित—बादलों के गर्जन पर दो प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. विद्युत—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत का अस्वाध्याय चातुर्भासि में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत् प्रायः श्रुतु-स्वभाव से ही होता है। अतः आद्री से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्धाति—विना बादल के आकाश में व्यत्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बदलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्लपक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में विजली चमकने जैसा, थोड़े-थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका-कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गभमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाइवेत—श्रीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज-उद्धात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

ओदारिकशरीर सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हृषी, मास और रुधिर—पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सी हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि-- मल-भूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. इमशान—इमशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रप्रहण—चन्द्रप्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यप्रहण—सूर्यप्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. एतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ़ न हो, तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजम्युद्ग्रह—समीपस्थि राजाओं में परस्पर मुद्द होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. शौदारिक शरीर—उपाध्य के भीतर पञ्चेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण शौदारिकशरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—प्राषाढ़-पूर्णिमा, अश्विन-पूर्णिमा, कांतिक-पूर्णिमा और चंत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

